8
46
1964-65

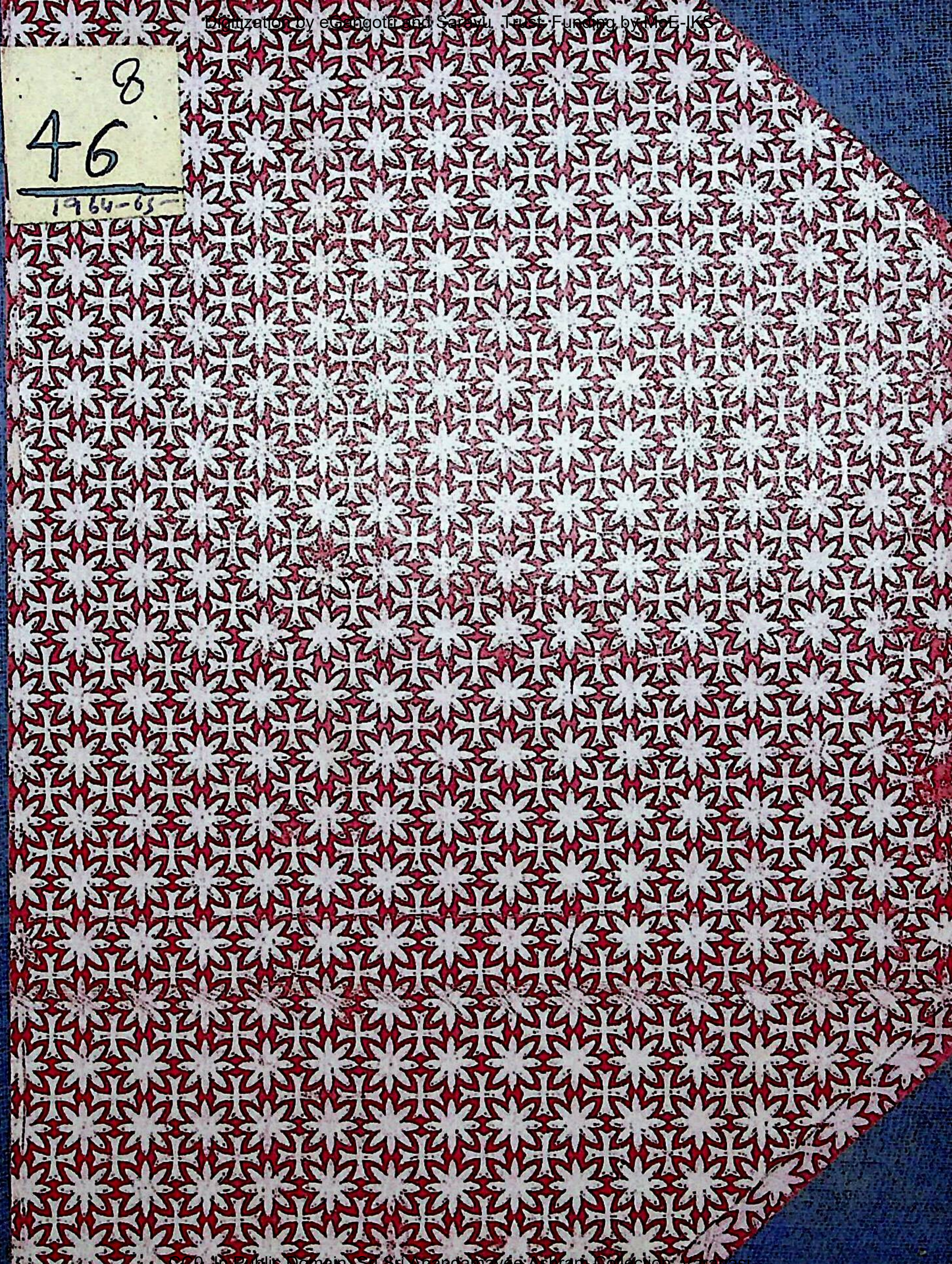

Ananda Varta

HINDI & ENGLISH

LIBRARY
No. ....
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS

श्री श्री आनन्दमयी संघ
ॐ मा
मातृ शरणं

Vol. XII May, 1964 No. 1

MATRI VANI

REVISED AND ENLARGED EDITION.

This small book contains a rare selection from the sayings of Mata Anandamayee, pearls of wisdom that were uttered in reply to letters from various people at different times.

They come from a great depth far beyond the dividing barriers of sect and creed and have a universal appeal to all human beings. They are sure to bring solace to the afflicted and sorrow-stricken and throw light on the razor's edge path of the seeker after Truth.

The revised and enlarged edition has been printed in very good paper with two new pictures of Mataji. Special care has been taken to make the binding and cover also more decent.

Price : Cheap edition—Rs. 1.50
Board bound—Rs. 2.50

Publishers : Shree Shree Anandamayee Sangha
Bhadaini, Varanasi.

URGENT NOTICE.

All the subscribers of "Ananda Varta" are requested to note that as a result of constant rise in the cost of paper, block making and printing charges, as well as in the postal rates, we are constrained to enhance our rates of subscription from the beginning of Volume XII (May, 1964 issue).

Inspite of difficulties in procuring good quality of papers at reasonable rates, it has been our constant endeavour to maintain, even at a loss, the existing size and quality of the magazine. We, therefore, sincerely believe that our generous subscribers will not at all mind the nominal increase in its price.

Necessary adjustments in the Subscription Ledgers will be shortly made by us. Inland subscribers, who have already paid their subscriptions in advance, are requested to remit Re. 1/- extra at their earliest convenience.

K. Bose.
March 31, 1964.
Managing Editor,
"ANANDA VARTA"

Revised Rates of Annual Subscription :

Inland —Rs. 6.00 (Postage free).
Foreign —Rs. 7.50 or £. 0–15–0 or $. 2.00.
Air Mail—Rs. 17.50 or £. 1–10–0 or $. 4.50.

Ānanda Vārtā

A quarterly journal dealing mainly with the divine life and
teaching of Shree Shree Ma Anandamayee and with other
religio-philosophical topics

*

BOARD OF EDITORS

Mahamahopadhyaya Sri Gopinath Kaviraj, M. A., D. Litt.
Kumari Lalita Pathak, M. A.
Kumari Padma Misra, M. A., Acharya.
Kumari Bithika Mukerji, M. A., D. Phil.
Brahmacharini Atmananda.
Sri Sailesh Brahmachari.
Sri Amulya Kumar Dutta Gupta, M. A., B. L.
Sri K. Bose—*Managing Editor.*

*

Annual subscription (postage free) India—Rs. 6/- only
Foreign—(By Sea Mail) Rs 7 50 or 15 shillings or $ 2·00
(By Air-mail)—Rs. 17·50 or £ 1-10-0 or $ 4·50.

ĀNANDA VĀRTĀ

GENERAL RULES

1. The magazine is published in three separate editions—(1) Hindi-English (2) Bengali-English (3) English—in the first weeks of May, August, November and February. The year begins from May.

2. Subscriptions are always payable in advance. Foreign subscriptions may be sent either by International Money orders or Postal orders.

3. Subscriptions to be sent to :—

The General Secretary, Shree Shree Anandamayee Sangha,
Bhadaini, Varanasi, (U. P.)

4. All correspondence regarding 'Ananda Varta' should mention without fail the subscription number and be addressed to :—

The Managing Editor, "Ananda Varta", Shree Shree Ma
Anandamayee Ashram, Bhadaini, Varanasi, (U. P.)

5. Complaints about non-receipt of the magazine should be sent *by the second week of the month of publication.*

6. Any change of address should be intimated to the Managing Editor at the earliest possible opportunity.

7. Subscribers are requested not to dishonour any issue of the magazine sent by V. P. P., as this entails a loss to the Ashram fund. They may kindly inform us *beforehand* if they desire to discontinue subscribing to the magazine.

Published by Shri K. Bose, for
Shree Shree Anandamayee Sangha, Varanasi.
Printed at the Indian Press (Pte.) Ltd., Varanasi-Branch, VARANASI.

CONTENTS

Hindi Section

1. मातृ-वाणी 1
2. त्रयोदश संयम महाव्रत—सत्संगी 2
3. क्या मृत्यु के बाद व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है?—डॉ० बी० एल० आत्रेय एम० ए०, डी० लिट०, पद्मभूषण, दर्शनाचार्य 14
4. श्रीश्री माँ आनन्दमयी-प्रसंग—श्री अमूल्यकुमार गुप्त, एम० ए०, बी० एल० 20
5. कैलास-मानसरोवर-प्रदक्षिणा—श्री 'दत्त' ... 27
6. योगसाधना में अभ्यास तथा वैराग—डॉ० शान्तिप्रकाश आत्रेय, एम० ए०, पी० एच० डी० 36
7. पुरातन स्मृति—स्वामी नारायणानन्द तीर्थ ... 47

CONTENTS

English Section

1. Matri Vani ... 1
2. Pages from my Diary—Gurupriya Devi 3
3. A Life in Zen—Takashi Hirata ... 12
4. Birthday Celebrations at Almora—Kali Prasad 21
5. The Mother's Call—Prof. Batuk Nath Shastri M.A. 24
6. Modern Science and Indian Philosophy—Dr. B. L. Atreya M. A. D, Litt. 31
7. Old Diary Leaves—Atmananda ... 42
8. Matri Lila ... 46

LIBRARY
No.
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANAR..

Ānanda Vārtā

"अमर आत्मा—अमर पन्थी स्वयम्—अपनेमें आप।"

VOL. XII] MAY, 1964 [NO. 1

—मातृ-वाणी—

"परम पथ का यात्री होकर चलना अच्छा नहीं है क्या ? महापथ में चलना ही तो चाहिए। परम पद, परम पथ का प्रकाश जहाँ है।"

× × × ×

"सभी के भीतर उन्हीं का हाथ ही तो है। वे स्वयं, उन्हें स्मरण रखना ही केवल हमारा कर्तव्य है। मैं मेरा भाव जब तक है तब तक ही संसार में दुःख और अभाव है।"

× × × ×

"किस रूप में किसके निकट वे प्रकट होंगे उसे वे ही जानते हैं। इच्छामय महान् गति से किस पथ में किसे अपने पास खींचते हैं वह मनुष्य की बुद्धि के परे हैं। पथ में यात्रियों के तो अनेक पथ हैं। प्रायः विपथ से ही वे विपद का नाश करते हैं, दुःख देकर दुःख हर लेते हैं। इस ओर चलना सभी के अपने पथ में। अपना पथ माने अपने को पाने की दिशा है। जहाँ परम चरम स्वयं पद है।"

× × × ×

"महामानव की ओर लक्ष्य होना ही मनुष्य को चाहिए—जो महान् है। परम पथ में यात्री परम पद प्राप्ति की आशा से। मनुष्य का यही प्रधान कर्तव्य है।"

× × × ×

"पारमार्थिक क्रिया से जन्मजन्मान्तर के मलिन भाव कर्म आदि जिसके जो कुछ संचित हैं, उन्हें धो-पोंछकर सहज स्वरूप प्रदीप की तरह अपने में निज का जो कुछ अन्तर्निहित है, उनके निवारण उद्घाटन ही तो लक्ष्य है—उन्हीं की सेवा करना। सेवा क्या है ? मन को पवित्र रखती हो जो क्रिया—वही क्रिया।"

× × × ×

"आहार, निद्रा, चलना-फिरना, बैठना सभी ओर से अपने को बाँध डालना मुक्ति के लिए, इसे स्मरण रखना। और जो कुछ अनुष्ठान हैं श्रद्धा के साथ आदर से करना है। अनाहत भाव से कोई क्रिया न हो। अनुष्ठान रूप से वे स्वयं ही हैं। ताप देकर वे ताप को नष्ट करते हैं। धैर्य तितिक्षा सहिष्णुता में जो कष्ट है, कष्ट हरण करने के लिए ही कष्टहारी का यह रूप है।"

—

त्रयोदश संयम महाव्रत

सत्सङ्गी

राजस्थान का एक छोटा शहर पिलानी—विख्यात धनी व्यवसायी श्रीयुगलकिशोरजी बिरला की जन्मभूमि है।

श्री बिरलाजी के अपनी जन्मभूमि में एक संयम महाव्रत के उद्यापन के लिए विशेष आग्रह और प्रार्थना करने से पिलानी में हमारा त्रयोदश संयम महाव्रत अनुष्ठित हुआ था।

गत ५ नवम्बर से वह उत्सव माँ के सामने आरंभ हुआ और ११ नवम्बर कार्तिक पूर्णिमा के दिन उस उत्सव की समाप्ति हुई।

महाभारत के युग में कार्तिक पूर्णिमा को विराट् राज की राजधानी उपप्लव्य से भगवान श्रीकृष्ण पांडवों के शांति दूत होकर हस्तिनापुर गये थे। महाभारत के उद्योगपर्व में कहा गया है—

कौमुदे मासि रेवत्यां शरदन्ते हिमागमे।
स्फीतशस्यसुखे काले कल्यः सत्त्ववतांवरः॥

महा० उद्० पर्व, ८३ अध्याय, ७ श्लोक

हिमागमे रेवती नक्षत्र कार्तिक पूर्णिमा के दिन भगवान उपप्लव्य नगर से हस्तिनापुर के लिए चल पड़े। विराट् राजा की राजधानी का उपप्लव्य नाम से महाभारत के अनेक स्थानों में उल्लेख है। वंकिमचन्द्र चटर्जी ने भी अपने विख्यात 'कृष्णचरित' ग्रन्थ में उपप्लव्य नगर का विशेष रूप से उल्लेख किया है (कृष्णचरित्र, १०६ पृष्ठ)।

भौगोलिकों के मत से वर्तमान जयपुर, अलवर और भरतपुर राजस्थान के इस अंश को लेकर प्राचीन विराटराज्य अवस्थित था। किसी-किसी पंडित के मत से पिलानी नाम उपप्लव्य नाम का ही अपभ्रंश है।

छल-कपटपूर्ण अक्षक्रीडा में पराजित होकर पाण्डव लोग १२ वर्ष वनवास और १ वर्ष अज्ञात वास में छिपे रहे। विराट राजा के आश्रय में उनका एक साल अज्ञात वास की कठोरता केवल त्याग और तपस्या से ही परिपूर्ण नहीं थी, बल्कि धैर्य, सहिष्णुता और अद्भुत कृच्छ्र तपस्या से भी वह चरितार्थ थी। 'यतो धर्मस्ततो जय:'—धर्म और संयम की निश्चित विजय को पांडव लोग ही पहले वास्तविक जीवन अनुशीलन करके जगद्वासी को सत्य और धर्म के पथ पर चलने के लिए अनुप्राणित कर गये हैं।

महाभारत के युग में पाण्डवों की अवस्थिति काल में भगवान् श्रीकृष्ण के चरण-स्पर्श से उपप्लव्य या पिलानी नगर धन्य हुआ था। उस पूर्व सौभाग्य की स्मृति का सौरभ लेकर पिलानी मानो किसके लिए प्रतीक्षा कर रही है। उसका सूखा, नीरस-प्रान्तर और धूसर मलिन आकाश देखकर लगता है मानो वह तपस्विनी है। शबरी की दीर्घ प्रतीक्षा और अहल्या की गंभीर नीरवता लेकर भगवान के अमल चरणयुगल पुन: वक्षस्थल पर धारण करने के लिए ही मानो वह योगासीन हैं। त्रयोदश वर्ष कठोर वनवास और दु:सह अज्ञात वास रूप व्रत का अनुष्ठान करके पाण्डवों की प्रकाश भूमि ही हमारे त्रयोदश संयम महाव्रत की निर्दिष्ट तपोभूमि है। 'शुद्धा सनातनी पुण्यविस्तारिणी' श्री श्री माँ के अमल पाद-स्पर्श से आज पुण्यवती है।

धर्म और संयम को अनुष्टुप् छन्द में प्रकाशित करके महाभारत ने एक दिन जगद्वासी को अमृत और शांति का संधान दिया था। हजारों वर्षों के अनन्तर भारत के दुर्बल हृत्पिण्ड को नये ढंग से स्पंदित करने के लिए ही क्या यहाँ मातृ-सान्निध्य में इस महाव्रत का अनुष्ठान हो रहा है? संयम के सत्य माहात्म्य को 'मनुष्य का धर्म' कहकर महाभारत के लेखक विशालबुद्धि व्यासदेव ने संसार के सामने घोषणा की थी। सत्य ब्रह्मचर्य अहिंसा के व्रत को ही मनुष्य के यथार्थ धर्मरूप से घोषणा करने के लिए ही तो यह महाव्रत है। स्थान, काल, तिथि, नक्षत्रके समावेशसे भगवान् के शांतिदूत बनकर उपप्लव्य से हस्तिनापुर यात्रा का दिन ही हमारे महाव्रत की समाप्ति का दिन हैं। अतीत अक्षय पुण्य स्मृति की मानो एक अपूर्व पुनरावृत्ति है।

माँ तो कहती हैं—"अपने को जानना और अपने को पाने की चेष्टा ही यथार्थ साधन, अर्थात् स्वाधन स्वयम् धन है। साधक, तपस्वी और महायोगी रूप से विकसित होने के लिए ही संयमित जीवन है।"

शुकताल में द्वादश महाव्रत के अनुष्ठान के अनन्तर भक्त व्रती लोग साग्रह चित्त से एक वर्ष तक प्रतीक्षा करते रहे। इस महाव्रत में अखंड सत्संग, अपूर्व ब्रह्म नाम कीर्तन, महात्माओं के मधुर परमार्थ भाषण, सबसे ऊपर माता के निकट दो घण्टे तक निर्मज्ज ध्यान—इस महाव्रत का समूचा अंश ही मानो स्निग्ध माधुर्य से महाव्रत का सब कुछ हो सदा विकीर्ण एक उज्ज्वल पवित्र रश्मि है। उपवास की कृच्छ्रता के लिए ही यह व्याकुलता सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य की चरम सफलता लाभ के लिए यह जो महान् प्रचेष्टा और ध्यान-मग्न होकर परमार्थ सुधा पान में समवेत व्रतियों की यह गम्भीर तन्मयता यथार्थ में ही अनवद्य है।

जीवन-प्रकृति के इस रूपान्तर के लिए मानवों की प्रधान और मूल धर्म-नीतियों को संयम महाव्रत रूप से ग्रहण करने के कारण कठोरता आई है। कल्याण और संयम के अनुष्ठान के साथ मातृ-मंगल आशीर्वाद और करुणा ने मिलित होकर मनुष्य के साधक तपस्वी महायोगी रूप से विकास के मार्ग को सरल और सुगम कर दिया है। इस कारण माँ ने इस महाव्रत के सम्बन्ध में कहा है—"गुरुकृपा, तपस्या, तीव्र साधना से निज धन लाभ, आत्मज्ञान में प्रतिष्ठा—जहाँ मृत्यु की मृत्यु हो जाती है।"

इस महाव्रत के उपलक्ष्य में माँ भी आग्रहायण के हिमागम के समय शुक्ला सप्तमी तिथि (३ नवम्बर १९६२ ई०) में शीत की रात्रि को पिलानी आ पहुँची हैं। स्थानीय व्यवस्थापक मण्डली के सभ्यों ने अत्यन्त हार्दिकता के साथ माँ को लाकर विरलाजी की 'विश्राम वाटिका' नामक सुरम्य उद्यान-वाटिका में टिका दिया। इस प्रासाद-भवन में माँ, गिरि महाराज तथा अन्यान्य मातृ-सेविकायें तथा भक्त लोग एक सप्ताह काल तक अवस्थान करते रहे। साधु महात्माओं की सेवा तथा अभ्यर्थना के लिए श्री विरलाजी ने बहुत ही प्रशंसनीय प्रबन्ध किया था।

इस परिवार की साधु-सेवा, अतिथि-सत्कार, धर्म कार्य में मुक्तहस्त से दान

भारत की सर्व जन-विदित घटना है। यहाँ उसका पुनरुल्लेख निष्प्रयोजनीय है। इस शहर में अनेक भवन, अतिथिशालायें, धर्मशालायें, देवालय, स्कूल, कालेज, बोर्डिङ्ग इनके अपने रहने से व्रतियों, महात्माओं तथा अन्यान्य सत्संगियों को किसी प्रकार की असुविधा नहीं हुई। एक अपूर्व आनन्द परिवेश में स्थानीय शिक्षालय के विशाल सभा कक्ष में इस महाव्रत का अनुष्ठान अति सुन्दर रूप से सम्पन्न हुआ।

४ नवम्बर—स्थानीय सरस्वती मंन्दिर विरलाजी की एक अपूर्व कीर्ति है। अधिकारी लोग माँ तथा भक्तों को यह मंदिर दिखा लाये।

५ नवंबर—आज महाव्रत का प्रथम दिन है। वेदपाठ के अन्त में धूप के धूम से आमोदित मंडप में माँ थोड़ा पहले ही आकर बैठ गईं। माँ के बाईं ओर गिरि महाराज, उनके बगल में हमारे आश्रम के दण्डी स्वामी श्री १०८ नारायणानन्द तीर्थ बैठे थे। पीछे आश्रम के संन्यासी वृन्द उपविष्ट थे। माँ के सामने मंच के नीचे हमारी व्रती ब्रह्मचारिणियाँ और उनके पीछे व्रती महिलायें थीं। माँ के दाहिनी ओर मंच के ऊपर पूज्य महात्माओं का स्थान। उनके सामने नीचे आश्रम के साधु-ब्रह्मचारी तथा पीछे अन्यान्य व्रती भक्त लोग विराजमान थे। माँ सभा-मंच पर उत्तरायण होकर बैठी थीं। बहुवांच्छित वस्तु प्राप्त होने से प्रसन्नचित्त व्रती भक्त लोग निमीलित नयनों और विगलित चित्त से मातृ चरणों में हृदय की श्रद्धा निवेदित करने लगे। शंखध्वनि के साथ ध्यान आरम्भ होते ही माँ भी भक्तों के भाव और प्रेम के द्वारा आर्द्र होकर—

'धृतसहजसमाधिं बिभ्रतीं हेमकान्तिम्
नयनसरसिजाभ्यां स्नेहराशीन् किरन्तीम्।।

आदि स्तोत्र गाने लगीं। बहुजन-वल्लभा के चरण-प्रान्त में बैठकर विगलितान्तःकरण बहुव्रतियों का स्थिर योगासनों पर बैठे निर्मल चित्र केवल ध्यान में ही अनुभव योग्य है। ७ दिनों तक प्रातः ८ से ६ और अपराह्न ३ से ४ के बीच में ध्यान परिवेश के इस आनन्द का जिन्होंने अनुभव किया है, उन्हीं का अन्तरात्मा —'बँध गया है, बन्दी हुआ है, अतल आनन्द के गर्भ में डूब गया है।' इस समय भारत-पूज्य महात्माओं के मधुर परमार्थ भाषण उपदेश और सबसे ऊपर प्रश्नोत्तर

के माध्यम से माँ के श्रीमुख की वाणी 'घड़ों से उड़ेली हुई सुधाराशि' का आकंठ पान करके व्रती लोग परम परितृप्ति प्राप्त करते हैं। परम शांति, अभय आनन्द के मूल केन्द्र रूप इस वाणी को अपनी अन्तरात्मा का आभूषण बनाकर कौन नहीं रखना चाहता ?

७ दिनों तक के इस अनुष्ठान में माँ तथा महात्माओं की वाणी का सारांश लेकर यह निबन्ध रचित हुआ है। इसमें कोई भ्रम प्रमाद हो गया हो तो माँ के चरणों तथा महात्माओं के पद कमलों में क्षमा माँगता हूँ।

प्रथम दिन के प्रातःकालीन भाषणों में श्री १०८ अवधूतजी का भाषण विशेष रूप से उल्लेख योग्य है। उनके भाषण का सार-मर्म इस प्रकार है—मातृ-कृपा लाभ के लिए भक्तों ने इस उत्सव में योगदान किया है। परमात्मा स्वयम् प्रकाशमान होने पर भी आवरण-शक्ति के लिए सहसा अनुभव-गम्य नहीं होते। इस आवरण-विक्षेप को दूर करने के लिए वेदांत ने श्रवण, मनन और निदिध्यासन की बात बताई है। इसके लिए मन के निरोध की नितांत आवश्यकता है। बिना संयम के मन का निरोध होना संभव नहीं है। इस कारण सर्वज्ञ-चूड़ामणि माँ के अनुमोदन से इस संयम महाव्रत की व्यवस्था हुई है। आत्मतत्त्व प्रकाश के लिए ही संयम है। भक्त साधक कृपाप्रार्थी होकर संयम अनुष्ठान आरंभ करे तो माँ की कृपा से अवश्य ही सफल-काम होंगे।

अपराह्न के ध्यानान्त में शिव-पुराण का पाठ होता है। शिवपुराण के माहात्म्य-वर्णन के अनन्तर पुनः महात्माओं के भाषण होते हैं। अपराह्न के भाषणों में श्री १०८ स्वामी गणेशानंद जी का भाषण सुनकर सभी लोग विशेष आनंदित हुए। उन्होंने कहा—"साधन-भजन का समस्त रहस्य ही संयम में निहित है। हमारा मन दुष्ट अश्व की तरह है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥

जीवात्मा रथ-स्वामी और शरीर को रथ जानना, बुद्धि को रथचालक सारथि और मन को लगाम समझना। इन्द्रियाँ घोड़े हैं। दुष्ट घोड़े की तरह कठोरता के

द्वारा मन और इन्द्रियों को दमन करना होता है। इस जगत के अधिष्ठान के मूल कारण को न जानने पर 'महती विनष्टिः' ? आत्मज्ञान लाभ के लिए ही यह संयम महाव्रत है। बहुजन्मों की तपस्या और पुण्य के फलस्वरूप आप लोग इन महात्माओं के सान्निध्य में संयम महाव्रत में सम्मिलित होने में समर्थ हुए हैं।

रात के मौन के अंत में मातृसत्संग आरम्भ हुआ। एक उत्तराकाशी के महात्मा ने माँ से पूछा—"भक्ति और ज्ञान का साधन जब एक ही है, तो उनके फल में भेद क्यों होता है ?"

माँ—जहाँ साधन एक है, वहाँ फल भी एक ही है। प्रश्नकर्ता यदि साधन को एक मान लेता है तो फल को भी एक ही मान लेना होगा। जहाँ साधन भिन्न हैं, वहाँ फलप्राप्ति भी विभिन्न हैं। मूल में तो एक ही है। माँ ने उस महात्मा से पूछा—"साधन से भगवान मिलते हैं क्या ?"

उत्तर में महात्मा ने कहा—"सगुण भगवान साधन से मिल जाते हैं।"

माँ—तो भगवान कर्माधीन हुए। तुमने तो कहा—सगुण भगवान साधना के द्वारा मिलते हैं, परन्तु कोई कोई कहते हैं कि हमारी साधना से भगवान नहीं मिलते। भगवान मिलते हैं, उनकी दया या कृपा से। वह स्वयं प्रकाश हैं, कर्माधीन कभी नहीं ?

प्रश्न—स्वप्न में कृत पाप पुण्य का भोग करना पड़ता है या नहीं ?

माँ ने इस प्रश्न को मीमांसा के लिए उपस्थित महात्माओं के ऊपर छोड़ दिया। उनमें किसी ने कहा—स्वप्न मिथ्या है, उसकी क्रिया भी मिथ्या है। अतः स्वप्न के पाप-पुण्य कुछ भी नहीं है। किसी ने बताया—सुप्त अवस्था जीव की अज्ञानावस्था है। उस समय के कार्य से जीव को पाप नहीं होता। किसी ने कहा—स्वप्न के पाप की प्रायश्चित्त-विधि है। पाप-बोध रहने से निश्चय पाप होगा। इस कारण स्वप्नकृत पाप भोग से मुक्ति पाने के लिए प्रायश्चित्त करना आवश्यक है।

माँ—एक बात है, आग में हाथ देने से हाथ जल जाता है। जहर खाने से आदमी मर ही जाता है। तो सांसारिक ज्ञान अज्ञान जहाँ है वहाँ इन दो प्रकार के भावों का पाप भी है। जानबूझकर पाप करना और न जानकर पाप कर्म करना।

स्वप्न को कोई-कोई अलीक मिथ्या कहते हैं। जगत् मिथ्या है, इस कारण स्वप्न भी मिथ्या ही है। स्वप्न मनोराज्य से आता है। मन के द्वारा माना जाता है इसलिए वह 'मन-माना' है। वासना—कामना से ही इस संसार के जन्म और मृत्यु हैं। मनुष्य शांति चाहता है, किन्तु परम शांति ज्ञान में है। जब तक मनोराज्य में जीव रहता है, तब तक ही उसे सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं। एक ही क्रिया से दो व्यक्तियों को दो प्रकार की फल-प्राप्ति दिखाई पड़ती है। इस जीव जगत में मनुष्य का जन्म देह लेकर होता है। देह मानो 'दो, दो'। अपने को प्राप्त करने लिए या अपने को जानने के लिए ज्ञान भक्ति क्रिया योग। किसी ने कह दिया—भगवान नहीं हैं, कोई कहता है भगवान बहुत दूर हैं। कहना और न कहना अपेक्षित है। जो दूर कहता है उसकी दुर्बुद्धि, दुर्गति—फल जन्म और मृत्यु—Return Ticket. फिर यह भी है कि जन्म भी नहीं है और मृत्यु भी नहीं। मृत्यु का माने है—जहाँ मृत्यु की मृत्यु। अर्थात् जिस स्वरूप में स्थित होने पर मृत्यु की मृत्यु होती है। जन्म मृत्यु का प्रश्न ही नहीं है। अद्वैत वेदान्त के मत में आत्मा एक, एकं ब्रह्म, द्वितीयो नास्ति, फिर स्वयम् वही जन्म-जनार्दन—जल, बरफ। जल और बरफ में भेद कहाँ? सगुण और निर्गुन में कोई भेद नहीं है। वह स्वयंप्रकाश भक्त के सामने प्रकट हैं। "यत्र यत्र नेत्र पड़े, तत्र तत्र कृष्ण स्फुरे"—ऐसा तुम लोग कहते हो न? या तो प्रभु भगवान को लेकर चलना, नहीं तो एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति। उसी ओर। जिसे जिधर प्रेम हो, किन्तु मूल एक ही है। जहाँ जीव-जगत वहाँ स्वप्न में भी कर्मफल भोग। जगत मिथ्या है तो स्वप्न भी मिथ्या है। शिशु युवक होता है, युवक वृद्ध होता है और वृद्ध की मृत्यु होती है। परिवर्तनशील जगत ही स्वप्न है, ऐसा कहते हो न? स्वप्न मनोराज्य से आता है, निद्रा के स्वप्न में रोता है, जगकर देखता है, आँखों में आँसू। फिर स्वप्न भी शायद भूल गया। जहाँ मन से अतीत स्थिति है वहाँ स्वप्न कहाँ? जहाँ मनोराज्य है वहीं मन की स्थिति के अनुसार पाप-पुण्य भोग होता है।

माँ के उत्तर से सभी लोग परितृप्त हो गये। रात अधिक हो गई। इस कारण माँ महात्माओं के साथ इस प्रकार की आलोचना करते हुए बाहर आयीं।

६ नवम्बर। सुबह के ध्यान के अन्त में श्री १०८ विष्णुआश्रमजी ने रामनाम का अपार माहात्म्य अति सुललित भाषा में वर्णित किया। तुलसीदास ने रामनाम को अमर अव्यय बताया है। वेदरूप महासमुद्र का मंथन कर रामनाम का आहरण किया गया है। शंकरजी अमृत को मुँह में नहीं रखते, किंतु रामनाम मुँह में रखते हैं, रामनाम लेकर जीव अनायास काम, क्रोध, लोभ का जय करने में समर्थ होते हैं।

इस दिन परमपूज्य श्री १०८ कृष्णानन्दजी के 'जय राम सीताराम' कीर्तन, अपराह्न के ध्यान के अनन्तर शिव पुराण के पाठ और अवधूतजी के भाषण से सभी को अपार आनन्द लाभ हुआ। रात के मौन के पश्चात् मातृ-सत्संग के समय स्थानीय बच्चों ने भारी शोरगुल करना शुरू किया। किसी ने माँ से दो-एक प्रश्न पूछे, किन्तु कोलाहल के कारण कुछ भी सुनाई नहीं पड़ा।

माँ—बाल-गोपाल-कुमारियाँ कीर्तन कर रही हैं। घर में ऐसा करने से शायद शिक्षक या अभिभावक अन्य प्रकार का शासन करते, पर महात्मा लोग परोपकारी हैं, इस कारण इससे कोई दोष नहीं लेते। ये लोग महात्मा हैं, सहन करना ही इनका व्रत है, ये लोग किसी को बुरा-भला नहीं कहते। शासन तो करते ही नहीं।

माँ ने एक व्रती को लक्ष्य करके कहा—"तुमने तो परोपकारी राजा की कहानी सुनी है।" इस बात को सुनकर किसी ने कहा—"माँ बताइये न, परोपकारी राजा की कहानी कैसी है।"

माँ—दोस्त लोग जब वार्तालाप में मस्त थे तो ख्याल में आई थी वह कहानी। किसी विशेष व्यक्ति ने वह कहानी सुनाई थी।

माँ कहने लगीं—"अयोध्या का एक राजा था। परोपकार करना ही उसका स्वभाव था। ऋषि तुल्य एक व्यक्ति ने आकर उनसे कुछ माँगा। उसे राजपाट देकर राजा एक लोटा लिये तपस्वी के वेश में निकल गया। एक कुएँ से जल निकालते हुए उसने ४ प्राणी देखे—'सिंह, बानर, साँप और एक मनुष्य।" माँ ने इस कहानी को अनेक सत्संग में बताया है। पहले भी माँ के कथा-प्रसंग में यह कहानी बताई गई है। इस कारण उसे संक्षेप रूप से लिखा जाता है—राजा ने पहले

जन्तुओं को उठाया। उन लोगों ने मनुष्य को उठाने से मना किया किन्तु परोपकारी राजा ने उस मनुष्यको भी उठा दिया। सिंह ने किसी समय राजा को एक सोने का हार दिया था। राजा ने उसे इसी आदमी को दे दिया। वह मनुष्य अत्यन्त अकृतज्ञ था। उसने अपने प्राण-दाता को हार दान के बदले जीवन-नाश का षड्यन्त्र किया। पता लगने पर साँप ने आकर राजा को बचा लिया। राजा ने उस व्यक्ति के प्रति किसी प्रकार का बैर-भाव नहीं दिखाया। बल्कि उसे प्रचुर धन मिल जाय इसका प्रबन्ध करके अन्यत्र चला गया। परवर्ती काल में राजा बानर से एक अमृत फल पाकर, जिस ऋषि-तुल्य व्यक्ति को उसने राजपाट दे दिया था, उसे वह उस फल को देने गया। परन्तु ऋषि ने उसी तरह एक दूसरे फल ला देने की इच्छा प्रकट की। राजा ऋषि को लेकर बानर के पास दूसरा फल पाने की आशा से पहुँचा। बानर ने बताया कि उसे महावीरजी ने मुझे दिया है। महावीर के पास पहुँचने पर उन्होंने कहा—शङ्कर भगवान ने वह फल दिया था। शङ्कर से उन लोगों ने जाना कि वह फल विष्णु का दिया हुआ है। भगवान विष्णु ने उन प्रार्थियों को निराश कर दिया, क्योंकि इन लोगों के आने के पहले ही भगवान विष्णु ने इस अमृत फल के बाग को दूसरे को दे दिया था। खोज करने पर पता लगा कि उस प्रार्थी गजा को ही उसके परोपकार के गुणों से मुग्ध होकर विष्णु ने उस फल के बाग को दे दिया है।

माँ ने समझा दिया कि एक परोपकार के द्वारा मनुष्य कहाँ तक उन्नत हो सकता है। जिस ऋषि तुल्य व्यक्ति को राजा ने अपना राज्य दे दिया था, वह थे एक छद्मवेशी महात्मा। राजा की वह परीक्षा ले रहे थे। उन्होंने भी राजा को राज्य लौटा दिया। परोपकार के गुण से राज्य, अमृत फल, बैकुंठ लाभ, सभी सम्भव हुए। रात अधिक हो गई थी। माँ उठकर विश्राम के लिए चली गईं।

७ नवम्बर। महाव्रत का तीसरा दिन। भारतपूज्य प्रायः सभी महात्मा आ गये हैं। इस दिन के भाषणों में श्री १०८ चेतन गिरिजी का भाषण, परमपूज्य श्री १०८ विष्णु आश्रमजी का भाषण, श्री १०८ अवधूतजी का भाषण तथा महामण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी महेश्वरानन्दजी का भाषण, विशेष रूपसे उल्लेख योग्य हैं।

श्री १०८ चेतन गिरिजी ने अपने भाषण में कहा था—उपनिषद को ही ब्रह्म-

विद्या कहते हैं। ऋषि ने एक दिन इस विद्या में पारङ्गत होकर कहा था—"मैंने अन्धकार के उस पार उस ज्योतिर्मय पुरुष को जान लिया है, उन्हें बिना जाने मृत्यु के कवल से किसी के उद्धार का कोई उपाय नहीं—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति
नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय।
—श्वेताश्वतर उप० ३।८।

नाम-रूप से जिस प्रकार सोना, आभूषण रूप में रूपांतरित होता है। उसी प्रकार विश्वव्यापी चेतन-शक्ति नाम-रूप के आवरण में है। प्रकाश के लिए अज्ञान का आवरण पूर्णतया दूर होना आवश्यक है, साधन-शक्ति के द्वारा जिसका आवरण जितना दूर हो गया है उसके निकट प्रकाश उतना ही प्रत्यक्ष है। आवरण पूर्णतया विलुप्त होने से जीव अमरपद प्राप्त कर सकता है।

श्री १०८ अवधूतजी ने इस दिन अपने भाषण में तैत्तिरीयोपनिषद् में वर्णित अकामहत श्रोत्रिय के 'श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य' सुप्रसिद्ध ब्रह्मानन्द निरूपण के सूत्र को अति सुन्दर भाव से सुललित भाषा में वर्णित किया था।

श्री १०८ विष्णु आश्रमजी ने एक अति सारगर्भ भाषण में मनुष्य जन्म की दुर्लभता का वर्णन किया था। इस प्रसङ्ग में महाभारत के काश्यप इन्द्र कहानी का उल्लेख करके उन्होंने कहा—"यह देह कृमि, कीट, भस्म में परिणत होगी, ऐसे शरीर से मनुष्य ब्रह्मचर्य संयम तपस्या आदि के अनुष्ठान के द्वारा मुक्त हो जा सकता है।"

उस दिन महामण्डलेश्वर श्री १०८ महेश्वरानन्दजी ने एक संक्षिप्त सारगर्भ भाषण में कहा—"सत्य लाभ के लिए संयम का प्रयोजन है, भागवत में कहा गया है—'सत्यं परं धीमहि।' यह सत्य, ज्ञान स्वरूप, आनन्द स्वरूप और अनन्त है, इसी कारण कीर्तन में गाया जाता है—'सत्यं ज्ञानम् अनन्तम् आनन्दं ब्रह्म।' इसी

कारण अमृत के अभिलाषी होकर इन्द्रियों का संयमपूर्वक ज्ञान में प्रतिष्ठित होने के लिए मनुष्य मात्र को प्रयत्न करना चाहिए।"

महाराज के भाषण के अनन्तर मौन आरम्भ हुआ। मौन समाप्त होने पर मातृ-सत्संग के समय भक्तों की प्रार्थना से माँ ने 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म' का कीर्तन प्रारम्भ कर दिया। इस अपूर्व परिवेश में माँ के मधुर कंठ का यह छन्द-सङ्गीत से एक अपूर्व आनन्द-तरंग उत्पन्न हुई। शत शत अंशों में प्रतिस्फुरित एक गम्भीर उल्लास मानों माँ की गीति-तरङ्ग में चारों ओर फैल गया। सर्वत्र आनन्दका हिल्लोल बहने लगा। माँ ने पहले 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म' इस भाव से छन्द को १४–१५ बार गाया। सभी लोग आनन्द में मत्त होकर माँ के साथ इस ब्रह्म नाम का गान करने लगे। उसके अनन्तर कुछ देर के लिए माँ 'सत्यं ब्रह्म, ज्ञानं ब्रह्म, अनन्तं ब्रह्म, आनन्दं ब्रह्म' इस रूप में कीर्तन गाने लगीं। सुर और शब्द-तरङ्ग के आलोड़न और उच्छ्वास से आनन्द सिन्धु उद्वेलित हो उठा। इसके बाद माँ आनन्द से हाथों में ताली देते हुए गाने लगीं—सत्यं ज्ञानम् अनन्तम्, आनन्दं ब्रह्म— एक गम्भीर आनन्द के आवेग से मानो माँ लहर की तरह टूट पड़ने लगी। माँ के इस कीर्तन के नये-नये रसोल्लास देखकर वैष्णव कवि की यह बात याद आती है—

जनम अवधि हम रूप निहारि नु, नयन न तिरपित भेल।
लाख-लाख युग हिये हिये राखनु, तबु हिये जुड़नन गेल।

माँ ने लगभग आधे घन्टे तक सबको इस मधुर कीर्तनानन्द में मत्त कर रखा था। कीर्तन के अन्त में प्रणाम-मन्त्र का पाठ हुआ। श्री १०८ विष्णु आश्रमजी कल जायेंगे वह उठ पड़े। उनके साथ माँ भी तुरन्त उठ आईं।

मधुमत्त भृङ्ग के समान विमुग्ध जनता उस समय भी स्तब्ध होकर बैठी रही।

—क्रमशः

—— ——

क्या मृत्यु के बाद व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है ?

डॉ० बी० एल० आत्रेय एम० ए०, डि० लिट०, पद्मभूषण, दर्शनाचार्य

मृत्यु के बारे में पहली परिकल्पना यह है कि मृतक का पूर्णतया विनाश हो जाता है। इस परिकल्पना का आधार क्या है ? क्या यह मृत्यु और उससे सम्बन्धित तथ्यों तथा जीवन की माँगों का सन्तोष-जनक तरीके से स्पष्टीकरण कर देती है ? इसके पक्ष में एकमात्र प्रमाण यह है कि हम अपनी भौतिक इन्द्रियों से मृतक के अस्तित्व को नहीं देख पाते। मृत्यु के बाद शरीर निष्प्राण और निश्चेष्ट हो जाता है; वह सड़ने लगता है और यदि उसे दफनाया या जलाया न जाय तो प्राकृतिक शक्तियाँ उसे उसके मूल तत्त्वों में परिणत करके अदृश्य कर देती हैं; क्योंकि उसमें उस संश्लेषणकारी और प्रतिरोधात्मक शक्ति का अभाव हो जाता है जो उसे जीवित रखे हुए थी। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि शरीर के तत्त्वों में मिल जाने पर मृत व्यक्ति का कोई भी अंश दृष्टिगोचर नहीं होता। लेकिन इस तथ्य से यह निष्कर्ष नहीं निकल सकता कि मृत्यु के बाद व्यक्तित्व का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इस निष्कर्ष को निकालने के लिये पहिले यह सिद्ध करना होगा कि व्यक्तित्व शरीर तक ही सीमित है उसके बाहर नहीं और साथ ही यह भी कि जो हमें दृष्टिगोचर नहीं है उसका अस्तित्व नहीं है। अतः जो आदमी यह सोचता है कि मृतक बिलकुल नष्ट हो जाता है वह यह मान लेता है कि व्याधि भौतिक शरीर के अतिरिक्त कुछ नहीं है और कि केवल दृश्य वस्तु का ही अस्तित्व है। इनमें से पहली धारणा दूसरी के ऊपर आधारित हो सकती है क्योंकि हमारा यह विश्वास कि शरीर से अतिरिक्त व्यक्तित्व कुछ नहीं है, इस कारण से है कि हमारी इन्द्रियों से शरीर के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं दिखाई देती तथा हम यह मान लेते हैं कि जो नहीं दिखाई देता उसका अस्तित्व नहीं हो सकता। अथवा इस तरह से सोचने वाले के मन में यह विवेक नहीं है कि दिखाई देने के हेतु और उत्पत्ति के हेतु अलग-अलग होते हैं, क्योंकि इस

परिकल्पना के पक्ष में यह दलील भी दी गई है कि भौतिक शरीर के अतिरिक्त जिन तत्त्वों को व्यक्तित्व का निर्माण करने वाला माना गया है वे शरीर और मस्तिष्क से उत्पन्न होते हैं तथा इस सम्भावना को विस्मृत कर दिया गया है कि शरीर या मस्तिष्क इन तत्त्वों की अभिव्यक्ति का हेतु मात्र है।

हम कह सकते हैं कि यह दलील बिलकुल ऐसी ही है जैसी यह कि रेडियो से सुनाई देने वाले संगीत का कारण ग्राहक उपकरण मात्र है। यह कहना कि जबतक शरीर था तभी तक व्यक्तित्व भी था और चूँकि अब शरीर नहीं है, इसलिये व्यक्तित्व भी नहीं रहा" यह कहने के तुल्य है कि जबतक मेरा बल्ब ठीक था तभी तक दुनिया में बिजली थी, लेकिन अब मेरा बल्ब टूट गया है, इसलिये दुनिया में बिजली भी नहीं रही और उस बल्ब के स्थान में कोई अन्य बल्ब नहीं जल सकता। यह स्पष्ट है कि "ऐसी दलील व्यर्थ है और ऐसा इस धारणा के कारण कि जो दृश्य है बल्कि जिसका भौतिक इन्द्रियों से सचमुच प्रत्यक्ष होता है, उसी का अस्तित्व है, अन्य वस्तुओं का नहीं। इस धारणा की अमान्यता के विस्तार में जाना आवश्यक है। हम अस्तित्व को इन्द्रिय प्रत्यक्ष-गम्य तक ही सीमित नहीं कर सकते। आधुनिक विज्ञान हमारे अन्दर यह विश्वास पैदा करता है कि जो भौतिक इन्द्रियों से साधारणतया नहीं दिखाई देता उसकी तुलना में दृश्य जगत् बहुत छोटा है। और यदि हम अपने अन्दर देखें तो हम पायेंगे कि समग्र अनुभव का न देखा हुआ भाग देखे हुए भाग से कहीं बड़ा है। जब हम अपनी भौतिक इन्द्रियों से बाह्यजगत् को देखना बन्द कर देते हैं तो एक आन्तरिक जगत् हमारे सामने आ जाता है जिसे हम स्वप्न कहते हैं। व्यक्तित्व और मानव-जीवन की पहेली को ठीक समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम स्वप्नों का सावधानी से अध्ययन करें। स्वप्न में प्रत्यक्ष होता है लेकिन भौतिक इन्द्रियाँ उस समय बन्द और निष्क्रिय रहती हैं। स्वप्न में कोई शरीर सचेष्ट रहता है लेकिन भौतिक शरीर निष्क्रिय रहता है। जिस काम में वह संलग्न रहता है उससे यह मुक्त रहता है। स्वप्नद्रष्टा का जगत् वस्तुओं और व्यक्तियों से भरपूर रहता है लेकिन वे जाग्रत् अवस्था के जगत् से भिन्न होते हैं। क्या इससे यह ज्ञात नहीं होता कि अस्तित्ववान् और अनुभूत वस्तुओं का जगत् भौतिक इन्द्रियों से

प्रतीत होनेवाले जगत् की अपेक्षा कहीं विशाल है ? अत: भौतिक शरीर के नष्ट होने पर मृतक के व्यक्तित्व का कहीं अस्तित्व नहीं रहता यह परिकल्पना ठीक नहीं है। मृत्यु के बारे में जिस चीज का हमें निश्चय है वह यह है कि उसके बाद बल्ब के हट जाने से जैसे विद्युत् की अभिव्यक्ति नहीं होती वैसे ही भौतिक शरीर के नष्ट हो जाने पर मानव-व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं होती, यह नहीं कि व्यक्तित्व का अस्तित्व ही कहीं नहीं रहता। यह तथ्य इतना स्पष्ट है कि प्रमाण अनावश्यक है।

फिर भी, किसी बात की विरोधी बात का खण्डन कर देने का अर्थ उसकी स्थापना नहीं है। तो क्या कोई ऐसे भावात्मक प्रमाण हैं जिनसे यह सिद्ध हो सके कि भौतिक शरीर के विनाश के बाद मृतक का व्यक्तित्व अविच्छिन्न बना रहता है ? व्यक्तित्व की अविच्छिन्नता दो तरह से सिद्ध हो सकती है या तो यह व्यक्ति जो भौतिक दृष्टि से मर चुका है लेकिन कहीं अन्यत्र वर्तमान है, यह दिखाने के लिये कि पूर्व भौतिक शरीर के नाश के बाद भी यह मौजूद है, ऐसे आश्वस्त करने वाले प्रमाण प्रस्तुत करे जिनकी परीक्षा की जा सके, या किसी को स्वयं स्मरण रहे कि पूर्व भौतिक शरीर के नष्ट होने पर भी उसका अस्तित्व है। ऊपर से यह दिखाई देता है कि ये दोनों प्रमाण कठिनाई से ही प्राप्त हो सकते हैं और इनका ठीक-ठीक मूल्यांकन भी कठिन है, यद्यपि लोग इन्हें पाने की काफी कोशिश कर रहे हैं। यहाँ हम इस तरह के प्रमाणों की सच्चाई का निर्णय करने की कठिनाई के चक्कर में नहीं पड़ेंगे। ऐसे अनेक महान् वैज्ञानिक हैं जिन्होंने इन कठिनाइयों पर सच्चे वैज्ञानिक तरीके से विचार किया है और यह घोषणा की है कि "यह परिकल्पना सबसे सरल सीधी और सभी तथ्यों का परस्पर सामञ्जस्य करने वाली एकमात्र परिकल्पना है कि व्यक्तित्व का न केवल मरणोत्तर अस्तित्व रहता है बल्कि वह अपनी अभिव्यक्ति करने का भी इच्छुक रहता है और कठिनाई से इसमें सफल भी हो जाता है" (Lodge : The Survival of Man) "मृत्यु मानव अनुभव का अन्त नहीं है, इसका समर्थन अनेक तथ्यों से होता है जो इतने बहुसंख्यक और इतने प्रामाणिक हैं कि बड़े दुराग्रही विरोधियों को भी उन पर ध्यान देने के लिये बाध्य होना पड़ रहा है" (Osbon : The Super Physical) "मैं संक्षेप में यह कह सकता

हूँ कि कोई भौतिक इन्द्रिय ऐसी नहीं है जिसे आश्वस्त न होना पड़ा हो और कोई ऐसी विधि नहीं है जिससे मृतक की आत्मा ने अपना अस्तित्व प्रदर्शित किया हो और मैंने उसका अनुभव न किया हो" (Sir A. Cannon Doyle : Survival) "प्रायः प्रत्येक आध्यात्मिक अनुसन्धानकर्ता इस विचार से सहमत हैं कि आत्मा के अस्तित्व की परिकल्पना के पक्ष में इतना प्रबल साक्ष्य है कि इसे एक एक कामचलाऊ सिद्धान्त मान लेना उचित है।.........मरणोत्तर अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये प्रबल प्रमाण है" (Carrington : The Story of Psychic Science) भारत में कुछ समय पूर्व बरेली के केक नन्दन सहाय ने बहुत से ऐसे दृष्टान्तों का संग्रह किया (देखिये, उनकी पुस्तिका (Reincarnation) जिनमें पूर्वजन्म की स्मृति बहुत-कुछ सुरक्षित रही है और उसका सत्यापन भी हुआ है। दिल्ली की शान्तिदेवी का दृष्टान्त देखिये। प्रो० सुधाकर-कृत (A care of Reincarnation) पूर्वजन्म की स्मृति का अद्भुत दृष्टान्त है जिसे प्रकारान्तर से समझाना आसान नहीं है। शिर्ले (Shirley) कृत (The Problem of Rebirth) और एतद्विषयक अन्य ग्रन्थों में इस तरह के अनेक दृष्टान्तों का उल्लेख है। इन तथ्यों को देखते हुए तथा हमारे इस निष्कर्ष को देखते हुए कि शरीर की मृत्यु के बाद व्यक्तित्व का विनाश मान लेना दुराग्रह मात्र है हमें यह मानना पड़ता है कि हमारा अस्तित्व भौतिक शरीर की समाप्ति पर समाप्त नहीं हो जाता।

जब हम अपने अनुभव के अन्य पहलुओं, स्वप्न तथा निद्रा की अवस्था का अध्ययन करते हैं, तब यह परिकल्पना और भी दृढ़ हो जाती है। डा० प्रेल (Dr. Prel) का यह कथन ठीक ही है कि "जाग्रत जीवन के मानसिक व्यापारों की छानबीन की अपेक्षा स्वप्नों का अध्ययन शरीर के प्रति पक्षपात से हमें बहुत-कुछ मुक्त कर देता है" (The Philosophy of Mysticism, Vol. I.) जब आदमी सोता रहता है तब उसकी शारीरिक क्रिया कुछ समय के लिये चेतना के द्वार से नीचे चली जाती है। लेकिन जैसा कि हमारे स्वप्न के अनुभवों से, निद्रा में विचरण करनेवाले रोगी (Somnambulist) की चेष्टा से और सम्मोहित या मूर्च्छित व्यक्ति

की चेष्टा से स्पष्ट होता है, उस समय आन्तरिक व्यक्तित्व की बौद्धिक, सांवेगिक और ऐच्छिक, सभी क्रियाओं में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। निद्रा के अध्ययन से डा० प्रेल को यह निश्चय हो गया कि "संवेदनशीलता (sensibility) के द्वार को जितना अधिक हराया जाय उतना ही अधिक निद्रा का नई मानसिक प्रतिक्रियाओं को पैदा करने वाला पहलू प्रकट होता है" वही पृ० १४७। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि जितना अधिक हम शारीरिक चेतना से मुक्त रहेंगे उतना ही स्पष्ट दूसरे अस्तित्व की अवस्था का हमारा अनुभव होगा। अतः यह भी सम्भव है कि जब हम भौतिक शरीर और उसकी इन्द्रियों से पूर्णतया मुक्त हो जायेंगे तब हम ऐसी दुनिया में अपना अस्तित्व और अनुभव जारी रखेंगे जिसका दर्शन हमें अस्पष्टतः स्वप्न में प्रतिदिन होता रहता है—अस्पष्टतः शायद इसलिये कि स्वप्न में बहुत-कुछ मुक्त हो जाने पर भी भौतिक शरीर से कोई बन्धन हमको बाँधे रहता है।

इस प्रकार मृत्यु के बाद अस्तित्व का निषेध करना दुराग्रह है। मरणोत्तर अस्तित्व के पक्ष में वास्तविक प्रमाण है और इसकी बहुत सम्भावना है। बल्कि, यदि विश्व की व्यवस्था विवेकहीन नहीं है तो यह मानना आवश्यक है, क्योंकि यह मानना विवेकहीन है कि हमारे प्रयत्न और इच्छाओं का कोई फल नहीं होता, उनका उद्देश्य पूरा नहीं होता और वे शून्य में विलीन हो जाते हैं। यह मानना अबौद्धिक और वाहियात है कि बहुत संघर्ष और कठिनाई से एक नैतिक और उच्च व्यक्तित्व का विकास केवल इसलिये होता है कि वह मृत्यु की चट्टान से टकराकर एकाएक चूर-चूर हो जाय। क्या पूर्णता, सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता और पूर्ण आनन्द की हमारी सब आकांक्षायें भ्रम मात्र हैं। क्या क्राइस्ट, नीरो और वाशिंगटन सब मृत्यु के द्वारा समान रूप से नष्ट होने के लिये हैं? क्या आत्म-बलिदान करनेवाले और हत्या का पाप करनेवाले एक ही स्थिति में है, दोनों को ही शून्य में विलीन हो जाना है? यदि कान्ट, गेटे, बुद्ध और क्राइस्ट ने केवल प्रयत्न किया है और कष्ट झेले हैं और उससे अपने आत्मा का विकास नहीं किया है, तो प्रकृति को भरले सिरे की अपव्ययी होना चाहिये (Prel : The Philosophy of Mysticism, Vol. II) यदि दुनिया विवेकहीन नहीं है तो ऐसा नहीं हो सकता। यदि दुनिया में

बुद्धि का शासन नहीं है तो विज्ञान, दर्शन, नैतिकता और धर्म सभी वाहियात है। ऐसी स्थिति में कष्ट झेलने वाले का सर्वोत्तम कार्य आत्महत्या होगा। लेकिन हम दुनिया को बुद्धिमूलक केवल इसलिये मानते हैं कि बुद्धि मनुष्य के अन्दर अभिव्यक्त पारमार्थिक सत्ता का एक रूप है। पारमार्थिक सत्ता बौद्धिक से भी ऊपर हो सकती है लेकिन उससे कम-किसी भी दशा में नहीं हो सकती।

"साधना में जो अनुकूल है उसको स्वीकार करना चाहिये और जो प्रतिकूल है उसका त्याग करना चाहिये।"

श्री श्री माँ

श्री श्री माँ आनन्दमयी प्रसंग

चतुर्थ खंड

श्री अमूल्यकुमार दत्त गुप्त, एम्० ए०; बी० एल०

(पूर्वानुवृत्ति)

बाबा भोलानाथ का चरित्र और संन्यास

माँ हँसकर फिर कहने लगीं, "भोलानाथ को इस शरीर से दीक्षा मिली थी कि नहीं—यह आलोचना जब चल रही थी तो भोलानाथ ने इस शरीर से कहा था, "मैंने तो तुमसे एक मात्र मंत्र पाया है—उसके अतिरिक्त भी मैंने अनेक मंत्र पाए हैं।" वास्तव में उत्तर काशी में साधना करते समय भोलानाथ को कुछ-कुछ आनन्द मिला था—यदि ऐसा न होता तो इस ठंड में वह इतने दिन तक साधना न कर सकता।"

मैं—बाबाने तारापीठ एवं ज्वालामुखी में भी साधना की थी ?

माँ—'हाँ तारापीठ में भोलानाथ केवल सात दिन था। किन्तु उतने अल्प समय में भी भोलानाथ के स्वभाव में बहुत परिवर्तन हो गया। उसका चंचल स्वभाव बहुत कुछ शान्त हो गया। इसके अलावा भोलानाथ में कई विशेष गुण थे जिनके कारण साधन करने के लिए बैठते ही उसका शरीर, मन स्थिर हो जाते थे। तुम लोगों को शाहबाग की एक घटना बताती हूँ। शाहबाग में, रहते समय, गोलघर में रहते हुए भी यह शरीर अकसर रात को नाच घर में अकेला घूमता फिरता था। एक दिन ऐसे ही घूम रही थी। कुछ देर बाद गोलघर में जाकर देखा कि भोलानाथ आसन से बैठा है। उसके शरीर पर मच्छर ऐसे बैठे थे कि देखने से मालूम होता था कि उसका शरीर रोमांचित हो रहा है। यह देखकर मैंने एक धक्का देकर उसे सचेतन कर दिया। बाह्यज्ञान लाभ कर भोलानाथ बोला, "ऐसा क्यों किया ? बाजितपुर की तरह आज भी मैं जम गया था।"

मैं—बाजितपुर में क्या हुआ था ?

माँ—वह तुम लोग जानते हो। इस शरीर की अवस्था को प्रेत का आवेश समझ कर वह जो सब कांड हुआ था। उन दिनों आशु हमारे पास रहता था। उसने देखा कि उसका चाचा (अर्थात् भोलानाथ) निश्चल पत्थर के समान होता जाता है और यह शरीर जिसको उसने कभी अन्य लोगों के सामने बाहर होते नहीं देखा, वह सबके साथ बातचीत कर रहा है। सिर पर वस्त्र नहीं, लज्जा शरम कुछ भी नहीं—सभी कुछ अस्वाभाविक। यह सब देख कर वह रो-रो कर अस्थिर हो गया।

जो हो, तुम लोग तो जानते हो कि यह शरीर इच्छा करके कुछ भी नहीं करता। जो होना है, अपने आप ही हो जाता है। भोलानाथ को उस तरह न जगाने से शायद उसका जीवन सम्पूर्ण रूप से परिवर्तित हो जाता। किन्तु ऐसा होने से, बाद में जो उसको क्रोध आदि की लीलाएँ हुईं, वह न होतीं। इसलिए उस समय उसको उस तरह नहीं रहने दिया गया।

तुम लोगों ने भोलानाथ के सम्बन्ध में कितना ही कुछ सुना है। मैंने उसके अन्दर कई एक ऊर्ध्व गति के भाव देखे थे जो अनेक महापुरुषों के अन्दर भी साधारणतः नहीं देखे जाते। लोगों के कु-परामर्श से अनेक बार वह इस देह को यह कह कर डराता था कि अगर यह देह उसके कहने के अनुसार नहीं चलेगी तो वह संन्यासी होकर चला जायगा अथवा बुरे मार्ग में चलेगा। क्रोध के मामले में भी जो वह इतनी ज्यादती करता था उसका कारण भी संगदोष था। फिर भी वह चाहे जो भी करता, किन्तु उसके अन्दर कुछ भी कोई स्थायी दाग नहीं रह सकता था। यह सब बात यह शरीर पहले भी कह चुका है। बहुत लोगों ने सोचा कि मालूम होता है अपना स्वामी समझ कर यह देह भोलानाथ की इतनी प्रशंसा करती है। जो लोग ऐसा कहते हैं या सोचते हैं उनको दोष नहीं दिया जा सकता। सभी अपने-अपने संस्कारों के अनुसार ही तो धारणा करेंगे।

मैं—बाबा भोलानाथ का संन्यास कब हुआ ?

माँ—संन्यास की ओर झुकाव उसका बहुत दिनों से था। उसकी इच्छा थी कि वह दंडी संन्यास ले और तीर्थ सम्प्रदाय के किसी बड़े संन्यासी से ले। मेरे पास आकर उसने जब अपनी इच्छा प्रगट की। तो मैंने सम्मति दे दी। मैं बोली, "यह सब तो अच्छी बात है। तुम इसी की चेष्टा करो।" वह मुख से चाहे जो भी कहता, किन्तु बिना इस शरीर से परामर्श लिए कुछ भी नहीं करता था। पर जैसे ही मैंने यह कहा, कि भोलानाथ क्रोध से लाल! वह क्रुद्ध होकर कहने लगा, "तुम तो सदा ही मुझे दूर हटाना चाहती हो," इत्यादि। उसे आशा थी कि संन्यास ग्रहण करने की इच्छा करने पर मैं उसे बाधा दूँगी। मुझे बाधा देते न देखकर, उसके क्रोध का कारण उपस्थित हो गया। मैंने उसे समझाकर कहा, कि दस लोग जब मुझसे सलाह चाहते हैं, तो उनके लिए जो मंगल-जनक है वह सलाह ही मैं उन्हें देती हूँ। उसी तरह से मैंने उससे भी संन्यास ग्रहण करने को कहा। वह क्योंकर यह आशा कर सकता है कि दस जनों से मैं उसे भिन्न देखूँगी? मेरे अन्दर अगर गृहस्थों का भाव होता तो शायद स्वामी के संन्यास ग्रहण करने की इच्छा करने पर स्त्री जैसे बाधा देती है, मैं भी देती। किन्तु वह भाव तो इस शरीर का किसी दिन भी नहीं था। इस तरह समझाकर कहने पर भोलानाथ बहुत कुछ शान्त हुआ। उसके बाद वह शृङ्गेरी मठ से संन्यास लेने की चेष्टा करने लगा, पर उन लोगों से पत्र व्यवहार करके मालूम हुआ कि भोलानाथ के लिए वहाँ से संन्यास लेना सम्भव नहीं होगा। तब ज्योतिष के साथ सलाह करके तै हुआ कि ज्योतिष और भोलानाथ साथ-साथ उस मठ में जायँगे और ज्योतिष भोलानाथ की समस्त अवस्था उन लोगों को बताकर यह जानने की चेष्टा करेगा कि भोलानाथ उस सम्प्रदाय का संन्यास पाने के योग्य है या नहीं। किन्तु उस समय अकाल होने से वह भी नहीं हुआ।

पीछे जब कैलास जाना हुआ और जिस दिन इस शरीर के मुख से ज्योतिष का संन्यास मन्त्र निकला, उसके दूसरे दिन मैंने देखा कि उस मन्त्र का सिलसिला तब भी चल रहा है, और भोलानाथ को मानस सरोवर में स्नान करते देखकर मैंने उससे कहा, "जो संन्यास मन्त्र मेरे मुख से निकल रहा है, इच्छा होने से तुम उसका जप कर सकते हो।" भोलानाथ यह सुनकर बोला, "ये और क्या मन्त्र है। इससे

अच्छे-अच्छे अनेक मन्त्र मेरे पास हैं।" एक अर्थ में भोलानाथ ने सच बात ही कही थी। क्योंकि मैंने सुना था कि जब भोलानाथ उत्तरकाशी में था तब संन्यासियों से अनेक संन्यास मन्त्र सुनकर उसने कापी में लिख रक्खे थे। इसलिए जब भोलानाथ ने कहा कि अनेक अच्छे मन्त्र उसके पास हैं उसका अर्थ यह हुआ कि वह उसकी कापी में लिखे हैं। मैंने कहा, "अच्छा, जो इस समय मेरे खयाल में आ रहा है। वही मैंने कहा, करना न करना तुम्हारी इच्छा पर है।" यह कहकर मैं अन्यत्र चली गई। मेरे हट जाने पर देखा गया कि इस शरीर के मुख से जो मन्त्र निकला था, भोलानाथ उसी का जप कर रहा है। उस समय उसने गेहुँआ रङ्ग का एक रेशमी वस्त्र पहना हुआ था और कोई काछा भी नहीं था। बाद में अवश्य उसने काछा देना शुरू कर दिया था।

इसके बाद जब हम लोग कैलास से लौटे, तब भोलानाथ के एक भाई की अस्वस्थता को उपलक्ष्य करके उसे बंगाल भेज दिया और कह दिया कि इस बार उसकी मांस, मछली जो भी खाने की इच्छा हो, वह खाकर वह सब इच्छा शेष कर आवे। असल में अन्दर ही अन्दर भोलानाथ की वह सब इच्छा शेष होती जा रही थी। उसकी स्वयं की मांस-मछली खाने की इच्छा न होने पर भी उसे धूम-धाम से सबको खिलाना अच्छा लगता था।

इसके बाद ही हरिद्वार में पूर्ण कुम्भ स्नान आया। स्नान के पहले दिन रात को इस शरीर को खयाल आया कि भोलानाथ को बुलाकर उस संन्यास मन्त्र का स्मरण करा दूँ। इसलिए वही हुआ। मैंने भोलानाथ से कहा, "तुम्हारी यदि इच्छा हो तो पूर्णकुम्भ स्नान के समय तुम स्नान करके उस संन्यास मन्त्र का जप कर सकते हो।" भोलानाथ बिना कुछ उत्तर दिये चला गया। दूसरे दिन कुम्भ स्नान से लौटकर मेरे बिना पूछे ही वह बहुत लोगों के बीच में ही चिल्लाकर मुझसे बोला, "मैंने वह करा है।" इस तरह भोलानाथ का संन्यास हुआ था। उसके जीवन काल में वह गोपन था, मृत्यु के बाद अवश्य वह प्रकाशित हुआ।

इस समय खुकुनी दीदी आकर माँ को भोजन कराने ले गईं। हम लोग भी स्नान करने चले गए। आज दोपहर को पुलाव, लूची, पायस इत्यादि का माँ को

भोग दिया गया। इसके उपलक्ष्य में देहरादून के कई भक्तों को निमन्त्रित किया गया। पांडेजी अपनी स्त्री पुत्र के साथ आए थे। मिसेज जसपाल (श्रीयुक्ता महारतन) अपनी चार लड़कियों को लेकर आई थीं। श्रीयुक्ता सेवा और लक्ष्मी भी आईं। हम सबने दोपहर को वही प्रसाद पाया।

शाम को पहाड़ के किनारे जो कुटिया है वहाँ माँ गईं। यह कुटिया पहाड़ के पादप्रान्त में है। इसके किनारे से नहर का जल कलकल शब्द करता बहता जाता है। यहाँ से झरना भी खूब पास है। श्रीयुक्ता महारतन की लड़कियों ने हारमोनियम पर भजन गाया। गाना खूब सुन्दर हुआ। इस भजन के समय श्री श्री माँ हठात् अपने आसन से उठकर श्रीयुक्ता महारतन की एक कन्या के पीछे जाकर, उसके दोनों हाथ ऊँचे उठाकर हाथ से ताली बजाकर गाने के साथ ताल देने लगीं। उसी समय खुकुनी दीदी हमारे पास आकर बोलीं, "आप लोग लड़की के हाथ की उँगली लक्ष्य करके देखिए। यही दिखाने के लिए ही माँ ऐसा कर रही हैं और मुझे आप लोगों के पास भेजा है।" मैंने देखा कि दोनों हाथों का प्रत्येक नाखून आधा इंच या तीन चौथाई इंच लम्बा और उज्ज्वल लाल रंग से रँगा है। इनके प्रति पहले हम लोगोंका लक्ष्य नहीं पड़ा था—यह देखकर हम सभी खूब हँसने लगे। श्रीयुक्ता महारतन की प्रायः सभी कन्याएँ उच्चशिक्षा प्राप्त हैं। एक एम्० ए० पास है, एक बी० ए०, तीसरी आइ० ए० में पढ़ती है। यह लोग इलाहाबाद में रहते हैं। वहाँ लड़कियों में इस तरह के बड़े-बड़े नाखून रखने का एक फैशन है और उन्हें लाल रँग कर रखना भी बहुत व्ययसाध्य है।

जितेन (मुखर्जी) बाबू आज शाम को साढ़े ६ बजे अपने एक मित्र के साथ इलाहाबाद गए। थोड़ी ही देर बाद हम लोग आश्रम लौट आए। आज माँ से कल कलकत्ते लौट जाने का प्रस्ताव करने पर माँ ने हमलोगों को जाने की अनुमति दे दी।

आशा महान् रखनी चाहिए

रात को भोजन के उपरान्त नेपाल दादा ने कालीप्रसन्न सिंह के महाभारत का पाठ किया। पाठ के अन्त में उन्होंने माँ से प्रश्न किया, "माँ, कोई यदि सारा जीवन

सांसारिक भाव से काटकर वृद्धावस्था में धर्म में मन लगाए तो मृत्यु के समय क्या उसका धर्मभाव रहेगा ?"

माँ—तुम लोग 'जीवन' कहने से तो इसी जीवन को समझते हो। किन्तु वास्तव में तो यह ठीक नहीं। कितने जन्मों के संस्कार जो तुम्हारे अन्दर हैं वह तुम जानते नहीं। जब यह अवस्था है तो मनुष्य का अन्तिम समय क्या होगा वह बताने का कोई उपाय नहीं। यह शरीर कहता है कि सब कुछ ही हो सकता है। इसलिए आशा छोटी नहीं रखनी चाहिए। भावना द्वारा स्वभाव बदल जाता है, यह मैं तुम लोगों से पहले भी कह चुकी हूँ। ऐसा भी देखा जाता है कि मनुष्य केवल उच्च आकांक्षा लेकर ऊर्ध्व स्तर से और भी ऊर्ध्व स्तर पर चला जाता है। इसलिए आकांक्षा महान रखनी चाहिए। सोचना चाहिए उन्होंने जब मुक्ति का भाव हृदय में जगा दिया है तो मुक्ति भी दे देंगे। प्रकाश का आभास जब भावना रूप में आया है तो उसका पूर्ण प्रकाश होने में असम्भव क्या है ? सन्देह, दुर्बलता बीच-बीच में आवेगी ही पर इसके कारण दुर्बलता का आश्रय नहीं लेना चाहिए। महान आशा लेकर काम करते जाना अच्छा है। कुछ भी नहीं कर पाता, अपने में कुछ करने की शक्ति नहीं—यह सब बात जो कही जाती है वह केवल मौखिक बात है। क्योंकि संसार का काम तो थोड़ा-थोड़ा करते हो, और कुछ कर सकते हो ऐसा विश्वास भी मन में है। अपने में कुछ भी करने की शक्ति नहीं—यह विश्वास यदि दृढ़ होता, यदि वह अनुभूति में आता तो समझती कि साधन के राज्य में बहुत कुछ अग्रसर हो गया है। कृपा द्वारा ही सब कुछ होता है इसमें सन्देह ही क्या है ? साधन का उद्देश्य ही अपनी शक्ति की सीमा का अनुभव करना है—प्राण, प्राण में समझना कि मेरी कुछ भी करने की शक्ति नहीं है—और ऐसा मज़ा है, सभी ऐसा सुन्दर है कि साधन की अवस्था में देखा जाता है कि हम उनके हाथ के यन्त्र के सिवाय कुछ नहीं। यह अनुमान नहीं है, प्रत्यक्ष। इस शरीर के ऊपर जब साधन की अवस्थाएँ हो रही थीं और एक अज्ञानता का भाव चल रहा था तब मैंने देखा कि यह देह उनके हाथ के यन्त्र के सिवा कुछ नहीं। अपने मौन हो जाने की बात तो उस दिन तुम लोगों को बताई थी। उस समय संसार का रसोई इत्यादि कितना ही

काम तो करती थी। पर तब मैंने देखा कि मैं स्वयं कुछ भी नहीं कर रही। हाथ, पाँव मानों किसी और के हाथ के यन्त्र विशेष हैं। एक दंड के बाद क्या-क्या होगा मालूम नहीं, परन्तु चटपट करके सभी काम हुआ जा रहा है। सोचो कि यह शरीर खाना बना रहा है, चूल्हे के ऊपर कढ़ाई में कुछ चढ़ाया हुआ है और उसे उतारने का समय हो गया है। मैं किन्तु यह सब कुछ भी नहीं जानती। देखती हूँ कि इस हाथ से एक कपड़ा फाड़ा गया—क्यों फाड़ा गया यह भी नहीं कह सकती—देखती हूँ कि इस फटे कपड़े को तह कर रही हूँ। फिर उस झाड़न से कढ़ाई को हठात् पकड़ कर उतार डाला। मैंने देखा कि इसी तरह सब काम हो गया, मैंने कुछ भी नहीं करा। तभी कहती हूँ कि साधन का उद्देश्य है कि यह अनुभव करना कि हम स्वयं कुछ नहीं करते, कर नहीं सकते। काम करे जाओ, उनकी कृपा से सब समय, सभी कुछ हो सकता है।

रात के लगभग ११ बज गए। माँ शयन करने गईं। मैं भी बिछौने में लेट गया। कुछ देर बाद देखा कि माँ ऊपर जा रही हैं, मालूम हुआ छत पर लेटेंगी, अखंडानन्दजी और मनमोहन को धर्मशाला के आँगन से उठकर ऊपर शिवमन्दिर के आँगन में खटिया डाल कर सोने को कहा। मैं कमरे के अन्दर ही लेटा रहा। कुछ देर बाद खुकुनी दीदी ने आकर मुझसे कहा, "माँ ने आपको ऊपर जाकर सोने को कहा है।" इसलिए मुझे भी उठना पड़ा। बिछौना समेट कर माँ के पास गया। श्री श्री माँ की खाट के पास ही मुझसे बिछौना डालने को कहा गया। कमरे में लेट कर गरमी का उपभोग करूँगा—यह माँ ने नहीं होने दिया। हम लोगों की सुख-सुविधा की ओर माँ की स्नेहमयी दृष्टि देखकर मन कृतज्ञता से भर उठा। मन में आया कि ऐसी एक माँ के रहते भय किस बात का ?

—क्रमशः

कैलास-मानसरोवर-प्रदक्षिणा

श्री 'दत्त'

"तीर्थौं स्तरन्ति प्रवतो महीरिति यज्ञकृतः ।
सुकृतो येन यन्ति ।" [अथर्ववेद—१८।४।७]

[मनुष्य तीर्थों की सहायता से बड़ी-सी-बड़ी विपदाएँ पार कर जाता है। तीर्थों के सेवन से बड़े से बड़े पाप कट जाते हैं। बड़े से बड़े यज्ञ कर्म सम्पादन कर पुण्यात्मा जिस मार्ग से गमन करते हैं, तीर्थस्नार्थी भी उसी पथ से अग्रसर होते हैं।]

मानव जीवन की सार्थकता जीवन के शुभ कर्मों पर निर्भर है और शुभ कर्मों में प्रवृत्ति और उनकी सफलता शुभ संकल्प पर निर्भर है। अतएव शुभ संकल्प ही शुभ कार्यों की सफलता की आधार शिला एवं मानव जीवन की सार्थकता की कुंजी है। यही कारण है कि यजुर्वेद भगवान् से प्रार्थना करते हैं: "तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।" [वही मेरा मन शुभ संकल्प करे]। यही शुभ संकल्प तीर्थक्षेत्र, पवित्र स्थान या महापुरुष के सान्निध्य में किया जाय, तो वह शुभ कार्य के साफल्य में तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता। उससे उस संकल्प पर सान चढ़ जाती है। जब-जब हिमालय की तीर्थयात्राएँ करने का संकल्प मुझे हुआ, अधिकतर तीर्थ स्थानों में ही हुआ, जिनका परिणाम भी उज्ज्वल सफलता में ही दीख पड़ा। पुनीत कैलास-मानसरोवर-यात्रा के संकल्प की भी ऐसी ही रोचक कहानी है। इस यात्रा का संकल्प मुझे परम पावन तीर्थक्षेत्र नैमिषारण्य में, पुण्यसलिला गोमती के तट पर हुआ। घटना इस प्रकार है :—

श्री श्री आनन्दमयी संघ द्वारा प्रतिवर्ष भारत के विभिन्न स्थानों में जनता में धर्मभाव जागृत करने, उनका साधनपथ प्रशस्त करने के लिए "संयम-सप्ताह महाव्रत" अर्थात् साधना-सप्ताह का आयोजन हुआ करता है। इस शुभ अवसर पर अनेक

भक्तगण उपस्थित रहते हैं और समारोह को सुशोभित करते हैं। भारत के विशिष्ट महात्मा भी इस अवसर पर निमन्त्रित किये जाते हैं और सप्ताह भर भक्तगण उनकी पावन ज्ञानगंगा में अवगाहन कर अपना त्रिविध मल क्षालित कर लेते हैं। इस शुभ समारोह में श्री श्री माँ आनन्दमयी की उपस्थिति भक्तों के लिए विशेष उल्लास की वस्तु होती है। इसी तरह के एक संयम-सप्ताह महाव्रत का आयोजन नवम्बर १९६० में भारत के प्रसिद्ध तीर्थक्षेत्र नैमिषारण्य में हुआ था[१]। इस अवसर पर असंख्य भक्तजन उपस्थित हुए थे। कुछ विदेशी साधकों ने भी इसमें भाग लिया था।

नैमिषारण्य उत्तर भारत का छोटी लाइन का एक रेलवे स्टेशन है। वहाँ पहुँचने के लिए लखनऊ से सीतापुर या बड़ी लाइन का बालामऊ जंकशन होकर जाना पड़ता है। लखनऊ से मोटर-मार्ग भी है। यह तीर्थ-क्षेत्र गोमती नदी के तट पर बसा है। गाँव तो छोटा-सा ही है, पर उसमें पोस्ट, तार, टेलीफोन, स्कूल आदि नगर के सामान्य साधन सुलभ हैं। यहाँ प्रतिमास पूर्णिमा को बड़ा मेला लगता है, जिसमें असंख्य श्रद्धालु तीर्थस्नान एवं दर्शनार्थ एकत्रित होते हैं। यहाँ के चक्रतीर्थ में स्नान एवं चक्रधर भगवान तथा भगवती पराम्बा ललिता के दर्शन का विशेष माहात्म्य है। यहाँ भगवान् शुकदेवजी का स्थान एवं व्यासपीठ भी है, जहाँ पुराणों के अनुसार शौनकजी ने ऋषियों को भागवतामृत का पान कराया था। समीप ही मनु एवं शतरूपा का भी स्थान है।

प्रसंगवश नैमिषारण्य के इतिहास पर कुछ विचार आवश्यक है। हिन्दू धर्मग्रन्थों में नव धर्मारण्यों में नैमिषारण्य को प्रमुख स्थान दिया गया है। सत्ययुग में यह तीर्थ अत्यन्त प्रसिद्ध था। यहाँ की पुण्यभूमि में असंख्य ऋषि मुनि वर्षों तक ज्ञानयज्ञ [संयम] करते थे। अनेक चक्रवर्ती राजाओं ने बड़े-बड़े महायज्ञों का आयोजन कराया था। इस तीर्थ के विषय में पौराणिक कथा निम्नलिखित है :—

सत्ययुग के प्रारंभ में, जब ब्रह्मदेव ने सृष्टि का निर्माण किया, यह स्थान अरण्य था। तत्कालीन ऋषि-मुनियों ने सृष्टिकर्ता से प्रार्थना की कि

---

[१] — नैमिषारण्य में श्री स्वामी नारदानन्द सरस्वतीजी के आश्रम "अध्यात्म-विद्यापीठ" की पवित्र भूमि पर इस महाव्रत का आयोजन हुआ था।

"प्रभो, हमें तपस्या और यज्ञ योग्य कौन ऐसा श्रेष्ठ एवं पवित्र स्थान है, उसे कृपया बतायें ।"

ब्रह्मदेव ने अपने मन से [संकल्प से] एक चक्र का निर्माण किया और सबसे कहा कि 'इस चक्र की नेमि [धुरी] स्वयं टूट कर जहाँ गिरे, वही स्थान सर्वश्रेष्ठ तपस्या एवं यज्ञ-याग के लिए सर्वोत्कृष्ट होगा'।[१] कहते हैं कि ऋषियों ने चक्र का अनुसरण किया और वे इस अरण्य में आ पहुँचे, जहाँ एक स्थान पर चक्र की नेमि टूट पड़ी। इसके बाद ऋषियों ने इस अरण्य का नाम 'नैमिषारण्य' - [नैमिष-अरण्य] रखा और वहीं रहकर तपस्या करने लगे। पुराणों के कथनानुसार इस क्षेत्र में ८८००० [अट्ठासी] हजार ऋषियों ने संयम-व्रत किया था।

श्री श्री माँ की उपस्थिति में यहाँ आयोजित संयम सप्ताह महाव्रत अनुष्ठान भी अत्यन्त सफल रहा। इस अवसर पर १०८ [अष्टोत्तरशत] श्रीमद् भागवतसप्ताह का भी आयोजन काशी एवं अन्यान्य तीर्थस्थानों के विद्वानों द्वारा सम्पन्न हुआ। प्रतिदिन असंख्य लोग इस धार्मिक समारोह से लाभ उठाते रहे। जंगल में मंगल छा गया। उत्सव समाप्त होने के पश्चात् श्री श्री माँ ने गोमती तट स्थित एक छोटे से, किन्तु रमणीय स्थान में १५ दिनों तक निवास किया। श्री माताजी के भक्त सीतापुर के सेठ श्री प्रयागनारायण सहगल द्वारा निर्मित यह साधनाक्षेत्र सदैव सन्त-महात्माओं की पावन रज से पवित्र होता रहता है। उन दिनों श्री माँ के साथ आश्रम के कतिपय साधु लोग एवं कुछ विशिष्ट भक्त लोग थे। प्रतिदिन सत्संग, सत्कथा-पाठ आदि धर्मकृत्य होते। एक दिन सत्संग में तीर्थक्षेत्र कैलास-मानसरोवर को लेकर कुछ प्रसंग निकला। तत्काल अगले वर्ष इस कठिन तीर्थयात्रा करने का शुभ संकल्प मेरे मन में स्फुरित हुआ। शुभ संकल्प पुनीत तीर्थक्षेत्र में, गोमती के तट पर और श्री श्री माँ के सान्निध्य में हुआ।

१—एतन्मनोमयं चक्रं मया सृष्टं विसृज्यते ।
यत्राऽस्य शीर्यते नेमिः स देशस्तपसः शुचिः ।। [वायुपुराण]

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा
हिमालयो नाम नगाधिराजः।

[कुमारसंभव—कविकुलगुरु कालिदास]

हिन्दू शास्त्रों के अनुसार हिमालय पाँच खंडों में विभक्त है। प्रत्येक खंड के अपने अलग-अलग तीर्थक्षेत्र हैं। ये खण्ड निम्नलिखित हैं :—

१—उत्तरा खण्ड (गढ़वाल) :—इस खण्ड के मुख्य तीर्थक्षेत्र चार माने गये हैं—१-यमुनोत्री (यमुना का उद्गम स्थान), २-गंगोत्री (गोमुख–गंगा का उद्गम स्थान), ३-केदारनाथ (शिवक्षेत्र) और ४-बदरीनाथ (नर-नारायण क्षेत्र)। इन तीर्थ क्षेत्रों की यात्रा का आरम्भ प्रायः अप्रैल-मई से होता है और अक्टूबर-नवम्बर में यात्रा मार्ग बन्द हो जाता है।[१]

१—उत्तराखंड के चार तीर्थ धाम —यमुनोत्री, गंगोत्री, केदारनाथ और बदरीनाथ की यात्रा के लिये उत्तरप्रदेश के हरद्वार-ऋषीकेश से मोटर-बस मिलती है।

यमुनोत्री—समुद्र स्तर से प्रायः १०,००० फीट की ऊँचाई पर है। इस यात्रा मार्ग के ऋषीकेश से गंगाणी समीप तक मोटर-बस जाती है। शेष—प्रायः २५ मील पैदल यात्रा करनी पड़ती है।

गंगोत्री— समुद्र स्तर से प्रायः १०,०२० फीट। इस यात्रा मार्ग में भटवाडी तक मोटर-बस जाती है। शेष प्रायः ३६ मील पैदल यात्रा करनी पड़ती है।

गंगोत्री से गोमुख [गंगा का उद्गम स्थान] १८ मील दूर है। मार्ग अत्यन्त कठिन है। अगस्त-सितम्बर में मार्ग कुछ अच्छा [कम बर्फवाला] रहता है। गंगोत्री से कुशल मार्गदर्शक के नेतृत्व में ही यहाँ की यात्रा करनी चाहिये। कुछ वर्षों से कतिपय साहसिक पहाड़ी लोग एवं साधु-महात्मा गोमुख से हिमाच्छादित पर्वतों को लाँघकर 'सतोपथ' या 'सत्यपथ' [स्वर्गारोहण—जहाँ पांडवों ने महाप्रस्थान किया था] होकर बदरीनाथ की यात्रा करते हैं। यात्रा अत्यन्त कठिन है और ३–४ दिन में पूर्ण होती है। यात्रा समय अगस्त-सितम्बर मास है। फिर भी इस समय में परिवर्तन हवामान पर निर्भर है।

२—जालन्धर खण्ड :—इस खण्ड के मुख्य तीर्थ क्षेत्र हैं :—१–ज्वालामुखी, २–कांगड़ा देवी, ३–बैजनाथ महादेव, ४–चिन्तपूर्णी आदि। यात्री इन तीर्थों में पठानकोट से मोटर-बस द्वारा जाते हैं। यात्रा के लिए वर्ष भर मार्ग खुला ही रहता है। कारण इस मार्ग में हिमाच्छादित ऊँचे कोई पहाड़ नहीं है। मोटर मार्ग यात्रियों की सुविधा के लिए है।

३—कुमाऊँ खण्ड (कूर्मांचल प्रदेश):—इस खण्ड के प्रमुख तीर्थ-क्षेत्र हैं :—१–जागेश्वर, २–बागेश्वर, ३–बैजनाथ, ४–नन्दादेवी आदि। जागेश्वर, बैजनाथ और बागेश्वर में तो यात्री वर्ष भर जा सकते हैं और मोटर मार्ग भी है। कुमाऊँ प्रदेश को

केदारनाथ—इस यात्रामार्ग में गुप्तकाशी तक मोटर-बस चलती है। शेष मार्ग–२९ मील पैदल-यात्रा का है।

बदरीनाथ—इस मार्ग में जोशीमठ (ज्योतिर्मठ) तक मोटर-बस जाती है। शेष मार्ग–प्राय: १९ मील पैदल यात्रा का है। यात्री को इस मार्ग में कंडी, डंडी, घोड़े, खच्चर आदि किराये पर मिलते हैं। बदरीनाथ तक मोटर-बस का मार्ग बन रहा है जिससे एक-दो साल में मोटर-बस द्वारा यात्री आसानी से बदरीनाथ की यात्रा कर सकेगा। यहाँ से 'सतोपथ' (स्वर्गारोहण) प्रायः १८ मील दूर है, यात्रामार्ग अत्यन्त कठिन है। कुशल मार्गदर्शक के नेतृत्व में ही यात्रा करनी चाहिये। यात्रा समय अगस्त-सितम्बर का महीना है।

ऋषिकेश से यमुनोत्री, गङ्गोत्री, केदार नाथ और बदरी नाथ की चार धामकी-पैदल यात्रा करने वाले व्यक्तिको सब मिलकर प्राय: ६०८ मील चलना पड़ता है। जैसे कि—

ऋषिकेश से यमुनोत्री—११८ मील
यमुनोत्री से गङ्गोत्री—९८½ मील
गङ्गोत्री से केदार नाथ—१२३ मील
केदारनाथ से बदरीनाथ—१०१ मील
बदरीनाथ से ऋषिकेश—१६७½ मील

कुल ६०८ मील

पारकर हिमाच्छादित गिरिमालाएँ लाँघकर पश्चिम तिब्बत स्थित कैलास-मानसरोवर यात्रार्थ विभिन्न मार्गों से जाने के लिए विभिन्न ऋतुएँ नियत हैं। जैसे—अलमोड़ा से असकोट, धारचूला और गरब्याङ् होकर लिपु-ला पार करने का योग्य समय जून के प्रारम्भ का है। इस मार्ग से १५ अगस्त तक अच्छी तरह यात्रा की जा सकती है। कुछ तिब्बती लोग मई से यात्रा का प्रारम्भ कर देते हैं और अगस्त के बाद तक, जब तक हिमपात से मार्ग बन्द न हो जाय तब तक, इस मार्ग से आते-जाते हैं। दूसरा मार्ग जो नैनीताल से बागेश्वर, ऊँटाधूरा, जयन्ती, कुंगरी-बिंगरी पार करके जाता है, उसके खुलने का योग्य समय प्रायः जुलाई का प्रारंभ है। कारण इस मार्ग के हिमाच्छादित पर्वतों पर विलम्ब से बर्फ पिघलती है। इस प्रदेश के अन्यान्य मार्गों के यात्रा समय में भी बहुत कुछ अन्तर रहा करता है।[१]

४—कश्मीर खण्ड—इस खंड के प्रमुख तीर्थ स्थान हैं:—१-वैष्णवी देवी, २-क्षीरभवानी, ३-मार्तण्ड, ४-अमरनाथ आदि। वैष्णवीदेवी की यात्रा के लिये जम्मू से मोटर-बस द्वारा कटरा (३० मील) जाना पड़ता है। वहाँ से प्रायः १२ मील पहाड़ पर पैदल यात्रा करनी पड़ती है। मार्ग दुर्गम है। घोड़े, खच्चर किरांये पर मिल जाते हैं। क्षीरभवानी और मार्तण्ड के लिये श्रीनगर से मोटर-बस मिलती है। अमरनाथ की यांत्रा का मार्ग प्रायः जुलाई से खुल जाता है, जो अगस्त के कुछ दिन तक खुला रहता है। फिर भी हवामान पर समय परिवर्तन सम्भव है। यात्रीगण श्रावणी पूर्णिमा के ५ दिन पूर्व श्रीनगर से मोटर-बस द्वारा पहलगाँव पहुँच जाते हैं और कश्मीर शासन के तत्त्वावधान में यात्रीसंघ के साथ

---

[१] —कैलास यात्रा के इस मार्ग में एक स्थान से हिमाच्छादित नन्दादेवी के अद्भुत दर्शन होते हैं। साहसिक पर्यटक बागेश्वर से गरुड, ग्वालदम होकर वाणग्राम से 'रूपकुंड' (समुद्रतल से प्रायः २०,००० फीट) जा सकते हैं। इसके लिये योग्य समय प्रायः अगस्त-सितम्बर है। इस वर्ष सितम्बर में वर्षा और अधिक हिमपातसे 'रूपकुण्ड' का मार्ग शीघ्र बन्द हो गया था। वाणग्राम से कुशल मार्गदर्शक के साथ ही 'रूपकुण्ड' जाना उचित है।

श्रावणी पूर्णिमा को अमरनाथ की गुफा[1] में पहुँच जाते हैं तथा भगवान् के हिमलिंग [रसलिंग] का दर्शन कर उसी दिन नीचे की पञ्चतरणी चट्टी पर वापस लौट आते हैं, कारण वहाँ गुफा में अधिक ठंड और निवास की सुविधा का अभाव है, कभी-कभी यात्रा मार्ग वर्षा और हिमपात से जल्द बन्द हो जाता है। पहलगाँव से अमरनाथ प्रायः २७ मील है। इस यात्रा में यात्री को पहलगाँव से घोड़े, डंडी, कंडी, बरसाती, टैन्ट इत्यादि किराये पर मिल जाते हैं; मेले के समय मार्ग की चट्टियों पर चाय, भोजन, आदि पेय एवम् खाद्य पदार्थों की दुकानें लगती हैं। चट्टियों पर सरकारी डाक बँगले भी हैं। अधिकांश यात्री पहलगाँव से 'छड़ी' [शिवध्वज] युक्त साधु-यात्रा-संघ के साथ-साथ यात्रा करते हैं जिससे उनको कश्मीर सरकार और कश्मीर नरेश के धर्मार्थ द्वारा यात्रा-संघ को प्रतिवर्ष दी जानेवाली सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। ये सुविधाएँ डाक, तार, बैङ्क, अस्पताल, पुलिस, खाद्य सामग्री इत्यादि हैं।

५. नेपालखण्ड :—इस खण्ड के प्रमुख तीर्थ स्थान हैं:— १–पशुपतिनाथ, २–मुक्तिनाथ, ३–दामोदर कुण्ड आदि। दामोदर कुण्ड का मार्ग प्रायः अगस्त से खुलता है। फिर भी सब कुछ हवामान पर निर्भर है। दामोदर कुण्ड गण्डकी नदी [नारायणी] का उद्गम स्थान है और यहाँ शालिग्राम शिला प्रचुर परिमाण में पायी जाती है[2]।

१—समुद्र तल से १२७२९ फीट की ऊँचाई पर स्थित है। गुफा प्रायः ७५ फीट ऊँची और ८० फीट गहरी है उसका अग्रभाग परिमाण में चारों ओर से प्रायः ४० गज है।

२—पशुपतिनाथ [काठमंडू] की यात्रा वर्ष में किसी समय की जाती है। किन्तु शिवरात्रि के अवसर पर यात्रा करना अति उत्तम है। मुक्तिनाथ और दामोदरकुण्ड की यात्रा का उत्तम समय अगस्त-सितम्बर है। यहाँ की यात्रा के लिये काठमंडू से हवाई जहाज द्वारा पोखरा आकर वहाँ से मुक्तिनाथ के लिये पैदल यात्रा करनी पड़ती है [प्रायः ४८ मील]। मुक्तिनाथ का एक मार्ग गोरखपुर से मोटर-बस द्वारा बुटवल आकर और वहाँ से पैदल यात्रा का है [६४ मील]। मुक्तिनाथ से दामोदरकुण्ड प्रायः १६ मील है।

कैलास-मानसरोवर मार्ग

श्री कैलास-मानसरोवर यात्रा के लिए भारत से सुगम एवं दुर्गम प्रायः २० मार्ग हैं, जिनमें १० तो अत्यन्त विकट और पहाड़ियों द्वारा ही व्यवहृत हैं। शेष १० मार्गों में प्रायः ४ या ५ मार्ग ऐसे हैं, जहाँ कुछ साहसी यात्री कुशल पहाड़ी मार्ग-दर्शक की सहायता से या तिब्बत में व्यापारार्थ जाने वाले भारतीय भोटियों के साथ जा सकते हैं। कैलास के सभी मार्गों में अलमोड़ा से असकोट, धारचूला, गर्ब्याङ् होकर हिमाच्छादित लिपू-ला [१६७५० फुट] पारकर तिब्बत में प्रवेश करने वाला मार्ग यात्रियों के लिए सुगम और कम लम्बा है। इस मार्ग में व्यापारियों एवं यात्रियों की चलह-पहल अधिक रहती है। इस मार्ग के पर्वतीय ग्रामों एवं शहरों में यात्रियों को यात्रा में आवश्यक खाद्य-सामग्री भी बहुत कुछ सुलभ हो जाती है। यही एक मार्ग है, जिसे भारत एवं चीन सरकार ने यहाँ की यात्रा के लिए मान्य किया है। कैलास-यात्रा के कुछ विभिन्न मार्ग निम्नलिखित हैं—

१—अलमोड़ा से धारचूला, गर्ब्याङ् होकर लिपू-ला [१६७५० फुट] पारकर पश्चिम तिब्बत के ताकला-कोट होकर मानसरोवर एवं कैलास।[1] कुल मील—२३६।

२—अलमोड़ा से धारचूला, खेला, दरमाघाटा [१८५१० फुट] पारकर पश्चिम तिब्बत की ज्ञानिमा-मण्डी होकर कैलास एवं मानसरोवर। कुल मील २३०।

३—अलमोड़ा से नैनीताल, बागेश्वर, मिलम, ऊँटाधूरा [१७५९० फुट] जयन्ती घाटा [१८५०० फुट] और कुंगरी-बिंगरी घाटा [१८३०० फुट] पारकर पश्चिम तिब्बत की ज्ञानिमा-मण्डी होकर कैलास, मानसरोवर।[2] कुल मील २१०।

---

[1] १—इस मार्ग से स्वामी श्री प्रणवानन्द जी ने बहुत वर्षों तक यात्रीसंघ का नेतृत्व किया है। इस मार्ग से श्री नारायण स्वामीजी [श्री नारायणाश्रम, सोसा] ने प्रायः आठ या दस बार यात्रीसंघ का नेतृत्व किया है। और भी कुछ महात्मा लोग यात्रीसंघ के साथ यहाँ से गये हैं।

[2] २—इस मार्ग से नैनीताल के स्वामी श्री विद्यानन्दजी प्रायः १५-२० वर्षों से प्रति-वर्ष यात्रीसंघ का नेतृत्व करते आ रहे हैं।

४—जोशीमठ [बदरीनारायण यात्रा—मार्ग] से गून-ला-नीतिघाटा [१२६८० फुट] पारकर पश्चिम तिब्बत के नाब्रा-मण्डी होकर कैलास, मानसरोवर। कुल मील २०० ।

५—जोशीमठ से होती–नीतिघाटा [१३२६० फुट] पारकर पश्चिम तिब्बत के सीबचीलिममण्डी होकर कैलास, मानसरोवर।[३] कुल मील १६० ।

६—बदरीनारायण से माना घाटा [१८४०० फुट] पारकर पश्चिम तिब्बत के थोलिंगमठ होकर कैलास, मानसरोवर। कुल मील १३८।

७—मखुआ [गंगोत्री-यात्रा मार्ग] से नेलंग, जेलूखागा-घाटा [१७४६० फुट] पारकर पुलिंग और थोलिंग होकर कैलास, मानसरोवर। कुल मील–१४३।

इनके अलावा हिमांचल प्रदेश के शिमला से रामपुर, शिपकी-ला [१५४०० फुट,] शिरिंग-ला [१६४०० फुट] और लोआचे-ला [१८५१० फुट] पारकर पश्चिम तिब्बत के गरतोक होकर [कुल मील–४४५] और श्रीनगर [कश्मीर] से लेह-लद्दाख होकर [६०५ मील] तथा नेपाल के काठमाण्डू से मुक्तिनाथ होकर [५२५ मील] कैलास, मानसरोवर जाया जा सकता है। एक मार्ग कुल्लू, कांगडा से रामपुर होकर पश्चिम तिब्बत के थोलिंगमठ से जाता है। और भी कितने ही अप्रसिद्ध छोटे-बड़े मार्ग हैं।

जैसे भिन्न-भिन्न स्थानों में से निकली हुई नदियाँ आखिर सागर में जा मिलती हैं वैसे ही भारत के ये सभी यात्रामार्ग यात्रीको पुण्यपुञ्ज श्री कैलास के सांनिध्य में पहुँचा देते हैं।

—क्रमशः

---

[३] —एक मार्ग जोशीमठ से डमजन-नीतिघाटा [१६२०० फुट] पार करके कैलास, मानसरोवर जाता है।

योगसाधना में अभ्यास तथा वैराग्य*

डॉ० शान्ति प्रकाश आत्रेय, एम० ए०, पी-एच० डी०

अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा उत्तम अधिकारी समाधि अवस्था प्राप्त कर सकते हैं। अभ्यास तथा वैराग्य ही चंचल चित्त को शांत करने के साधन हैं। चित्त का विषयों की तरफ़ होने वाला बहिर्मुखी प्रवाह वैराग्य के द्वारा रुकता है। तथा विवेक-ज्ञान की तरफ़ उसे अभ्यास के द्वारा प्रवृत्त किया जाता है। गीता में अर्जुन ने श्रीकृष्ण जी से कहा कि :—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥६।३३॥
चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥६।३४॥

हे मधुसूदन, मन की चंचलता के कारण मुझे तुम्हारा बतलाया हुआ साम्य-बुद्धि से सिद्ध होने वाला यह योग, स्थिर रहने वाला नहीं प्रतीत होता है ॥६।३३॥

हे कृष्ण ! मन का निग्रह करना वायु के निग्रह करने के समान ही अत्यधिक कठिन प्रतीत होता है, क्योंकि यह (मन) चंचल, हठीला, बलवान् तथा दृढ़ है ॥६।३४॥

इसके उत्तर में श्रीकृष्ण जी ने कहा है :—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥६।३५॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥६।३६॥

---

* विशद विवेचन के लिये हमारा "भारतीय मनोविज्ञान" नामक ग्रंथ देखने का कष्ट करें।

हे महाबाहो ! मन निस्सन्देह चंचल और दुर्निग्रह है और कठिनता से वश में आनेवाला है। किन्तु हे कुन्तीपुत्र, इसे अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा वश में किया जा सकता है ।।६।३५।।

मेरे विचार से बिना मन के वश में हुए यह योग प्राप्त होना कठिन है, किन्तु मन को वश में करने वाले प्रयत्नशील व्यक्ति को यह साधन द्वारा प्राप्त हो सकता है ।। ६।३६ ।।

वृत्तियों का प्रवाह चित्तरूपी नदी में निरन्तर बहता रहता है। इस चित्त-नदी की वृत्तियों के प्रवाह की दो धारायें हैं। एक धारा संसार चक्र को चलाती रहती है। वह (वृत्तियों का प्रवाह) ही व्यक्ति को जन्म-मृत्यु के चक्र में घुमाती रहती है। वह वृत्तियों की धारा संसार सागर की तरफ जाती है। दूसरी धारा वह है, जो व्यक्ति को विवेक-ज्ञान प्रदान करके मुक्ति की तरफ ले जाती है। इस प्रकार चित्तरूपी नदी भीतर तथा बाहर दोनों तरफ को बहने वाली है। विषयों की तरफ बहने वाली बहिर्मुखी धारा है, जो भोग प्रदान कराती है। दुःख देने वाली होने के कारण यह धारा पापवहा कही गयी है। इस धारा का प्रवाह अत्यधिक तीव्र है। इसके तीव्र गति से चलते हुये दूसरी मोक्ष की तरफ बहने वाली धारा का, जो कि कल्याणवहा कही जाती है, बहना नहीं हो सकता। जब तक वैराग्यरूपी बाँध से पापवहा धारा को रोका नहीं जायेगा तथा अभ्यासरूपी फावड़े से निरन्तर कल्याणवहा धारा का मार्ग साफ नहीं किया जायेगा, तब तक चित्त नदी की मोक्ष प्रदान करने वाली कल्याणवहा धारा का प्रयास प्रारम्भ नहीं हो सकेगा। अनादिकाल से विषयों की तरफ बहने के कारण पापवहा अधिक गहरी हो गई है, अतः कल्याणवहा का प्रवाह जारी नहीं हो पाता। जैसे एक नदी की दो धाराओं में से एक तरफ ही नदी बह रही हो तो दूसरी तरफ की धारा तब तक प्रवाहित नहीं होगी जब तक कि बहने वाली धारा में बाँध नहीं बाँधा जायेगा, ठीक उसी प्रकार जब तक संसार सागर की तरफ बहने वाली चित्त नदी की धारा को वैराग्य रूपी बाँध से नहीं रोका जायेगा तब तक मोक्ष की तरफ प्रवाह जारी नहीं होगा। जैसे जैसे वैराग्य के द्वारा बाँध लगाया जावेगा तथा साथ साथ अभ्यासरूपी बेलचे से खोद कर मार्ग बनाया जावेगा वैसे वैसे कल्याण

सागर की तरफ जाने वाली धारा का प्रवाह बढ़ता जावेगा तथा संसार सागर की तरफ ले जाने वाली धारा का प्रवाह कम होता जावेगा। अतः अभ्यास और वैराग्य दोनों की ही आवश्यकता मोक्ष प्राप्त करने में पड़ती है।

पूर्व जन्मों के विषय भोग के लिये किये गये कामों के संस्कारों की वृत्तियाँ भी विषयों की तरफ ले जाती हैं। कैवल्य के लिये किये गये पूर्व जन्म के पुरुषार्थ विवेक की तरफ ले जाते हैं। विषय मार्ग तो जन्म से ही खुला रहता है। किन्तु विवेक मार्ग को खोलने के लिये अभ्यास का कुदार उठाना पड़ता है तथा विषय मार्ग पर वैराग्यरूपी बाँध लगाना पड़ता है। जब वैराग्य का पूर्ण बाँध लग जाता है जिससे कि वृत्तियाँ विषयों की तरफ जाती ही नहीं तथा अभ्यासरूपी फावड़े से विवेक मार्ग को खूब गहरा खोद लिया जाता है, तब वृत्तियों का सारा प्रवाह बड़ी तीव्र गति से विवेक मार्ग से बहने लगता है और अन्ततोगत्वा मोक्ष प्रदान करता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि चित्तवृत्ति निरोध के लिये अभ्यास तथा वैराग्य दोनों की, साथ साथ ही, जरूरत होती है। एक के बिना दूसरा कुछ भी नहीं कर सकता। रजोगुण तथा तमोगुण के कारण विवेक की तरफ व्यक्ति नहीं चल पाता। रजोगुण के द्वारा प्रदान किया हुआ वृत्तियों का चांचल्य वैराग्य के द्वारा, तथा तमोगुण के द्वारा प्रदान किये हुये आलस्य, मूढ़ता आदि, अभ्यास के द्वारा दूर किये जाते हैं। वैराग्य से चित्त की बहिर्मुखी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी तो अवश्य हो जाती हैं किन्तु बिना अभ्यास के चित्त स्थिर नहीं हो पाता। अतः बिना दोनों के चित्त वृत्तियों का निरोध नहीं हो सकता। भोग मार्ग में वैराग्य के द्वारा रुकावट डाली जाती है, तथा अभ्यास के द्वारा मोक्ष मार्ग खोला जाता है।

जो प्रयत्न, पूर्ण उत्साह तथा सामर्थ्य से चित्त को स्थिर करने के लिये किया जाता है उसे अभ्यास कहते हैं।[१] योग के यम नियम आदि बाह्य तथा आन्तर साधनों को निरन्तर पालन करते रहना ही अभ्यास का स्वरूप है, तथा समाधि

---

[१] यो. सू. समाधि पाद, सूत्र १३, भाष्य।

(चित्त वृत्तियों का निरोध) ही अभ्यास का प्रयोजन है। चित्त में सत्त्व प्रधान वृत्तियों का, राजस तथा तामस वृत्तियों को पूर्णतया दबाकर चलनेवाला, निरन्तर प्रवाह चित्त-स्थिति को प्राप्त कराता है। चित्त-स्थिति, चित्त का वृत्तिरहित शान्त प्रवाह है। इस स्थिति में चित्त सुखी या दु:खी नहीं होता। संसार के विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) ऐसे चित्त में सुख दु:ख पैदा नहीं कर सकते। चित्त एकाग्र हो जाता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि अनादि काल से चली आ रही स्वाभाविक चंचल चित्त वृत्तियों का निरोध अभ्यास के द्वारा कैसे हो सकता है। अभ्यास में अपार शक्ति है। अभ्यास के लिए कुछ भी दु:साध्य नहीं है। संसार के समस्त कार्य अभ्यास से सुलभ हो जाते हैं। अभ्यास हमारी प्रकृति के विरुद्ध कार्यों को भी करवा देता है। विष भी, जिसके सेवन से मृत्यु हो जाती है, अभ्यास से अविष (अमृत) बन जाता है। विषों का कम मात्रा से सेवन प्रारम्भ करके अभ्यास करने पर वे खाने वालों की प्रकृति के अंग बन जाते हैं। लेखक ने हरिद्वार में एक विषपान करनेवाले को देखा था जो अफीम आदि से नशा न होने के कारण अपने पास डिबिया में रक्खे एक अति विषैले सर्प से अपनी जीभ में कटवाकर ही अपनी बेचैनी को दूर कर पाता था। नट तथा सरकस का तमाशा देखने से भी स्पष्ट हो जाता है कि अभ्यास के द्वारा बहुत अद्भुत कार्य हो सकते हैं। अभ्यास के द्वारा पशुओं से भी अनोखे-अनोखे कार्य करवा लिये जाते हैं। इसी प्रकार से नित्य निरन्तर विवेक ज्ञान के अभ्यास से साधक का चित्त भी स्थिरता को प्राप्त हो जाता है। सत्य तो यह है कि भोगजन्य होने से, चित्त-चांचल्य आगन्तुक है, नैसर्गिक नहीं। नैसर्गिक आगन्तुक से बलवान् होता है। बलवान् से सदैव निर्बल का बाध होने के नियमानुसार चित्त को अभ्यास से स्थिर किया जा सकता है। योगवासिष्ठ में भी अभ्यास के विषय में कहा गया है—

> दु:साध्याः सिद्धिमायान्ति रिपवो यान्ति मित्रताम्।
> विषाण्यमृततां यान्ति संतताभ्यासयोगतः॥ योगवा०॥६ ६७।३३॥
> दृढाभ्यासाभिधानेन यत्ननाम्ना स्वकर्मणा।
> निजवेदनजेनैव सिद्धिर्भवति नान्यथा॥ योगवा०॥६।६७।४६॥

अभ्यास का ऐसा महत्त्व है कि बराबर अभ्यास (यत्न) के करते रहने से असम्भव भी सम्भव हो जाता है, शत्रु भी मित्र हो जाते हैं; तथा विष भी अमृत हो जाता है ।।योगवा०।६।६७।३३।।

यत्न नाम वाले अपने ही पुरुषार्थ से, जिसका नाम दृढ़ अभ्यास है, मनुष्य को संसार में सफलता प्राप्त होती है, अन्य किसी साधन से नहीं ।। योगवा०।६।६७.४४।।

किसी हिन्दी कवि ने ठीक कहा है :—

करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान ।
रसरी आवत जात से सिल पर पड़त निशान ।।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि अभ्यास से सब कुछ सुलभ है। किन्तु फिर भी अनन्त जन्मों की भोगवृत्तियों के बलवान, चित्त के एकाग्रता विरोधी, संस्कारों से केवल इसी जन्म का अर्थात् थोड़े काल का अभ्यास कैसे छुटकारा दिला सकता है ? मनुष्य के चित्त में अनादि काल से, अर्थात् जन्म-जन्मान्तरों से, विषय भोगों के संस्कार पड़ते चले आ रहे हैं; अतः वे थोड़े समय में नष्ट नहीं हो सकते। इसलिए अभ्यास में जरा सी भी असावधानी नहीं होनी चाहिये ।[1] असावधानी से व्युत्थान संस्कार प्रबल होकर निरोध संस्कारों को दबा सकते हैं । इसीलिये योग में अभ्यास को अत्यधिक प्रबल बनाने के लिये धैर्य के साथ बहुत समय तक नियमित रूप से सात्त्विक श्रद्धा, भक्ति और उत्साह के साथ निरन्तर व्यवधान रहित अभ्यास करते रहना चाहिये ।[2] इस प्रकार से किये गये अभ्यास के द्वारा व्युत्थान संस्कार दबाये जा सकते हैं । यहाँ पर अधिक समय का अर्थ कुछ वर्षों से नहीं है, बल्कि अनेक जन्मों तक से है । हर व्यक्ति को शीघ्र समाधि लाभ नहीं होता । इससे निराश होकर अभ्यास से मुख नहीं मोड़ना चाहिये । धैर्य पूर्वक उसके लिये चिर काल तक अभ्यास जारी रखना चाहिये । गीता में भी श्रीकृष्ण ने कहा है :—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ।। गी० ६-२३ ।।

---

१. समाधि पाद, सूत्र १४, भाष्य

उस स्थिति को जिसमें दुःख संयोग का वियोग होता है योग की स्थिति कहते हैं। इस योग का आचरण निश्चय से बिना मन को उकताये हुये करना चाहिये। ॥ गी० ६-२३ ॥

माण्डूक्य उपनिषद् के ऊपर गौडपाद कारिका के अद्वैत प्रकरण की ४१वीं कारिका में भी इसी प्रकार का भाव व्यक्त है—

उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकविन्दुना ।
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥ मा. का., अ. प्र. ४१॥

"जिस प्रकार से धैर्य पूर्वक समुद्र को (समुद्र के जल को) कुशा के अग्रभाग से एक एक बूँद करके फेंका जा सकता है उसी तरह से समस्त खेद त्याग देने पर मन का निग्रह भी किया जा सकता है।" इस विषय में टिटिहरी का एक बहुत सुन्दर उपाख्यान है, जिसने अपने बच्चों के समुद्र द्वारा ले लिये जाने पर समुद्र को, चाहे जितने काल में हो, अपनी चोंच से पानी निकाल-निकाल कर सुखाने का प्रण किया था। ऐसे खेदरहित निश्चय के प्रताप से समस्त पक्षियों की तथा पक्षीराज गरुड़ जी की सहायता प्राप्त होने पर उसे समुद्र ने उसके बच्चे दे दिये थे। दूसरी बात यह है कि अभ्यास निरन्तर व्यवधान रहित होना चाहिये, क्योंकि कभी किया और कभी न किया हुआ अभ्यास कभी भी दृढ़ नहीं हो पाता। तीसरी बात यह है कि बहुत काल तक व्यवधान रहित निरन्तर किया हुआ अभ्यास भी बिना श्रद्धा, भक्ति, ब्रह्मचर्य, तप, वीर्य और उत्साह के दृढ़ होकर भी चित्त को स्थिरता प्रदान नहीं कर सकता है। अतः अभ्यास श्रद्धा, भक्ति, ब्रह्मचर्य, तप, वीर्य तथा उत्साह के साथ बहुत काल तक व्यवधान रहित निरन्तर किया जाना चाहिये। इस प्रकार का अभ्यास पूर्ण फल को देनेवाला होता है। जिस प्रकार तप, सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक होने से तीन प्रकार का होता है, उसी प्रकार श्रद्धा, भक्ति आदि भी सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक भेद से तीन प्रकार की होती हैं। अभ्यास में सात्त्विक श्रद्धा तथा भक्ति आदि होनी चाहिये। सत्य तो यह है कि बिना श्रद्धा के मनन नहीं हो सकता और बिना निष्ठा के श्रद्धा नहीं हो सकती।

अभ्यास के विवेचन के बाद वैराग्य के विषय में विवेचन करना आवश्यक है। क्योंकि विना वैराग्य के अभ्यास भी कठिन है।

अपर और पर दो प्रकार का वैराग्य होता है। अपर वैराग्य के बिना पर वैराग्य सम्भव नहीं है। अपर वैराग्य समस्त विषयों से तृष्णा रहित होना है। विषय दो प्रकार के होते हैं। एक तो सांसारिक विषय, जैसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध अर्थात् धन, स्त्री, ऐश्वर्य तथा अन्य विषयभोग की सामग्रियाँ आदि, दूसरे विषय वेदों तथा शास्त्रों के द्वारा वर्णित स्वर्गादि सुख। कहने का अर्थ यह है कि समस्त जड़ चेतन लौकिक विषयों तथा समस्त सिद्धियों सहित दिव्य विषयों से राग रहित होना ही अपर वैराग्य है। समस्त विषयों के प्राप्त होने पर भी उनमें आसक्त न होना वैराग्य है। अप्राप्त विषयों का त्याग वैराग्य नहीं कहा जा सकता है। अनेक कारणों से विषय अरुचिकर तथा त्याज्य हो सकते हैं। अरुचिकर न होते हुये भी बहुत से विषयों को बाध्य होकर त्यागना पड़ता है। रोगों के कारण बाध्य होकर परहेज करना पड़ता है। न मिलने पर तो इच्छा होते हुये भी व्यक्ति विषयों का भोग नहीं कर सकता। अपने से बड़ों की आज्ञा के कारण भी त्याग करना पड़ता है। अधिकतर तो भय के कारण व्यक्ति विषयों का त्याग करता है। कितने ही विषय लोभ, मोह तथा लज्जा के कारण त्यागने पड़ते हैं। प्रतिष्ठा के कारण मनुष्य को अनेक विषयों से अपने आपको मोड़ना पड़ता है। किन्तु ये सब त्याग वैराग्य नहीं कहे जा सकते, क्योंकि इन त्यागों में विषयों की तृष्णा का त्याग नहीं हो पाता। चित्त में सूक्ष्म रूप से तृष्णा का बना रहना वैराग्य कैसे कहा जा सकता है ? वैराग्य तो समस्त विषयों से पूर्ण रूप से तृष्णा रहित होना है। चित्त को विषयों में प्रवृत्त कराने वाले रागादि कषाय हैं जिन्हें चित्तमल कहा जाता है। इन चित्तमलों के द्वारा राग-कालुष्य, ईर्ष्या-कालुष्य, परापकार-चिकीर्षा-कालुष्य, असूया-कालुष्य, द्वेष-कालुष्य और अमर्ष-कालुष्य ये ६ कालुष्य पैदा होते हैं।

सुख प्रदान करने वाले विषयों को सर्वदा चाहने वाली राजस वृत्ति को राग कहते हैं, जिसके कारण विषयों के न प्राप्त होने से चित्त मलिन हो जाता है। मैत्री

भावना से राग-कालुष्य तथा ईर्ष्या-कालुष्यता का नाश होता है। मित्रसुख को अपना सुख मानने से उन समस्त सुख प्रदान करने वाले विषयों को भोगनेवाले में मित्र भावना करके राग कालुष्य को नष्ट किया जाता है। ऐश्वर्य से होने वाली चित्त की जलन भी जिसे ईर्ष्या कालुष्य कहते हैं, मैत्री भावना से नष्ट हो जाती है क्योंकि मित्र का ऐश्वर्य अपना समझा जाता है। चित्त को कलुषित करने वाली अपकार करने की भावना (परापकार चिकीर्षा-कालुष्य) करुणा भावना से नष्ट की जाती है। गुणों में दोष देखने की प्रवृत्ति अर्थात् असूया-कालुष्य, पुण्यवान् या गुणवान् पुरुषों के प्रति हर्ष भावना के होने से नष्ट होती है। पापी तथा दुष्टात्मा व्यक्ति के प्रति उदासीनता की भावना रखने से द्वेष तथा बदला लेने वाली भावना (अमर्ष कालुष्य) नष्ट हो जाती है। इन समस्त मलों के नष्ट होने पर ही व्यक्ति विषय में प्रवृत्त नहीं होता। प्रयत्न से धीरे धीरे मलों के नष्ट होने के कारण अपर वैराग्य की चार श्रेणियाँ हो जाती हैं। १—यतमान, २- व्यतिरेक, ३—एकेन्द्रिय, ४—वशीकार।

१—यतमान—मैत्री आदि भावना के अनुष्ठानों से राग-द्वेष आदि समस्त मलों के नाश करने के प्रयत्नों के प्रारम्भ को यतमान वैराग्य कहते हैं। इसमें व्यक्ति दोषों का निरन्तर चिन्तन तथा मैत्री आदि का अनुष्ठान करता है जिससे इन्द्रियाँ विषयाभिमुख नहीं होतीं।

२—व्यतिरेक—निरन्तर प्रयत्न करते रहने पर व्यक्ति के कुछ मल जल जाते हैं कुछ बाकी रह जाते हैं। इन नष्ट होने वाले तथा बाकी रहने वाले मलों का अलग अलग ज्ञान ही व्यतिरेक वैराग्य है।

३—एकेन्द्रिय—इन्द्रियों को जब चित्त-मल विषयों में प्रवृत्त नहीं कर पाते किन्तु विषयों के सम्बन्ध होने पर चित्त में क्षोभ की सम्भावना बनी रहती है, क्योंकि चित्त में वे सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहते हैं, तब उस वैराग्य को एकेन्द्रिय वैराग्य कहते हैं।

४—वशीकार— जब चित्त में सूक्ष्म रूप से भी मल नहीं रह जायें तथा किसी विषय की उपस्थिति में भी उसके प्रति उपेक्षा बुद्धि बनी रहे तो वशीकार नामक

वैराग्य होता है। इसके अन्तर्गत उपर्युक्त तीनों वैराग्य आ जाते हैं। इस अपर वैराग्य के द्वारा सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि होती है। सम्प्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा विवेक ख्याति है। विवेक ख्याति चित्त तथा पुरुष का भेद-ज्ञान है जो त्रिगुणात्मक चित्त की वृत्ति होते हुये भी एक सात्त्विक वृत्ति है। किन्तु वह है तो वृत्ति ही। अतः इसका भी निरोध आवश्यक है। इसका निरोध पर वैराग्य द्वारा होता है। अपर वैराग्य के द्वारा इन्द्रिय निग्रह होकर समस्त बाह्य विषयों का त्याग हो जाता है। अपर वैराग्य से सम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा विवेक-ख्याति उत्पन्न होती है। सत्त्वगुण प्रधान विवेक ख्याति वृत्ति से भी तृष्णा रहित होने को पर वैराग्य कहते हैं। पर वैराग्य असम्प्रज्ञात समाधि का साधन है। पर वैराग्य समस्त गुणों से तृष्णा रहित होना है। लौकिक तथा पारलौकिक समस्त विषयों में दोष दृष्टि हो जाने पर उनसे विरक्ति हो जाती है। इस विरक्ति को ही वैराग्य कहते हैं। इस अवस्था में विषयों में राग नहीं रह जाता। विषयों से राग रहित हो जाने पर उनकी तृष्णा समाप्त हो जाती है, और चित्त अभ्यास के द्वारा शान्त होकर एकाग्र हो जाता है। बहिर्मुखी वृत्तियाँ वैराग्य द्वारा अन्तर्मुखी होती हैं तथा अभ्यास द्वारा अन्तर्मुखी वृत्तियों का निरोध होकर चित्त एकाग्रावस्था को प्राप्त होता है। यह एकाग्रावस्था ही सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। इस एकाग्रावस्था की पराकाष्ठा पुरुष-चित्त भेद-ज्ञान रूपी विवेक ख्याति है। विवेक ख्याति के अभ्यास के निरन्तर चलते रहने पर चित्त निर्मल होता रहता है। जब चित्त अत्यन्त निर्मल हो जाता है तब विवेक ख्याति स्वयं भी गुणों के परिणाम रूप चित्त की सात्त्विक वृत्ति प्रतीत होने लगती है जिससे इससे भी वैराग्य पैदा हो जाता है। इसे ही पर वैराग्य कहते हैं। इसमें गुणों का बिल्कुल सम्बन्ध न होने से इसे ज्ञानाप्रसादमात्र कहा जाता है। यह ज्ञान की पराकाष्ठा है। अभ्यास के निरन्तर जारी रहने पर चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध होकर असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। अतः पर वैराग्य के द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था पर पहुँच कर योगी अपने पञ्च क्लेशों से निवृत्त होकर, संसार चक्र के समस्त बन्धन टूटे हुये समझने लगता है। जो प्राप्ति योग्य था, वह सब प्राप्त हुआ, ऐसा समझने लगता है। पर-वैराग्य के निरन्तर अभ्यास

से ही असम्प्रज्ञात समाधि स्थिर होती है तथा मोक्ष प्राप्त होता है। इस स्थिति पर पहुँच कर अभ्यास तथा वैराग्य का कार्य समाप्त हो जाता है। इस अन्तिम अवस्था तक पहुँचना ही अभ्यास तथा वैराग्य का कार्य था। प्रारम्भ में असम्प्रज्ञात समाधि भी क्षणिक होती है। बीच-बीच में व्युत्थान संस्कार उदय होते रहते हैं। किन्तु निरन्तर अभ्यास से व्युत्थान संस्कार दब जाते हैं। विवेक ख्याति की स्थिति भी प्रारम्भ में क्षणिक होती है। विवेक ख्याति जब अभ्यास से स्थायी अवस्था को प्राप्त कर लेती है तो उस अवस्था को धर्ममेघ समाधि कहते हैं। (योग दर्शन ४।२९, ३०) धर्ममेघ समाधि में निरन्तर अभ्यास चलते रहने पर परवैराग्य उत्पन्न होता है। धर्ममेघ समाधि की उच्चतम स्थिति पर वैराग्य है। परवैराग्य रूपी साधन से असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है। असम्प्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा कैवल्य है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कैवल्य प्राप्त करने में अभ्यास तथा वैराग्य का अत्यधिक महत्त्व है। बिना उसके संसार चक्र से छुटकारा प्राप्त नहीं हो सकता।

"चाहना हो तो परिपूर्ण परमात्मा को ही चाहो। जो अपने को पाता है वह सब कुछ पा लेता है।"

—श्री श्री माँ.

पुरातन स्मृति

स्वामी नारायणानन्द तीर्थ

(१६)

जिन्होंने विधिपूर्वक तथा शास्त्रीय नियमानुसार विरजा होमादि अनुष्ठानकर परमहंस संन्यास ग्रहण किया है ; वे शिखासूत्र का त्याग करके जातरूप होकर अर्थात् परिधेय वस्त्रादि छोड़ते हुये, दोनों हाथों को उठाकर, महाभारत के निम्नलिखित श्लोक को पढ़ते हुये सर्व भूतों को अभयदान करते हैं ।

"अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यश्चरते मुनिः ।
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित् ॥"

वे प्रतिज्ञा करते हैं कि उनके द्वारा किसी भी प्राणी को किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक कष्ट वा दुःख नहीं होगा। इसका कारण यह है कि संन्यासी अपनी ही आत्मा को सर्वभूतों में अवलोकन करता है। क्योंकि श्री गीता में यह बात कही गई है कि "सर्वभूतात्मभूतात्मा" श्री श्री शंकरावतार महाज्ञानी जगत्-गुरु श्रीमत् शंकराचार्य भगवान ने भी इसकी व्याख्या करते हुये कहा है "सर्वेषां ब्रह्मादीनां स्तम्बपर्यन्तानां भूतानाम् आत्मभूत आत्मा प्रत्यक् चेतनः"। अर्थात् जिनका अन्तरात्मा ब्रह्म से स्तम्ब यानी तृण पर्यन्त सम्पूर्ण भूतगण का आत्मा हो गया है 'वे ही प्रकृत ज्ञानी हैं, उन्हीं की सर्वभूतों में ब्रह्मदृष्टि हुई है।

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म," "अयमात्मा ब्रह्म," "चैतन्यमात्रम् अमृतं सोऽहमस्मीति भावयेत्" इत्यादि इस प्रकार की कितनी ही ज्ञान की बातें हम सदा ही शास्त्रादिकों में नित्य पढ़ा करते हैं। परन्तु हमलोग व्यवहार में इस पर ध्यान बिलकुल नहीं देते। इसका कारण यह है कि यह बात हमलोगों का अनुभवगम्य वस्तु नहीं है। यह बात हमलोगों की सुनी हुई अथवा पढ़ी हुई बात है। संन्यासी का नियम है कि वह किसी भी प्राणी को अथवा जीव को दुःख या कष्ट न दें। यहाँ तक

कहा गया है कि संन्यासी वृक्ष न काटें, वृक्ष की शाखा न तोड़ें, फूल न तोड़ें, पत्ता न नोचें, प्राणि-हिंसा न करें, कीड़े मकोड़े को न मारें इत्यादि इत्यादि।

इस शास्त्रीय विधि निषेध के पश्चात् कितना महान् सत्य निहित है साधारणतः उसकी ओर हम ध्यान ही नहीं देते। इसलिये सदा ही हम लोग कितने खटमल, मच्छर, मक्खी, चिऊँटी इत्यादि मारते हैं उसकी कोई गिनती ही नहीं है। इस तरह की प्राणिहिंसा हम रोज जान में तथा अनजान में कर रहे हैं। इस विषय में हमलोगों के मन में कोई चिन्ता ही उदय नहीं होती है। अभ्यास के कारण हम लोगों का हृदय इतना कठोर तथा निर्मम हो गया है कि उसका ध्यान भी मन में नहीं होता है। पेड़ से पुष्प तोड़ना, पत्ता नोचना तथा शाखा काटने की तो बात ही क्या है; वृक्षादि के अन्दर भी जो अनुभव शक्ति है उसकी चिन्ता भी हम नहीं करते हैं। हम अपने नेत्रों से रोज देखते हैं कि लज्जावती लता (Touch me not creeper) को स्पर्शमात्र से ही उसका पत्ता संकुचित हो जाता है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि वृक्ष, लता तथा गुल्मादि के अन्दर भी अनुभव शक्ति विद्यमान है। इसीलिये ही शायद जब श्री श्री माँ के शरीर में साधन की लीला व खेल चल रहा था उस समय वृक्ष के नीचे गिरा हुआ फल ही केवल भोजन करती थीं और कुछ भी ग्रहण नहीं करती थीं। वृक्ष से फल तोड़ने नहीं देती थीं। भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जगदीश चन्द्र बसु ने भी यही बात कही है तथा परीक्षा (Experiment) के द्वारा प्रमाण कर गये हैं कि वृक्ष, लता तथा पत्ता में भी वही चैतन्य शक्ति विराजमान है जो चेतन शक्ति हम लोगों में है। उनका कहना है कि इस विश्व के अन्दर एक ही अखण्ड शाश्वत सत्य सब जगह निहित है। परम कारुणिक श्री श्री माता आनन्दमयी जी की असीम कृपा से तथा उनकी अमोघ इच्छा शक्ति के प्रभाव से अथवा उनके ख्याल से अपने क्षुद्र जीवन में इसका छोटा सा प्रमाण मिला है उसी को मैं आज यहाँ लिखने का साहस तथा प्रयास कर रहा हूँ। इसमें मेरी कुछ भी कृतित्व या बहादुरी नहीं है। यह मैं निःसंकोच बोल सकता हूँ।

१९५९ ईसवी की गुरुपूर्णिमा के अनन्तर परमाराध्य श्री श्री आनन्दमयी माताजी की सम्मति से मैं आपके देहरादून किशनपुर आश्रम में रहकर चातुर्मास्य-

व्रत कर रहा था। यह व्रत संन्यासी के लिये भी अवश्य करणीय है। चन्द रोज पहिले ही किशनपुर आश्रम के अंगन में शिव मन्दिर के सामने आम्रवृक्ष के नीचे एक नया रसोई का घर निर्माण हुआ है। उसके पिछले भाग में अर्थात् दक्षिण दिशा की ओर मुँह-हाथ धोने के लिये एक जल की टोंटी लगाई गयी थी। उसके नीचे का स्थान ईंटों तथा सिमेन्ट (Cement) से पक्का करने का काम उस समय चल रहा था। १९५९ ईसवी के दूसरी सितम्बर को दोपहर के समय टहलते-टहलते वहाँ जाकर मैंने देखा कि एक मिस्त्री और एक साधारण मजदूर काम कर रहे हैं। मिस्त्री का नाम जगन्नाथ और मजदूर का नाम फयाराम था। बेचारा फयाराम बहुत ही भोलाभाला आदमी था।

वे जिस स्थान को ईंटों से पक्का कर रहे थे उसके बीच में एक लीची का पेड़ था। उसकी एक शाखा लटककर पानी की टोंटी के पास पहुँच गई थी। मिस्त्री को काम करने में दिक्कत हो रही थी इसलिये मैंने दूसरे मजदूर फयाराम से कहा एक टुकड़ा रस्सी से उस डाल को खूब अच्छी तरह खींचकर पेड़ के साथ बाँध दो, ताकि मिस्त्री को काम करने में रुकावट न हो; और भविष्य में आदमियों को मुँह-हाथ धोते समय मुख तथा आँखों में भी लगने की आशंका न रहेगी। कुछ समय इस तरह से जोर से खींचकर बँधे रहने से पेड़ की शाखा की स्वाभाविक गति (रुख) बदल वह सीधा हो जायेगी। मेरे निर्देशानुसार उस मजदूर ने एक टुकड़ा नारियल की रस्सी दोहराकर उस लीची की लटकी हुई डाल को पेड़ के साथ खूब जोर से खींचकर बाँध दिया। वह भोलाभाला आदमी ठीक से बाँध नहीं सक रहा था देखकर मैंने उसको बाँधने में सहायता दी। उस शाखा को निर्मम रूप से जबरदस्ती खींचकर बाँधते समय मुझे केवल स्मरण ही हो रहा था कि बेचारी निरपराध मूक, बोलने में तथा प्रतिरोध करने में असमर्थ डाल को निष्ठुर रूप से उसके स्वाभाविक गति को रोककर दूसरी ओर ले जाने में न मालूम उसको कितना ही कष्ट हो रहा है। अन्तरात्मा का यह निर्देश व ईशारा न मानकर मैं उस बेचारी असहाय शाखा को अच्छी तरह से कसकर बाँधने के बाद चला आया। मिस्त्री अपना काम करने लगा।

किसी भी अन्याय कर्म करने के पूर्व मुहूर्त में मनुष्य की अन्तरात्मा एक दफे सतर्क कर देती है। हे मानव! तुम जो कर्म करने जा रहे हो यह तुम्हारा कर्तव्य नहीं है। इससे तुम्हारी वास्तव में कोई भी इष्ट सिद्धि नहीं होगी। पश्चात् में इस अन्याय कर्म का फल दुःख तथा अमङ्गल तुमको भोगना ही पड़ेगा। हमलोग मूढ़ मानव उस सदाजाग्रत, सर्व कर्म का द्रष्टास्वरूप तथा परम कारुणिक अन्तर्यामी श्री भगवान् के मङ्गलमय आदेश को न मानकर बार-बार कितना ही लाञ्छित तथा अपमानित हो रहे हैं। तिस पर भी हमलोगों को चेतना नहीं हो रही है। यह ही जीव का परम दुर्भाग्य है कि वह पुनः पुनः ठोकर खाकर भी शिक्षा नहीं पा रहा है।

इसके दूसरे दिन अर्थात् तीसरी सितम्बर को सुबह उठकर मैंने अनुभव किया कि मेरे दाहिने कन्धे के सन्धि स्थान में बहुत ही तीव्र दर्द है जिसके कारण मैं अपना दाहिना हाथ ऊपर की ओर उठाने में बिलकुल असमर्थ हूँ। इतनी पीड़ा थी कि मैं अपना हाथ थोड़ा भी हिला न सकता था। रात के समय भी दर्द के कारण अच्छी नींद नहीं हुई थी। बीच-बीच में दर्द के कारण निद्रा में बाधा पहुँचती थी। मैंने मन ही-मन सोचा शायद पहाड़ की वर्षा-ठण्डी की हवा लगकर ऐसा दर्द हुआ है। इस तरह की अतिशय पीड़ा लेकर ही किसी प्रकार से अपना रोजाना का काम सब समाप्त किया। उस रात खूब जोर से पानी बरस रहा था। इसके कारण मिस्त्री और मजदूर कोई भी काम करने न आ सका। प्रायः चौबीस घन्टे बाद अर्थात् तीसरी सितम्बर को लगभग बारह बजे के बाद पानी रुकने पर मैंने बाहर निकलकर बिना मतलब ही चलते-चलते वहीं लीची के पेड़ के पास जा पहुँचा। एकाएक उस वृक्ष की ओर नजर पड़ते ही अकस्मात् मेरे मन में यह भाव उदय हुआ कि पूर्व दिन उस पेड़ की शाखा को जबरदस्ती खींचकर जोर से बाँधने से उसको भी तो मेरी तरह कष्ट हो रहा है। यह डाल भी तो वृक्ष का हाथ ही है। मैं और यह वृक्ष दोनों ही तो एक ही परमेश्वर के सृष्ट हैं—और वह एक ही परमात्मा की चैतन्यशक्ति तो सर्वत्र विराजमान है। श्री श्री दुर्गा सप्तशती चण्डी में इसी बात को देवतावृन्द ने चैतन्य रूपिणी महामाया का स्तव करते हुए कहा है, "या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते। नमस्तस्यै, नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमो नमः।" जो देवी चैतन्य रूप से इस सम्पूर्ण

जगत् को व्याप्त करके स्थित हैं, उनको नमस्कार, उनको नमस्कार, उनको बार-बा नमस्कार है। पेड़ की हर एक शाखा, प्रशाखा तथा पत्ता में जो चैतन्यशक्ति विराजमान है वही चैतन्यशक्ति ही मेरे सर्व शरीर में क्रिया कर रही है। इसलिये वृक्ष के उस डाल को इस तरह से बाँधकर कष्ट देना मेरे लिये किसी प्रकार से भी उचित नहीं है। मैंने उसको बाँधकर बहुत ही अन्याय किया है। एक संन्यासी वेशधारी मनुष्य के लिये यह एक अमार्जनीय अपराध है। आत्मग्लानि से मेरा मन बहुत ही जर्जरित होने लगा।

इस विचार के अनन्तर क्षण भर भी विलम्ब न कर मैंने वृक्ष के समीप जाकर जैसे ही रस्सी के गाँठ खोलकर ढीला कर दिया साथ ही साथ उसी समय मेरे हाथ की भी पीड़ा कम होने लगी। जैसे-जैसे बन्धन शिथिल हो रहा था वैसे वैसे ही मेरे हस्त की भी वेदना ह्रास होती जाती थी। रस्सी को खोलकर दूर निक्षेप करने के साथ ही साथ मेरी असहनीय वेदना भी एकदम अच्छी हो गई। उस समय से मुझे अनुभव होने लगा कि वह पेड़ और मेरा यह शरीर अभिन्न है। जो चैतन्य शक्ति लीची के वृक्ष में है वही चैतन्यशक्ति मेरे भी अन्दर विद्यमान है। इसी कारण श्री भगवान श्रीमद्भगवद्गीता में कहे हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

हे अर्जुन! जो योगी अपनी सादृश्यता से सम्पूर्ण भूतों में सम देखता है और सुख अथवा दुःख को भी सब में सम देखता है वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है। गीता ६।३२

इसके दूसरे दिन मिस्त्री ने काम पर आकर देखा कि डाल का बन्धन खुला हुआ है। वह फिर से वृक्ष की डाली को रस्सी से बाँधकर काम शुरू कर दिया। दोपहर के समय जब मैं पुनः वहाँ गया तब शाखा को फिर बाँधा हुआ देखकर मैंने उससे पूछा कि इस डाली को किसने बाँधा है? मेरे प्रश्न के जवाब में वह कहा, काम करने में असुविधा हो रही थी इसलिये उसने इसको फिर से बाँधा है। मेरे गत दिन की अभिज्ञता की बात सुनकर उसने डरते हुए पुनः उसका बन्धन झट से खोल

दिया। ये सब बातें मिस्त्री ने आश्रम के युवक ब्रह्मचारी श्रीसदानन्द को कही, उसने इस घटना को सुनकर हँसते हुए मजाक की दृष्टि से कहा, ये सब कुछ भी नहीं है। यह तो दुर्बल चित्त मनुष्य का एक भाव मात्र है। मैं आज ही शाम को कटारी लाकर वृक्ष की उस डाली को काट दूँगा। देखूँगा मेरा क्या होता है। इतनी बातें कहकर ब्रह्मचारी गौओं के लिये चारा काटने चला गया। चारा काटते समय गँड़ासे की चोट से बेचारे ब्रह्मचारी सदानन्द के बायें हाथ की तर्जनी का मूल इस तरह से कट गया कि हड्डी दिखने लगी। उसका यह घाव सुखने में प्रायः दो महीने लगे। ब्रह्मचारीजी इसके कारण शाखा को काट न सके। लगभग दो साल के पश्चात् विजयनगरम की वृद्धा राजमाता श्रीमती ललिता देवीजी देहरादून से लौट कर मुझे सूचित कीं कि अभी भी उस लीची की वह शाखा उसी तरह से लटकी है। श्रीमती राजमाताजी बहुत ही सज्जन, धार्मिक तथा श्री श्री माताजी की परम भक्त हैं। आपने मुझसे कहा कि आप उस वृक्ष को प्रणाम करके आई हैं। न मालूम वृक्ष रूप में वहाँ कौन महान आत्मा विराज रहे हैं।

चंदरोज के अनन्तर एक आधुनिक शिक्षित वैज्ञानिक डाक्टर (चिकित्सक) ने इस घटना को मुझसे श्रवणकर कहा ये सब कुछ भी नहीं है। हाथ की पीड़ा Auto Suggestion का ही परिणाम है अर्थात् अपनी कल्पित भावना का ही फल है। चाहे वैज्ञानिकगण जो भी कहें, परन्तु इस घटना ने मुझे ऐसा एक अनुभव प्रदान किया है, जो कि किसी भी युक्ति तर्क से मिटनेवाला नहीं है।

इसके पश्चात् १९५९ ईसवी की शारदीया श्री श्रीदुर्गापूजा के समय परमाराध्या विश्व जननी श्री श्रीमाता आनन्दमयीजी काशी में पधारीं। आपके आदेश से मैं भी उसी समय देहरादून से काशी आया। एक दिन मौका मिलने पर एकान्त में मैंने माँ के चरणों में मेरी इस अभिज्ञता की बात निवेदन की। माँ ने यह सुनकर मुझे उसको सबके निकट कहने को आदेश दिया। एक दिन वाराणसी आश्रम के दोपहर के सत्संग में बैठकर आपने मुझे उस घटना को सबके सम्मुख बोलने को कहा। श्री श्रीमाताजी की आज्ञानुसार मैंने पूर्वोक्त घटना उपस्थित सब सज्जनों के सामने विवृत किया। उस समय श्री श्री माँ ने सबको लक्ष्य कर कहा इस बार जब

नारायण को किशनपुर रखकर चले उस समय इस शरीर का (अपने को लक्ष्यकर) ख्याल हुआ था कि नारायण थोड़ा कुछ अनुभव करें। माँ ने मुझसे कहा, नारायण, अब तुम नहीं कह सकते कि इतने दिनों तक जप, तप कर तुम्हारा कुछ भी नहीं हुआ। माँ की इस बात को सुन सत्संग के सभी मनुष्य हँस उठे। मैंने आपके चरणों में प्रणाम कर कहा, माँ यह जप, तप का फल नहीं है। यह तो आपके अमोघ ख्याल का ही फल है। मैंने भी निश्चित रूप से जान लिया कि,उस दिन की अभिज्ञता Auto suggestion व अवचेतन मन की क्रिया का परिणाम नहीं है। यह महाशक्ति का ही थोड़ा स्पर्श मात्र है तथा श्री श्री माँ आनन्दमयीजी के ख्याल अथवा कृपा से ही सम्भव हुआ है। योगिगण जिसको इच्छा शक्ति रूप से ग्रहण करते हैं वह साधारण शक्ति नहीं है—वही सृष्टि की मूल शक्ति है। कारण उस शक्ति के प्रभाव से ही सृष्टि का प्रथम आविर्भाव संघटित हुआ है और अभी भी हो रहा है। साधारण मनुष्य में इच्छाशक्ति तो होना दूर की बात है किसी शक्ति का ही विकास नहीं है। इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, सब शक्ति ही सुप्त हैं। माँ का ख्याल वा इच्छाशक्ति तथा सृष्टि के मूल में जो इच्छाशक्ति है, ये दोनों पृथक् शक्ति नहीं है अर्थात् वे एक ही शक्ति हैं।

—क्रमशः

LIBRARY
No. ......
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS

The Self, self-contained,
calling to Itself for its own Revelation—
this is happiness.

MATRI VANI

Is it not wonderful to be a pilgrim on the Supreme Path ? This is indeed the path to be taken. The ultimate Goal is reached when the Supreme Path has become revealed.

* * *

Everything is His doing. HE alone IS; your sole duty is to remember this at all times. So long as the sense of "I" and "mine" remains, there is bound to be sorrow and want in the life of the individual.

* * *

HE alone knows to whom He will reveal Himself under which form. By what path and in what manner He attracts any particular man to Himself with great force is incomprehensible to the human intelligence. The Path differs indeed for different pilgrims. Very often He destroys misfortune by misfortune and annihilates sorrow by sorrow. To advance in this spirit means for everyone to tread his own path. One's own path is the path that leads to Self-realization, to the Supreme, ultimate Goal Itself.

* * *

Man must aim at the superhuman, at real greatness. The traveller on the Supreme Path may hope to attain to ultimate Bliss. This is man's main duty.

* * *

The spiritual practice that will cleanse one from the dross accumulated life after life and that has for purpose the uncovering of one's innate, radiant, illumined Self that lies latent deep within—this has to be fostered and served. What does service signify ? Action that purifies the mind.

* * *

Always bear in mind that food, sleep, walking, standing, sitting—in fact your entire conduct has to be strictly controlled for the sake of liberation. Further, whatever spiritual exercise, ritual, and so forth is engaged in, should be carried out with faith and love. No ritual should be performed irreverently. He Himself has come in the guise of spiritual practice. The suffering which patience, endurance, forbearance entail is a manifestation of Him, the destroyer of suffering, for the purpose of its destruction.

—

Pages from my Diary

GURUPRIYA DEVI

(Translated from Bengali)

Poona,9th June **1961.**

Mataji arrived here today from Bombay. She had already been here on May 13th to inaugurate the Ashram. It is a beautiful place situated in the I. C. S. Colony, on Ganeshkhind Road, quite close to the Poona University and and also fairly near the Government House. Sri Bhagwan Das Nangpal, a local devotee and his wife have donated this newly built house to the Ashram. By the joint effort of Poona and Bombay *bhaktas* a large piece of land in front of the house has been acquired for the Ashram.

Sri Haribabaji Maharaj also reached here soon after Mataji. A spacious pandal has been erected in the Ashram grounds for the purpose of daily *satsang*.

Poona, 14th June **1961.**

Two or three days ago Dr. Gopinath Kaviraj was discharged from hospital. He arrived here this morning and is staying in a house opposite to Sri Dilip Kumar Roy's Ashram.

Poona, 23rd June **1961.**

The President of the Indian Republic, Dr. Rajendra Prasad has been in Poona for the last few days, residing in the Government House. This morning one of his secretaries came and announced that Dr. Rajendra Prasad as well as the Governor of Maharashtra, Sri Sri Prakash desired to come and see Mataji this evening at a boat quarter to six. Since they wanted to meet Mataji informally, it was arranged that they should be received by her, not in the pandal, but in her own small room.

They arrived in the Ashram a little after half past five. Sri Sri Prakash had brought his daughter-in-law and a few of his grand-children with him. Dr. Gopinath Kaviraj was also present. The Governor has great regard for him.

No sooner had they taken their seats near Mataji, than Dr. Rajendra Prasad said to her: "Please give us some instructions that will help us on the spiritual path !"

Mataji : Pitaji, this body does not give instructions. Nevertheless, quite often in the course of conversation something is said in a very informal and unconventional manner. (Pointing to Dr. G. Kaviraj) These learned men will be able to explain everything to you in beautiful and appropriate language.

Kaviraj Mahashaya said : "Please, put some questions."

Thereupon Sri Sri Prakashji asked : "Mataji, I have a problem which I put to every wise or learned person whenever I get the chance. We encounter so much fraud, deceit and dishonesty. How can the spiritual life develop in the midst of all this ?"

Mataji gradually warmed up to the reply. "Pitaji, this reminds me of something that occurred years ago. This body was then in Mussoorie. One day, while going for a walk it saw lots and lots of children playing in a games field. Suddenly, at the sound of a bell, they all stood as still as stones wherever they happened to be. This was an example of self-control. So long as the Brahmacharya Ashram is not lived fully as it should be, day after day, man's life cannot be moulded according to proper laws and regulations. If the first of the four Ashrams is not lived in the right manner, then, just as when the foundation of a house is not well built, the house is in danger of collapsing, so also when the foundation of human life is not properly laid, lots of difficulties keep on arising."

Dr. Rajendra Prasad asked: "How is one to acquire love and devotion for the spiritual life ?"

Mataji : By the yoga of practice. By sustained practice love and devotion for the spiritual path are developed.

About 45 minutes were spent in this kind of interesting and useful conversation. Then our guests were entertained to some light refreshments. Dr. Rajendra Prasad is suffering from asthma and therefore would not partake of anything. But he tied some fruit and sweets into his handkerchief to take along with him as Mataji's *prasāda*.

Sri Haribabaji, who had gone out for his daily evening walk, returned at that moment. He was invited to join the party in Mataji's room. Mataji asked him two or three times to talk about some spiritual topic, but he could not be persuaded. Dr. Rajendra Prasad said: "Babaji is not gracious today."

At about 6–30 p. m. all did *pranāma* to Mataji and took their leave. When they had gone, Mataji with a number of the people present paid a visit to Sri Dilip Kumar Roy's Ashram and remained there for some time. Then, after dropping Dr. Gopinath Kaviraj at his place, Mataji returned to our Ashram.

Poona, **24th** *June* 1961.

In the beginning of May a French couple, Mr. Arnaud Desjardins and his wife Denise, came to Mataji at Allahabad. Since then they have mostly travelled with Mataji. However, for two weeks in between they visited Swami Ramdas at Kanhangad in South India and the Ashram of Sri Ramana Maharshi. Now they have again returned to Mataji at Poona. Mr. Desjardins is a well-known camera-man at the Television in France. Both he and his wife are very spiritually minded and, have great faith in Mataji. They had their first *darśana* of Ma in Benares during Durga Puja in 1959. Staying with Mataji for some time they produced a film of her which was shown in several places in France and North Africa. Innumerable people were immensely impressed by Ma's film and eager to see more. Mr. Desjardins is therefore trying to produce another film. However, Mataji does not take the slightest interest in such matters. Therefore he has to be always alert and on the lookout for moments when he can get exposures, out of which he will piece together his new film.

This evening Mr. Desjardins showed some fragments of his would-be film to Mataji, Sri Haribabaji and to all present at the Ashram. Sri Dilip Kumar also came with Indira Devi and a few of his devotees to witness the performance. Although no adequate projector was available with which to project a technicolour film, the entire audience enjoyed and appreciated immensely what they were shown.

Mrs. Desjardins has to return to Paris already to-morrow to be with her small daughter, while her husband is staying on for another week or so, hoping to get a few more shots for his new film.

Poona, 30*th June* 1961.

H. H. Maharaja Scindia of Gwalior is here at present. In spite of his indifferent health he comes almost every evening for Mataji's *darśana*. Daily pure cow's milk is sent for Ma by car from his private dairy farm. At first only Maharani Vijayaraje used to come to Mataji, but after some time the Maharaja also began to feel drawn to Mataji. This was a surprise to many, since the Maharaja was reputed for his indifference to religion and spirituality. There is no knowing who may change in what manner and at what time by Mataji's grace.

Poona, 2*nd July* 1961.

Since this morning it has been raining heavily. In the midst of this downpour Sri B. K. Shah* came from Bombay together with his wife Lilaben, their daughter Sunayana and her baby boy. In Bombay, when Mataji had seen the baby for the first time, she remarked that he had very extraordinary ears. Today, as soon as he was taken to Ma, he tried to leap into her lap. Every time an attempt was made to straighten him, he would incline his head again towards Mataji's feet. He is just five months old. Everybody present was quite amazed to watch how powerfully he felt attracted to Mataji. There were a number of people in the room, but the child took no notice of them; his attention was exclusively occupied with Mataji. Suddenly Mataji stood

---

*** Sri B. K. Shah is the Managing Director of the New India Assurance Co. and a well-known personality in Bombay. He and his family are greatly devoted to Mataji.**

up, lifted the baby into her arms, and touching both his cheeks with her head, she fondled him. Again and again She stroked his forehead, and the baby seemed tremendously delighted. It was a unique sight, for one does not ever see Mataji take a baby into her arms. Everyone present felt that the child was extremely fortunate. Who he may have been in his former birth, Mataji alone can tell.

Poona, 30*th July* 1961,

Sri Kaniabhai* has arrived here from Bombay together with his wife, a woman of a very sweet and gentle disposition and a fine singer. In the course of the conversation she said to Ma : "Surely, I am bound to fulfil my duties as a wife and mother. These are also a gift of God."

Mataji : Most certainly. All is His, all is He. Whatever work you do in your home, always carry it out as a service to Him. In every shape and form is He alone and therefore everything can be done as His service. The important thing is to be ever aware of Him, to think of Him in everything one does.

Last night Mataji related many interesting things to Kaniabhai. The following happened several years ago, Once at Bundh, Sri Haribabaji took Ma out in a special procession on an elephant. A howda had been placed on the back of a huge elephant. It was difficult to climb up to it. Sri Haribabaji told one of his devotees to bend down low, so that Mataji could use his back as a step to get up to the litter. But Mataji was not willing to agree to this. Not knowing what to do. Haribabaji suggested that Ma should step on his two outstretched hands. Needless to say Mataji refused to do this either. Suddenly she had the *kheyāla* to climb up on the elephant without any help as nimbly as a mouse. All who watched were speechless with amazement. When Ma has the *kheyāla* nothing is impossible.

---

* Sri D. I. Kania is a well-Known businessman from Bombay.

Another incident was also mentioned. After the death of Sri Uriababaji, Mataji once went to Vrindaban at the invitation of Sri Haribabaji. Mataji had the *kheyāla* that Sri Uriababaji was all the while present near her. A carpet had been spread below the wooden couch on which Mataji was seated during the *satsang*. Mataji had the carpet removed. A few stains of blood were then discovered on the carpet. Everyone was dumbfounded. It became clear that Sri Uriababaji must have sat on that very carpet when he had been murdered in public during the *satsang*. Up till then nobody had noticed the stains and Mataji drew people's attention to it in this manner.

This evening Sri Dilip Kumar Roy and Indira Devi came to see Ma. Sri Dilip Kumar asked : "Mataji, why have excellent people and even supermen to suffer so much physical pain ? Sri Ramana Maharshi, Sri Ramakrishna Paramahansa died of cancer. Why did Sri Gopinath Kaviraj also have to suffer from this terrible disease ?" Mataji replied with a smile : "What does Gopibaba himself say about this ?"

Dilip Kumar : "We want to hear what *you* say ! Your words sound very sweet to us." Mataji evaded : "Whatever Gopibaba says is what this body would say." Mataji then explained that men of Sri Gopinath Kaviraj's learning and spiritual experience were extremely rare in this world. To find another person who united a teacher as well as a student of such profundity in himself was difficult indeed.

The famous singer Srimati Hirabai Barodkar came for Ma's *darśana.* With deep feeling she sang two songs to Mataji. Mataji said: "Through melody, tune and rhythm the One who is all can be contacted. Just as Ram Prasad found the Great Mother through the intensity of his songs, so you also should dedicate your power to sing to Him. Try to realize Him through music."

Poona, 11th July 1961.

Today Mataji was taken to the famous National Defence Academy. The Principal himself had invited Ma and drove her in his own car. A reception was given to Mataji and her party on the veranda of the guest-house. First Pushpa sang two or three songs, then, at the urgent request of everyone, Mataji herself also sang for a short while. The place is of extraordinary beauty, facing a large lake surrounded by hills. In the distance Emperor Shivaji's fort can be seen. On the way back, stopping the car in various places, Mataji was shown round the Academy by the Principal who explained everything to her and to us. Amongst other sights Mataji visited the dining-hall in which about 2000 students take their meals together. The whole trip was most interesting.

Poona, 12th July 1961.

For the last fifteen days there has been continuous rain in Poona, such as has rarely been experienced before. The news has been received that the dam at Kharakvasla has burst and that a large part of the town is under water. Since the Ashram area is very high, nothing can be noticed of the flood here. But a little further down the road everything is submerged by water. Thousands of people have had to vacate their homes, many bridges are broken, schools and colleges, the court, offices and shops are all closed. No one knows how many men and animals have lost their lives. We are happy to hear that all of Mataji's devotees are in safety.

Mataji told us : "When we got the news that the flood was rising with terrifying speed, this body had the *kheyāla* to say to the water : 'Now start receding gradually.' And really, from that moment the flood began to subside bit by bit." Who can tell how much disaster was prevented by Mataji's grace ?

A Life in Zen*

TAKASHI HIRATA †

(Translated from German)

II

I shall now give a translation of the famous Chinese text named *'Zazen-gi'* (the Zen posture), which may prove helpful to the practice of Zen by Westerners. It was written in the 10th century by a Chinese Zen Master Chang-L-I. The work is to this day the instruction for beginners in *Zazen.*

Zazen-gi

(in Chinese "Tso-Shan-I.")

(in English "The Zen Posture)"

"O disciples of the Supreme Knowledge !

"If you want to master the Supreme Knowledge (*Mahā Prajña*), you must first of all awaken in your heart the 'Great Compassion.' First of all concentrate earnestly on the 'four pledges' and then attend carefully to the practice of meditation. You should take a solemn vow to seek liberation not for yourself only, but for all sentient beings.

---

* The following is the second instalment of an essay that appeared in the German book "HOHLEN, KLOSTER, ASHRAMS" Published by U. W. Barth Verlag, Weilcheim Oberbayern.

† Professor Takashi Hirata was born in Kyoto, Japan, in 1924. After 10 years of strict training and meditation in a Zen monastery he received the title of "Zen Master."

"Remain aloof from your surroundings, also from inner attachment, drop all feeling and willing, thinking and striving. In this way, whether active or in repose, you should always remain poised in the unity of body and mind. Be moderate in eating and drinking, take neither too much nor too little. Likewise also never sleep too much nor abstain from sleep forcibly. If you wish to get absorbed in *Zazen*, choose a quiet place, sit on a thick cushion, tie your clothes loosely, and keep your body erect.

"There are two kinds of Zen postures. The first is called 'perfect pose'. To form this posture, place your left foot on the right thigh and the right foot on the left thigh, or else the other way round, that is to say, begin with the right foot. The second posture is called 'half posture.' Leave the right foot under the left thigh and place the left foot on the right thigh (or vice versa here also). Then put your right (left) hand on the left (right) leg in such a manner that the hand rests on the point where the legs cross, the palm turned upwards. Then put your other hand over it, also with the palm turned upwards and let the tips of your thumbs touch each other.

"Your back has to remain completely straight. First bend forward and then let your spine, as it were, grow vertical. Then swing your body a few times to the right and left, so as to keep it finally in perfect balance. In this way you can make your whole body assume the right posture. You should neither stoop to either side, nor bend forward, nor lean backward. Let your hips, your spine, neck and head rest one above the other like a stupa that is formed of stones heaped up perfectly straight. Do not stretch yourself too high up, as your breath would thereby become shor and uneasy. Shoulders and ears, navel and nose should li vertically above one another. Let your tongue lightly touc the hard gums behind your upper front teeth. Keep you mouth shut and your eyes open. By keeping your eyes ope you can avoid falling asleep. If you compose yourself i this manner in the Zen seat, you may acquire the best accumulated strength of Zen. Since ancient times all prominent monks practised thus, with their eyes open. The famou Zen Master Yuan-Tung used to rebuke his pupils for closin their eyes: "This is the cave of the ghost under the black mountain." In this saying wise men find a deep significance. Keep your body in the right attitude and breathe naturally; then relax your abdomen and do not harbour any thoughts at all, neither good nor bad ones.

"If any thoughts or ideas are in your mind, do not try to destroy them forcibly; leave them alone. In this way you can cause them to become extinct quite naturally. By practising in this way for some time, all your senses will become still. In this manner you can effect a harmony of body and mind as easily as one folds a leaf. This is the main purpose of the Zen posture.

"An ancient Zen Master once said that the Zen pose was the shortest path to the most delightful place in the world. All the same, due to carelessness, some pupils fall ill as a result of the Zen posture. However, if one takes proper precautions, the body will gain strength through the Zen pose and the mind be refreshed. By this strength and refreshment the consciousness becomes perfectly clear. If one attains to *prajña* (knowledge) through this practice, then one's inner power becomes overwhelming, like that of a dragon swimming up a waterfall or like that of a tiger standing at the edge of a yawning precipice. Even though the aspirant cannot yet attain to *prajña*, it comes into being after a time, just as fire is inflamed by the wind.

"You should adhere to the practice and beware of delusions. Remain ever watchful. After you have got used to the Zen pose, all kinds of obstacles may arise within you, such as for example phantoms or mental illusions. Whether you give in to such a current or resist it, you should always persist in right meditation. *Samādhi* cannot be influenced by any current.

"The nature of such fantasies is explained in detail in various books, for instance in the *Lankavatara Sutra.* You should definitely study such books, so as to be on your guard right from the beginning.

"When rising after meditation, you should slowly and gradually come back to normal consciousness and not get up hastily.

"Zen meditation is most important for us. If we do not succeed in it, we shall be without concentration and composure when it is most needed. If one endeavours to dive for the precious gem in a river, one must first let the waters become still. While there are waves one cannot extract precious stones. But when the water is perfectly clear and calm the gems become visible of themselves.

"In the *Yuan-Chiue* (*En-Gaku*) Sutra it says : 'The pure, unobstructed knowledge arises only out of the Zen posture.'

"The *Saddharma-Pundarika Sutra* enjoins : 'Concentrate your heart in a quiet place and for many hours remai there motionless like the Himalayas !'

'Pass by mundane truths and enter sanctity. Invok it in meditation in a quiet place.' By such power of concentration you may be able to enter death in a sitting postur although it is generally believed that one has to lie on a be or on the floor when dying. However, one may practise Ze for a life-time and yet remain untransformed. Thus th never ending *karma* hits him who practises Zen half-heartedly and not with firm faith. Man is tortured by the chain of birth and rebirth and is forced to go hither and thithe in bondage unless he succeeds in developing this inne strength.

"Dear disciples, read this paper again and again. Redeem your Self and that of others ! Attain as speedily a may be to *Samyak Sambodhi*, the excellent right Knowledge."

IV. *An Experience in a Zen Monastery.*

In 1946, at the end of the second World-War, the who world was terribly tired. At that time I joined the Universit of Kyoto, in order to study ancient Indian philosophy. I the beautiful Kyoto with its many old temples, I began t study with great zeal. But already after one year I had los interest in the lectures, as the Professor taught nothing bu critique of the texts.

I am the son of a Zen priest and was born in a templ In my childhood I had occasionally heard my father use th word *'satori'*, which signifies Enlightenment in Zen. Whe I was still a child, unable to grasp the meaning of the wor my father explained *satori* to me by a metaphor suitable for a child. "*Satori* is an immortal, very supple, violet coloured bird that ever brings fruits of power, wisdom and strength to men."

'*Tori*' means 'bird' in Japanese, but the word *satori* does not signify any bird.

"If you diligently practise *Zazen*, the *Satori* bird will come to you and bring you lovely, sweet fruit."

While yet a child I practised *Zazen* with enthusiasm, in the hope of attracting that bird. Since then I could never forget the word '*satori*.' Only the meaning of the word changed from bird to attainable Truth. While at the University, I now and then attended a lecture by Professor Himatzu on "The Formless Ego." Professor Himatzu was then Lecturer for Buddhist Religious Science at the Kyoto University. I was greatly interested in his expositions. He explained: "Usually one assumes that the ego of one man is in contradiction to that of another man. But the ego about which I want to speak is not separate from other egos. I call this ego the "Formless Ego," which is called the 'Original Man' in Zen Buddhism. He is unborn and immortal : To awaken to this Formless Ego is called *Satori*."

I loved this lecture and enjoyed it much more than the studies in the Department for Indian Philosophy. Professor Himatzu said: "This Ego is immortal, unborn, pure, immaculate, neither growing nor waning. It is beyond all pairs of opposites, beyond all objective forms. Therefore it is able to approach freely all objective forms. It is ever void of all forms and in its perfect freedom it assumes every form. It is called 'Absolute Freedom.' This is true Freedom that transcends freedom and bondage, appearing sometimes as freedom and at other times as bondage. It is genuine freedom, beyond all opposites.

"By dwelling where subject and object are not separate, one can realize the Formless Ego within oneself. The essential thing in Zen is not to realize the Absolute, God or the Buddha, but to become the Formless Ego. There is a difference between being and knowing. By thinking one can never attain to the Formless Ego."

It goes without saying that I had to give up the study of Philosophy in order to realize this Formless Ego, since I had actually since my childhood searched for *Satori*.

After completing my studies at the University, I at once entered a Zen Monastery. Life there differs greatly from the life of a University student. I found it extremely strenuous. The Zen Master gave me a *Koan* to solve of which I have already spoken. In her wonderful book 'Zen, Japan and the West', Miss Ingeborg J. Wendt writes about my own *Koan* question. She translates: "How can one hear the clapping, not of two hands but of one single hand ?"

Throughout a whole summer term I tried in vain to hear this clapping. Twice daily, and during the Sesshin three times, I had to enter the room of the Zen Master to reply to the *Koan*. "Tell me, tell me at once !" the Master pressed me. I had no reply. Once he abused me and another time he hit me with his stick. Yet I was unable to perceive the clapping of a single hand. With tearful eyes I sat alone on the hill behind the monastery in the dead of night. I had lost my appetite and could not sleep at night. While begging, cleaning or cooking I constantly meditated on the *Koan*.

The summer term had passed without success. Even during the vacation the monk may enter the room of the Master to give the reply to his *Koan*, if in a sudden experience it seems to him true and unique. For more than a month I sought peace of mind in the monastery. Soon the winter term would start. Again life would become strenuous. As before I practised *Sanzen* twice or thrice daily but never with success.

From December 15th to 22nd is the most difficult *Zazen* week in the Zen Monastery. Since ancient times it has been called "the monk-killing *Zazen* week." For all the seven days the monk is forbidden to lie down. Except when going for his meals and to answer nature's calls the monk is not allowed to leave his seat. As before, the Zen Master inexorably pressed me for an answer to my *Koan*. Mercilessly he beat me with his stick : "You lazy monk ! Get out !" Full of despair I sat day after day. My lips got cracked and bled, my whole body was numb from the cold wind, my consciousness became ever clearer. In one of the nights of the Sesshin I sat alone under the veranda to the large hall to protect myself from the icy cold. The sharp wind howled against the ceiling of the hall. Suddenly I was one with the howling of the wind. I let go of my body and mind. This was the clapping of one hand. I could hear it perfectly. I sat until daybreak unconscious, yet my consciousness was extremely clear. Someone shook me. On regaining normal consciousness, sky and earth looked very fresh to me. All sounds, the twittering of the birds were in reality nothing but the clapping of a single hand. Filled with great joy I entered the room of my Zen Master to enquire about my experience. For the first time he smiled gently and said : "When you become one with the

Koan you hear for the first time the clapping of one hand. The clapping that you experienced is called "Buddha Nature" which traverses the universe in ten directions, is formless, without clapping, acting here and now. It manifests as the seeing of the eye, the hearing of the ear, the speaking of the mouth, the walking of the foot, the grasping of the hand. It is without subject or object, lifeless and deathless."

I entirely understood the words of the Master and their significance. Then he continued. "Nevertheless, your experience belongs to the first stage in Zen. If one wished to remain on that level, one would pass into the dried-up, dead Zen. One must persist in one's quest so as to be liberated from that world as well."

Once again he gave me a *Koan*: "See through the clapping of one hand !" In this manner my Zen practice continued uninterruptedly for ten years.

To conclude I should like to mention the most important words of the Master Rinzai (Linci). Try yourself to shed light on these words ! Once Rinzai said in an address: "In your red body the 'genuine man' who is detached from everything is already present. Look, look, you who cannot yet awaken to that 'genuine man.' " A monk asked : "What actually is this genuine man ?" Rinzai descended from his seat, caught hold of the monk and said : "Speak, speak !" The monk hesitated and could not utter a word. Rinzai chased him away and replied himself : "What a dirty old scrubbing brush this 'genuine man' is !"

Then he traversed the big hall and returned to his room.

—

Birthday Celebrations at Almora

KALI PRASAD

After an interval of ten years, Mataji's birthday is to be celebrated in Almora once again this time. The following is the last portion of an article describing in detail the celebrations in 1954, reprinted from the August 1954 issue (Vol II/2) of *Ānanda Vārtā*. We feel that even those of our readers who have been subscribers for more than ten years will enjoy reading again this very poetic and beautiful description by a European visitor of the night of the *Tithi puja* which marks the end and climax of the function.

The Managing Editor.

The Night of May 21st.

What magnetic force beyond our ken attracted over two thousand people to the Ashram to keep an all-night vigil? An all-night vigil holds no prospect of feasting, of *prasāda*, as perhaps might attract many to what is conventionally considered an ordeal. Yet, this huge crowd of people from widely scattered parts of India came and sat silently for hours, awake, patient, completely absorbed, suffused with happiness, people from all walks of life, *sannyāsis*, *pandits*, children, rajas, business men, families, artists, beggars—pilgrims all on the route to the inner Kailash. *Kīrtana* and *bhajanas* were sung throughout the night and a grotto was created out of pines and banana leaves on a stepped terrace. At three in the morning Mataji came out of Her room; She was radiant in white, a kind of minuscule fineness and perfection, wreathed in garlands. She mounted the steps and after briefly sitting surrounded by devotees, She lay down on a couch and was covered with a beautiful golden and floral coverlet. Only Her forehead gleamed out of this robe of spring flowers and freshness, and Her black hair fell like a plume on the pillow.

Puja commenced and salvers of sweets laid out in rows on the steps were uncovered. Three *sannyāsis*, led by Sri Haribabaji Maharaj sat near Her like the Three Wise Men in the Adoration. For two hours the ceremony continued in a mood of intense exaltation. Yet there could hardly be anything more simple and undramatic. Almost no outward sign was manifested beyond Her recumbent figure. But here, within the black arena of invisible Himalayas Mataji lay in Her birth dream, the mystery of mysteries, Her brow alone marking Her presence like a face, like a mountain peak, inscrutable. This *murti* seemed like *Viṣṇu* asleep upon the Ocean of Bliss, dreaming of the universe, or *Queen Maya* dreaming of the birth of Lord Buddha, or *Devi*, immersed in the imponderable mystery of *śunya*, beyond creation and dissolution, birth and rebirth. Yet it was none of these things, for it was the essence of *Anandamayī*. And the assembled crowd, filled with *bhakti*, kept vigil for that. Whether the *pandits* may have called this *samādhi* or *suṣupti*, complete absorption in the causal *prakriti*, whatever the guess, nothing can either approach the full truth, nor dissolve the reality of that surge of devotion which filled those assembled, and made them as *one*. For if, as is supposed, only the perfected *Yogi* can perceive one *Jīva* where before there was a whole world of many *jīvas*, here was an unvoiced awareness of that reality, lived for those few wondrous moments.

As the *pūjā* ended, everyone, still entirely absorbed by the moment, by the mystery of the Birth Day, processed quietly, unhurriedly to the foot of the couch, there to *praṇāma* and re-dedicate themselves.

As the last filed past, a new mystery was born, reborn, and Mataji awoke; laying aside the coverlet of flowers She walked forth into the morning in Her simple white robes. But now it seemed that one had never really seen Her before, so different She appeared to us, almost delicate, pale and beautiful as a full-moon in a blue day sky, with eyes utterly remote and serene, remote in that they seemed to embrace all, rather than any single person, to look beyond and to embrace that which abides deep within; but never in so close a communion with Her bhaktas as at that unforgettable moment.

* * *

That day there was feasting and singing of hymns, and discourse of the learned. In the night as I returned home I saw a single glow-worm ahead of me on the path, as if I had found myself being called to the attention of something within. My eyes then wandered and saw by contrast the distant flashes of a great Himalayan storm, and suddenly, from the direction of the hidden Nanda Devi, came a piercing bright light, and as straight as an arrow, serenely, with awsome, incalculable silent power a comet traversed the sky. It sped in a huge arc across the star-broken blackness piercing the brain, proceeding to some nameless distance, leaving behind it a long sparkling plume of fire—and vanished. And then a wind came rushing through the night, stirring and weaving through the pine groves, voice of the night, poised between the void of the unknown and the Light of a promise.

— —

The Mother's Call

PROF. BATUK NATH SHASTRI, M. A.

Love for All - the One Lesson

The lesson of history is one with the teaching of the Scriptures—love for mankind and goodwill towards all. It is the core of Sri Chaitanya's tenet : the highest object of man's pursuit is love. The Yajurveda has the prayer : May all creatures look on me with a friend's eye, May I look on all creatures with a friend's eye. The Buddhist *Metta Sutta* holds up *Brahma-Vihara* as man's highest good in the words : "As a mother protects her son, and only son, by the sacrifice of her own life if need be, even so cherish amity and love towards all beings." Laotse said, "I choose to practise compassion in return for ill-doing, goodwill even towards the evil-minded." The gospel of Christ enounces not the rule of law but a dispensation of grace and charity. The sages of our times hold that a united world, mankind as one family, universal brotherhood and one sovereign world-state sum up the destiny of the race and will ensure its well-being.

The Dual Pull

Human society today stands perilously poised between two contrary pulls – centripetal and centrifugal. On one side is the mentality typical of the atomic age—the outburst, ghastly and staggering—of narrow self-interest culminating in ruthless aggression, through global holocaust. On the other is the immense and unprecedented attempt of welding all mankind into one whole, under the idea : All men are brothers and the whole world is my own country. The first ever tends to confine man within the cramping cell of the egoistic prison, the other leads forward along the line of the widening ego towards self-forgetting fulfilment by renouncement and merger in all-embracing unity.

Serenity and Harmony—the Need of All

The problem before religion is how to bring peace and joy to the millions of mankind tugged by these two opposite trends, to give them the sense of belonging and worthwhileness, singleness of purpose and joy of fruitful endeavour. Tagore, our great poet, pointed out the goal ever before Indian manhood as fullness. Fullness he defined as the sense of oneness with the universe. This communion dissolves the ego-sense and makes one feel humble. Humility, he says, is a spiritual power. It is like the steady current of air. By its very gentleness it exceeds the force of a storm. A hurricane agitates and convulses a little space for a short while, but the gentle stream of air envelops the whole earth at all times. This sense of fullness is an elixir of the heart, a feeling of harmonious serenity. No doubt it shows itself at times in choicest spirits, even amidst the glitter of wealth, the satiety of a life of comforts, pleasures and luxuries. But the enormous masses of humanity—those who inhabit the outskirts of opulent habitations, who by hard work produce wealth and turn it over to society, who build mansions and themselves lodge in shacks and hovels, they view from afar the pomp and pageant of the men of success and power and so bear within themselves the gnawing sense of failure and frustration. They are the nameless uncounted ciphers of men and women. They have been through the ages the concern of the great souls

The Mother's Call

PROF. BATUK NATH SHASTRI, M. A.

Love for All – the One Lesson

The lesson of history is one with the teaching of the Scriptures—love for mankind and goodwill towards all. It is the core of Sri Chaitanya's tenet : the highest object of man's pursuit is love. The Yajurveda has the prayer : May all creatures look on me with a friend's eye, May I look on all creatures with a friend's eye. The Buddhist *Metta Sutta* holds up *Brahma-Vihara* as man's highest good in the words : "As a mother protects her son, and only son, by the sacrifice of her own life if need be, even so cherish amity and love towards all beings." Laotse said, "I choose to practise compassion in return for ill-doing, goodwill even towards the evil-minded." The gospel of Christ enounces not the rule of law but a dispensation of grace and charity. The sages of our times hold that a united world, mankind as one family, universal brotherhood and one sovereign world-state sum up the destiny of the race and will ensure its well-being.

The Dual Pull

Human society today stands perilously poised between two contrary pulls – centripetal and centrifugal. On one side is the mentality typical of the atomic age—the outburst, ghastly and staggering—of narrow self-interest culminating in ruthless aggression, through global holocaust. On the other is the immense and unprecedented attempt of welding all mankind into one whole, under the idea : All men are brothers and the whole world is my own country. The first ever tends to confine man within the cramping cell of the egoistic prison, the other leads forward along the line of the widening ego towards self-forgetting fulfilment by renouncement and merger in all-embracing unity.

Serenity and Harmony—the Need of All

The problem before religion is how to bring peace and joy to the millions of mankind tugged by these two opposite trends, to give them the sense of belonging and worthwhileness, singleness of purpose and joy of fruitful endeavour. Tagore, our great poet, pointed out the goal ever before Indian manhood as fullness. Fullness he defined as the sense of oneness with the universe. This communion dissolves the ego-sense and makes one feel humble. Humility, he says, is a spiritual power. It is like the steady current of air. By its very gentleness it exceeds the force of a storm. A hurricane agitates and convulses a little space for a short while, but the gentle stream of air envelops the whole earth at all times. This sense of fullness is an elixir of the heart, a feeling of harmonious serenity. No doubt it shows itself at times in choicest spirits, even amidst the glitter of wealth, the satiety of a life of comforts, pleasures and luxuries. But the enormous masses of humanity—those who inhabit the outskirts of opulent habitations, who by hard work produce wealth and turn it over to society, who build mansions and themselves lodge in shacks and hovels, they view from afar the pomp and pageant of the men of success and power and so bear within themselves the gnawing sense of failure and frustration. They are the nameless uncounted ciphers of men and women. They have been through the ages the concern of the great souls whom the world loves to honour. It is for their sake that these exalted spirits gave up hearth and home and wandered forth and became one with them by voluntarily embracing their miseries and lowly condition. And so they raised the worth and dignity of the common man and stirred the conscience of classes lapped up in a smug life and grown insensitive to the lot of their fellowmen.

Unity in the Atomic Age

Hence the crying need of our age is an atmosphere of love and shared well-being, of peace and self-control which would unite mankind instead of letting it be torn by the rampant forces of passion and violence. Through population explosion space is fast shrinking and sustenance dwindling. Like grains of sand individuals are being forced apart and society atomised, making the age atomic in an unkinder sense. This is poles apart from the Vedic prayer for oneness which runs—

> May our motto be one, our meeting-place the same. May we be of one mind and our spirits work in unison !

What philosophers' stone, what balmy bliss can wipe off the dividing lines and charm away the seeds of dissension and help realize the longing for the universal man ? What rain of heavenly dew like a shower of heaven's grace may again turn the parched earth into a stretch of living green and stir man's spirit to fresh joy and ardour of life ?

The Onward Phase of Evolution

Perhaps mankind longs today, naked and shivering, to be wrapped in the hem of love's garment, to feel the touch of a healing hand, to hear the reassuring accents, to find meek tolerance as of the earth under our feet and a spirit of self-disregarding helpfulness and melting compassion, the exquisite sweetness of genuine sympathy. Anthropologists of our day speculate on the coming phase of evolution of the species in future and picture the traits in body and mind which the race will develop. They forecast how men would shape themselves in form and in manners, lay aside all that is stern and harsh, uncouth, aggressive, predatory and, these features fading away from their limbs and lineaments—they will exhibit the qualities and dispositions, soft and tender, comely and graceful, suave and delicate—all that bespeaks womanliness, the motherly heart, the attitude goddess-like. All that is red in tooth and claw, cruel, unsightly, disproportionate, hairy, fleshy, enormous in growth, unfeeling, rough and repulsively self-centred—which keeps apart and outside the pale of civilisation the aboriginal tribes in hills and jungles-will disappear like a nightmare of the past. And a new chapter in life's transformation will open, exhibiting refined thought, delicate artistry, mental aptitudes, meek and mild, subtleness of taste, all-round awareness and highest sensitiveness.

Needed – a Philosophy of Help and Cooperation

The day seems to be done for the philosophy which has so long taught that human good and progress is best achieved through scramble and competition, tussle and combat. The time has come for the passing away of the modes of life—crazy for business, greedy for gain and accumulation, eager for mastery, self-sufficient, indifferent to right and justice. To light the path for mankind out of this dark past to his future destiny, are there not signs manifest of a new motherliness emerging and awakening in life's arena ? Do we not behold the auspicious jar and never-quenching lamp as at the installation of a deity ? Some auguries of that coming glory seem to be appearing even amidst the oppressive glare and hubbub of a civilisation which revels in material goods, gigantic plants, vast industries. The majority of men with the unsatisfied hunger and thirst in their soul, under a sense of emptiness amidst affluence and creature comforts are wistfully turning towards the serenity and meditative raptness of bygone ages. In place of the dominance of power and opulence and high place, a life of luxury and general subservience to all that, man is growing impatient for a new spiritual climate, a new sense of values and new cult of equality and brotherhood. And the chime of accordant voices is heard from the ends of the earth. Recently the Primate of England remarked to the same effect : It is on the plane of spirituality that we can with great profit search for unity, less in the thoughts and formulations of the mind than in the depths of the soul and in actions which are controlled from thence.

Ananda Varta – the Gospel of Motherly Inspiration

By the tremendous success which man has achieved in probing the mysteries of external nature, he has astounded the world and shot up to the proportions of a Nuclear Giant. But in his moral nature enchained to primitive impulses he is still an ethical infant undeveloped in mental powers and puerile in the levity of his code of conduct. To cleanse the insight of this infant and to nourish it with spiritual sustenance, the one thing needful is the creation of a suitable atmosphere. Hence the age seems to yearn for the awakening of the power maternal. Does the new gospel of joy—

the *Ānanda Vārtā* sound the sacred notes as on the conch-shell, does it shine with the effulgence of the lamp which is waved before the Icon ? In the Veda the Acharya prays : "Even as the hungry offspring eagerly approach the mother, may Brahmacharins come unto me : Oh Almighty Dispenser ! from all sides." Under the attraction of Motherly majesty, this prayer now seems to be realized in visible form. From all sides men and women—young and aged—hankering after the infinite and thirsting for beatific joy are gathering in the serene air, under the mild shade of the hermit-grove and are learning to be rapt in meditation, seated in the steady pose and absorbed in the stillness of *dhyāna*. They are coming together for the week-long vow, the practice of silence and self-control. The desire for a steady mind and a heart stilled in peace is growing even amongst the privileged classes reared amidst all the good things of the earth. The recital, continuous and complete, of sacred books throbbing with emotion and charged with noble thought, the collective chanting of sublime hymns are reviving the atmosphere of ascetic groves with their routine of scriptural reading even in great cities and the thriving countryside.

The new Climate of Self-Control & Meditative Devotion.

The strict, austere devotion which marks the ritual of worship and sacrificial fire-offerings at holy seats and shrines is once again releasing the pent-up hidden springs of pious fervour and making them flow in ample stream. Above all, the lines of sectarian separation are fading away under the magic touch of a Mother's large heart and abounding affection for her children. For the Mother bestows her grace and moves all so effectively to finest issues because of her sure insight into the special need of each. As is said in the Gita stanza :

"Even as people approach me with devoted heart but with diverse desires, so do I serve them. For it is my path, O son of Kunti, that men go along. Even as each resigns himself to my will, I fulfill his heart's wish."

Those that have felt the delicious touch of the Mother's heart amidst the divergence of doctrines and worries and perturbations of the present are tasting the truth of these lines. For them life's savour is being purified from what is of the earth earthy and refreshed with the juice of immortal joy. The sweetness of adoration, the ecstasy of choral chanting and concerted hymn-singing, the sublime inspiration of sermons and discourses are spreading through the country a new atmosphere, which moves from place to place like a flame of hallowed fire. Those who are coming in contact are elevated by the ennobling experience and those who are witnessing these scenes are in raptures over this manifestation of the perennial power of purity, austerity and renunciation. May this visible demonstration of Motherly power win glory evermore and convert the world into one unit.

Modern Science And Indian Philosophy

DR. B. L. ATREYA. M. A., D. LITT.

It is surprising indeed that in spite of science being so much studied in Indian Universities, and in spite of popular scientific literature being so cheap and common, there has not been any serious, systematic and comprehensive attempt on the part of any Indian thinker to synthesize and correlate the discoveries of Modern Science with the doctrines of Indian Religion and Philosophy. Only a few references here and there are made by some of our writers to the doctrines of scientific philosophy such as we find in the works of Dr. Bhagavan Das and Dr. Radha Krishnan and others. We should not be satisfied with such meagre and occasional references. We need a more thorough and detailed attempt at correlation and synthesis of modern Science and Indian Philosophy, in which not only similarities but also differences will find due place. Our purpose should be not only to have the satisfaction that the conclusions of Indian Philosophy are corroborated by Western Science but also to correct and revise those of our conclusions which may not be found true to experience and in line with facts discovered by exact sciences, and to enrich our philosophy by incorporating within it more and more of the newly acquired knowledge.

We do not hold that Indian Philosophy is perfect and omniscient. There is much that it has to learn from modern science; much that it has to throw away as unscientific and therefore unacceptable; much that has to be altered and improved upon in the light of modern science, and much that needs detailed study on a scientific basis. On the other hand there is much that science needs to learn from Indian Philosophy in order to completely understand human life and experience. There are indeed, many points of contact between various systems of Indian philosophy and various branches of modern science. It is better wisdom to compare notes and revise opinions. The followers of the Charvaka philophy can very well sit at the table of a modern believer in scientific materialism and get inspiration from him and acquire greater confidence. The Vaisheshika atomism may compare notes with that of modern Chemistry. The modern physicist and an Indian believer in the Samkhya Prakriti may delight in having come nearer each other. The modern logician and the Indian Naiyayika can very well learn from each other. The Yoga of India and Psychical Research of the West can help each other very much. The monism of the *Upanishads* finds great support in the scientific philosophy of the present day. To draw the attention of Indian philosophers in this direction, we would briefly refer to the most important conclusions of some of the well-known branches of science, namely, Physics, Biology, Psychology and Psychical Research. These are the basic sciences dealing with matter, life, mind and spirit, respectively.

Physics

Apart from being an enquiry into the nature and relations of physical objects and events, physics investigates the ultimate nature and structure of the physical world, and, as such, it comes in close contact with the domain of philosophy.

According to modern physics, in contradistinction t Indian opinion accepted in almost all systems of its philo sophy, all the qualitative differences of things can be well reduced to quantitative ones. The real world, apart from our perception of it, possesses only quantitative distinctions, which can be measured in mathematical terms. Hence physics confines itself to the quantitative relations only. Heat, light and sound are all now regarded as different forms of motion. Heat is a kind of agitative motion of the molecules of a body. Sound is a motion in the form of waves in air, water, or some other medium. Light is a wave motion in a much finer and denser medium of space (called ether by some). The intensity of heat depends on the degree of agitation of the molecules; the intensity of sound on the amplitude of the waves, and its pitch on their length. In the same way the intensity of light depends on the amplitude and its colour on the frequeney of the waves.

Chemical analysis of things stops at 92 different sorts of elements which exist in the form of atoms or minutest particles which can neither be further divided nor qualitatively reduced to those of other elements or to those of some common underlying substance. This view resembles that of the Vaisheshika school of Indian Philosophy with this difference that according to the latter there are only 4 elements existing in atomic form. Physics has gone much deeper into the problem of ultimate constituents of the physical world than Chemistry and has discovered that atoms themselves are structures built up of still much smaller particles which do not qualitatively differ from the atom of one element to that of another. It is due to the number of these particles, called electrons, when charged with negative electricity, and protons when charged with positive, and their arrangement in the atoms that there are differences in the weight and characteristics of the atoms of different elements. It is now only the number of electrons that differentiates the atom of one element from that of another. For example the atom of hydrogen has only one electron within it and that of uranium, the heaviest of all elements, has 92. The nature of electrons and protons and their mutual relation have been subjected tough investigation and physics has come to certain definite conclusions about them. Electrons are nothing but negative charges of electricity. Sometimes they appear as particles, at other times as waves. In fact they share the characteristics of both waves and particles. To neutralise the negative charges in the form of electrons there are equal numbers of positive charges (positrons) concentrated on a minute nucleus at the centre of the atom. The relation of electrons to the protons at the centre within an atom is conceived as similar to that of the planets to the sun within a solar system. The atom is a miniature solar system in which electrons (negative charges of electricity) revolve with great speed round the proton (positive charges of electricity concentrated at the centre) like planets revolving round the sun. Thus the ultimate bricks of the physical structure of the world are, according to modern physics, electric charges, and not atoms of "dead" or "inert" matter which the materialism of the last century used to believe. The ultimate reality as known to physics is electrical energy. What this electrical energy which manifests itself both as a particle and as a wave ultimately is, the physicist at present cannot answer. He deals with its mathematical specifications, the laws of its behaviour, in what he calls a 'configuration space', which is not the space known to us. The behaviour of this energy is no longer intelligible in mechanical terms. The quantum theory of Max Planck, applied by Niels Bohr to the behaviour of electrons, has introduced a sort of "indeterminacy" in the world of physics. The radiation of energy from an electron is not continuous but is in the form of *quanta* or jerks. The electron does not radiate energy (light) when it is rotating round the proton in a particular orbit. It does so only when it jumps from one orbit to another. The amount of energy radiated by the electron jumping from one orbit to another is a quantum. But no reason could be given in terms of the laws of nature known to physics why and when the electron jumps from one orbit to another. Perhaps it has a "will" of its own which it exercises "freely". The "matter" of physics, it appears, comes very close to the "*Prakriti*" of the Samkhya and "*Shakti*" of the Vedanta schools of Indian philosophy.

This idea is further strengthened by another discovery of physics, namely, identity of mass and energy. Formerly "matter" (mass) and "energy" were regarded as different. Now, thanks to the electric theory of atoms and to the Relativity theory of Einstein, matter and energy are convertible and ultimately identical. By heating a body will increase its energy and also its mass. A body which radiates energy in the form of heat or light loses thereby its mass. The sun is losing its mass at the rate 360,000 million tons every day by radiating heat and light. The mass of a body is increased by increasing its velocity. The process of conversion of mass into energy and vice versa are going on in the universe everywhere, the total amount of mass-energy probably remaining the same (the law of conservation of energy).

Another conclusion of modern physics which may interest Indian philosophers, because it has been held in India since long, is that the material universe is finite. The actual volume of space known to the physicist is finite, although unbounded. The finite space, again, is not at a standstill. It is continually expanding, i. e. the circumference of the physical word is lengthening, and lengthening by leaps and bounds. Consequently the distances between various nebulae are fast increasing. And the greater the distance between any two nebulae the faster is the speed at which they are receding from each other. This idea corresponds to the idea of *Brahmanda* (the universe as a growing and expanding egg) of Indian philosophy.

The idea of *Pralaya* also finds a parallel in the Entropy theory of modern physics. It has been discovered that the organised form of energy which constitutes the world has a tendency towards a more and more disorganised and less and less available form. The degree of this disorganisation is called entropy. The entropy of the world is continually increasing and there may come a time when it reaches its greatest point. Then there will be no physical universe.

These are some of the very important discoveries of modern physics which have a great bearing on philosophy. There has recently been much speculation in Western philosophy as to their implications. They are very well discussed in the famous works of Sir Arthur Eddington and Sir James Jeans and of their critics. The former think that modern physics leads to an idealistic and spiritual view of the universe and the latter repudiate these inferences. We may only point out, that physics at present leads us far away from the usual type of materialism and leaves much scope for interpreting the universe in other terms, for it is now admitted that the physicist deals with the behaviour rather than with the ultimate nature of that aspect of reality which is revealed to us in the physical world. The world presents many more aspects too, such as biological, psychological, and and spiritual. The philosopher is interested in understanding the entire experience which reveals not only an objective world with all these aspects but also another factor, namely, the subject which is beyond the scope of all sciences based on objective observation. It is therefore often remarked that physics deals with abstractions and not with the concrete reality. First we abstract an objective world from the total experience, and study it apart from the subjective aspect; then we abstract quantitative aspects from the objective world and deal exclusively with them in physics.

Biology

Biology studies in details another important and well known aspect of the objective world, namely, life, and has made some very interesting and important discoveries which have a great bearing on philosphy in general and on Indian Philosophy in particular. No philosophical thinker of the present age can afford to keep his eyes shut to them. He has to correlate them with and find a place for them in his philosophical outlook.

Biology has discovered that there are some very essential differences in living beings and non-living ones. The most outstanding characteristics of the former may be pointed out here. Living beings are organisms of very intricate structure maintaining a unity and identity of their own; they tend to persist in spite of incessant changes happening within their structure; the colloidal protoplasm of which they and their various tissues are made, undergoes a continuous process of down-breaking and up-building; each form of life has a specific nature of its own, which it does not share with others; each organism originates from another; grows and develops to a mature form and then multiplies by giving birth to others of the same kind; the behaviour of all living organisms somehow retain the effect of their past behaviour on themselves; and they evolve into other types in course of time; life originates from life only. "Spontaneous generation" of life has not been yet observed or demonstrated. How life must have originated first is still a matter of unsatisfactory speculation.

It is quite evident that most of these characteristics of living beings cannot be successfully explained in terms of mechanical physics and chemistry, although some scientists are still striving after that ideal. This difficulty has given rise to a number of schools of explanation in biology. A brief reference may be made to some of them here. "Descriptive Naturalism" does not want to go beyond what is actually observed and experimentally verified. It therefore keeps to the level of mere description of biological facts and does not dare transcend them in its explanation. It tries to avoid the question "why"? Some biologists, who may be classed as "Methodological Vitalists" are, however, certain that Biology cannot do without using some such concepts as 'life', 'mind', 'struggle', 'appetite', 'interest', 'purpose', and 'will', in their explanation of living behaviour; in spite of their being not observable; for vital phenomena elude description and explanation in mechanical and chemical terms. Different and distinguished from these are biologists like Hans Driesh, who are called "Vitalists" (or purposive vitalists) in the full sense of thē term. They do not hesitate to postulate an "organising and directive agency", a "vital force", an "entelechy", "elan vital", "psychoid" or any other "x" behind the vital phenomena responsible for all characteristics of organic life. Then there are those who are called "Emergent Evolutionists" or "Levelists" according to whom living creatures certainly possess some important and essential characteristics which are not present in the matter of which they are formed. At every stage of the evolutionary process of the world, some wholly new properties have emerged. With the appearance of life, the process of evolution attained a higher level than that at which it was before. The world process looks like a ladder of various levels of creative synthesis of graded complexity found in atoms, compounds, organic cells, organisms and minds. In the case of each greater complexity, some new qualities have emerged, which were not present in the previous and less complex group of factors. This theory is pregnant with many philosophical implications. Indian philosophy, especially the Sankhya and Vedanta schools, which believe in a kind of evolutionary process of principles in the manifested world, has to take note of this as well as of other biological theories and bring about a correlation with them.

One of the greatest discoveries of biology, which has had a far reaching effect on almost all departments of human knowledge, is that all of our present species of living creatures, which were formerly regarded as having been created as such by God, have slowly and gradually evolved from some simpler, rudimentary and few species of much earlier times than we usually know in history. This fact is established on the following grounds: In all the varieties of living beings, both animals and plants, we find only a few fundamental plans of structure; many creatures have useless vestigial organs which bear traces of the path over which the species to which they belong must have travelled; the embryo of the human baby passes through many specific stages which correspond to those through which the species must have passed according to the theory of evolution; in going back to the very ancient past which is recorded only in the rocks of the crust of the earth which has borne on its bosom the now dead and gone creatures, we have discovered a more or less complete series of fossil remains which indicate a gradual process of development in the structure of plants and animals. The credit of this theory of Evolution of the Species goes to Charles Darwin. The evolution of species, according to Darwin, occurs in the same way as varieties occur in the same species. The present species are a result of a long process of accidental variations and their selection, transmission and retention. Nobody knows why certain variations occur in some members of the existing species. Having once occured, they place the individuals either in advantage or disadvantage over others in the struggle for existence which prevails in the living world. These variations which help the individuals in the great struggle for life are not only retained and improved upon by use and exercise, but are also transmitted to the next generation through heredity enabling it to survive better.

This leads to the question of heredity, which has now-a-days become a very complicated question in biology. Indian philosophy which believes in the rebirth of an individual has to make a thorough study of the facts and theory of heredity and to correlate the two. Here are some of the facts known to biology with regard to heredity. Individually acquired traits or changes that come through the use or disuse of various parts of the body, or through the effect of climatic changes, are not inherited by the next generation. Only such changes which effect the germ-plasm are likely to be inherited. What effects the germ plasm and how, has not yet been well-determined. The theory of Orthogenesis holds that the mutations or inheritable changes take place in accordance with some inner urge or drive and not through any external influence. Some experiments in recent years have, however, demonstrated that mutations can be produced artificially by chemical effects and by X-ray, apart from the question as to what sort of changes are transmitted by heredity, the means and process of heredity have also become very interesting questions of biology since the recent revival of what is known as the Mendelian theory of heredity. As early as in 1865 Abbot Johann Mendel discovered that the characters of parents are transmitted to the offspring in distinct units. But all the character units of both the parents are not manifested in the next generation. Some of them become perceptible in the first generation, and others in later generations and some remain dormant. A definite ratio of manifested and unmanifested traits is maintained in each successive generation. Recently biologists have also found a physiological basis for heredity in the form of extremely minute "genes" or "factors" which are present within the chromosomes of the gametes or germ cells of each individual. These factors pass from one generation to another in the form of different permutations and combinations. Some of them find expression and are called dominant and others which remain dormant are called recessive. Which genes or combinations of genes are recessive and which dominant is very difficult to answer. (*to be continued*)

Old Diary Leaves

ATMANANDA

In the last issue of 'Ananda Varta' all I had noted on what Mataji had said about doing *pranāma* was copied from back numbers of 'Ananda Varta' and put together. This was found useful and interesting by our readers and it has been suggested that other subjects should be dealt with in a similar manner. It seems appropriate to call this 'Old Diary Leaves.'

I

Mataji and Children

Mataji calls all children Her friends. Children no less than grown-ups adore Her. I know some youngsters who can never sit still for five minutes, yet they love to go to see Mataji and as if fescinated, sit quietly before Her for an hour or two without showing any restlessness. It is of course true that Mataji gives them a lot of attention. She presents them with garlands and flowers that have been offered to Her and whenever possible with sweets and fruits. She laughs and jokes with them, while at the same time She takes them very seriously. She asks even small children of five or six to think of God. "You are my friend, aren't you? Then will you listen to me ? Are you willing to do something for this friend of yours ? All right, be careful to remember what I am going to ask you !

"First of all, as soon as you wake up in the morning do *pranāma*, bow down to the ground before God, pray to Him to make you a good boy or girl and say : 'Lord, I do not know where you are, grant that I may find you !' At night before going to sleep do *pranāma* again, and if you have done anything wrong during the day, ask God to let you do better the next day,

"The second thing is : try to obey your parents and teachers.

"Thirdly : study well ! Give your mind to your lessons and endeavour to master them.

"Fourthly : always do your utmost to speak the truth;

"and Fifthly : laugh and play, run and jump to your heart's content; and if you carry out the first four things I have asked of you, there is no harm in being a little naughty as well."

To bigger children Mataji frequently says : "How much time can you spare for me ? Don't reply in a hurry; think it over and see how much time you can give me. Five minutes daily or ten ? Not only once in a way but every day for the rest of your life. All right, for those five minutes think of God. Choose the time of day which is most convenient. If you can sit still and be by yourself, so much the better. But if this is not possible, whether lying, standing or walking, think of Him—lying in bed or whilst having your bath—but never give it up. These few minutes of every day belong to God, although you may be travelling by train or bus, under all circumstances."

* * *

An American couple wrote to Mataji. They had heard about Her from a devotee who had recently stayed with Mataji and had shown them Her photos, and tape recordings of Her voice. Their letter contained snaps of their three small daughters, seated in meditation in the lotus pose. One of these little girls felt so attracted to Mataji that she declared, her one and only wish for her forthcoming seventh birthday was to go and meet Mataji. Since it was impossible for the parents to take their child to India, they requested Mataji to send a birthday message to their daughter. They also mentioned that she seemed to be specially fitted for the spiritual life and had already declared that she would get married to none save God. Mataji replied : "How beautiful the pictures of my friends are ! Immersed in meditation, moving indeed to look at."

At the very moment my friend had the desire to come, she did come and she met her friend. My friend should keep this in mind. In order to realize this fact, man engages in hundreds of *kriyās*, practices, meditation and so forth. This friend is with her friends at all times. Man's duty as a human being is to be a pilgrim on the path to the Supreme. One who can be wedded to God has indeed fulfilled the purpose of human existence."

After some time, the child's parents wrote again: "……Our daughter told us that she had indeed met Mother during her birthday meditation. She told us this in a matter of fact fashion."

* * *

On the Importance of Right Education

Again and again one can hear Mataji point out that most of the difficulties people experience throughout their lives and much of the chaos in the world today are due to lack of right education. If the first of the four Ashramas, namely the *Brahmacharya Ashrama* is observed as it should be, man can face life without the fear of being crushed by adversity, for the sublime purpose of human existence will have firmly been fixed in his mind. If the growing child, the adolescent, thoroughly understands that man's true vocation is to find himself, if he realizes that all knowledge is only a preparation for *Brahmavidyā*, the knowledge of Reality; if at the same time he is taught how to control body and mind by living the simple, frugal and disciplined life of a *Brahmchārī*, so that all his energies may be available for the quest that alone is worthy of man, he will have learnt the art of living. Whether he chooses the shortcut and, renouncing all worldly attachment, straight away takes *sannyāsa* or whether he first passes through the stages of the householder (*grihastha*) and of the anchorite (*vānaprastha*), the path to Self-realization and Immortality is open to him.

Just as we are bound to inhale the air about us, we constantly absorb the subtle influences from our surroundings. No man can remain entirely unaffected by the contacts he makes. A child is far more sensitive than an adult. It is therefore important that the young should be in the company of men and women who have dedicated their lives to the Supreme quest, that their pliable minds should be moulded by books of wisdom rather than by cinemas and light novels. A boy or girl who has once deeply felt the necessity of aspiring after Truth and Enlightenment, who has been made to feel how treacherous and comparatively unimportant are wealth, name, fame, brilliant career, etc. will come back to the ideals that in youth have been engrained, even though he or she should deviate from them for a time.

Matri Lila

15th JANUARY—3rd APRIL, 1964.

In the last issue of Ananda Varta we already reporte about the Bhagavata Saptah that was held in our ashra at Agarpara, on the banks of the Ganges, from 15th t 22nd January. On the 23rd Mataji left for Rajgir where sh remained for two weeks. Mataji kept good health and was i an excellent mood in that quiet and holy place, where Lor Buddha had spent much time. According to the *Srima Bhagavata*, Sri Krishna also is said to have been to Rajgi Mataji visited all the famous spots in the vicinity and use to go for walks almost daily in the *Venuvan* bamboo grov where Lord Buddha is supposed to have dwelt. Only small party was with Mataji, among them some *bhakta* from Calcutta, also a young American *sādhaka* and a Germa novelist.

On February 7th Mataji alighted in Varanasi where sh spent a day and a night. On February 9th she reache Vrindaban. There she attended a function in Uriababa Ashram, held in his honour on February 11th and on the 12t morning was present when a marble statue of the Babaji wa revealed. Mataji used to go every evening to Uriababa Ashram during Sri Haribabaji's satsang and also graced wit her presence the Bhagavata Saptah that was celebrate there in memory of Sri Uriababaji, with Sri Akhandanand expounding in Hindi. Another Bhagavata Saptah was hel in our own Ashram from 18th to 28th February. On th

18th *Vasant Panchami* was celebrated by *Saraswati Pūjā*. This year, being a leap year, there are two opinions about festivals. While in Haribaba's Ashram *Sivaratri* and *Holi* were celebrated in February, these festivals were observed in our Ashram only in March. On February 26th evening Sri Haribabaji's birthday was celebrated in our Ashram, on the 27th Holi and on the 28th *Mahārāsalīlā* was performed in great style in the open space near Mataji's house. Many *mahātmās* attended. Almost daily devotees from Delhi came by car or train for Mataji's *darśana*.

On February 29th Mataji and her whole party proceeded to Hardwar. Mataji motored to Delhi, resting in our Ashram for a couple of hours and then drove to the station where she gave *darśana* to an enormous crowd of people. On the way to the station she paid a short visit to Pandit Jawaharlal Nehru at the request of his daughter.

On March 1st Mataji arrived in Hardwar where she stayed mostly in Baghat House, Kharkhari, but off and on also visited our Ashram "*Śantiniketan*" at Kankhal. On the 4th morning she went by car to Kishenpur, returning again on the 5th evening. For a week after that she stayed every night at Sri J. K. Birla's house "*Santi Nivas*," a solitary place 2 or 3 miles on the road to Rishi Kesh. However, she daily motored to Baghat House and gave darsana there. On the 9th she paid another flying visit to the Kishenpur Ashrams.

On the 12th March *Sivaratri* was celebrated by the usual feast for 36 hours and four *Pūjās* with *Kīrtana* in between throughout the night. The attendance was not as large as in former years, since many had observed *Sivarat* already in February, but the function was none the le beautiful and solemn.

A party of *sannyāsis* and *brahmachārīs* of Sivananda Ashram, Rishikesh, arrived soon after the first *pūj* had started and performed *kirtana* between the first an second *pūjā*. There was hardly a day during Mataji's stay a Hardwar when visitors from Sivananda Ashram did not com for Mataji's *darśana*. Mataji remained present in the ha throughout the *Śivaratri* night, except for two hours whe she retired to her room. In the small hours she herself le the *kīrtana*, playing the cymbals at the same time.

On March 16th two functions began simultaneousl each performed for the benefit of a deceased devotee by thei respective families. One, a *Bhagavata Saptah*, that too place in the hall was completed on March 24th. Pandi Srinath Śastri of Vrindaban officiated, reciting in Sanskri every morning and expounding in Hindi every afternoo for about four hours in his lucid and delightful manner.

The other function was a *yajña* held for five day ending on the 21st. For the *yajña* a special structure ha been erected on a platform near the Siva Temple in th courtyard of Baghat House. A *yajña* is a rite of oblatio offered into a sacrificial fire which represents the mouth the deity. A *yajña* has for its purpose either the propitiatio of any particular deity or of the *Paramātmā* Himself. Fi is the symbol of the *Brahman*. Some regard it also as th symbol of the knowledge of Reality since it burns up ill sion. In this particular *yajña* one lakh of oblations we offered with the *Gāyatrī Mantra*, a number of pandi officiating.

In ancient times Rishis, Munis and Kings used to perform quite frequently *yajñas* that continued for years together. The fire sacrifice was regarded as a powerful means to achieve any worldly or transcendental purpose. In recent times however, the science on which the *yajña* is based, although preserved in the Śāstras, is known only to the few. Moreover, the purity necessary in order to carry out such a rite effectively is hardly to be found any where.

It may not be out of place to relate here something of the history of the sacrificial fire that has been preserved in our Ashram with great care for the last 38 years.

In 1926, while Mataji lived in Dacca, Kalipuja was performed at Divali in her presence. It was a most extraordinary *pūjā*, during which many supernatural events took place.* Very often, a fire sacrifice marks the end and completion of a religious function, such as for instance our yearly *Saṃyam Mahavrata*, a *Bhagavata Saptah* etc. All the proceedings of the function are thereby finally dedicated to God. After the above mentioned *Kali Puja* too, a *yajña* was performed. Like the Puja, the *yajña* was also very special. At Mataji's own suggestion there was no '*Pūrnāhuti*' (last oblation that completes the sacrifice) and the fire was not allowed to be extinguished. When, after the *yajña* everyone had left with the exception of Didi (Gurupriya Devi), her father and her two brothers, Mataji asked Didi to put the live coals into a vessel and bring them to her. Mataji took the vessel and shaking the fire, remarked "Wait and see. The fire of this *yajña* will be converted into the fire of a *mahāyajña*." Nobody then understood the meaning of this statement. But when 2 years later, namely in January 1947 a *mahāyajña* was started in our Varanasi Ashram, which lasted for full three years the significance of Mataji's words became clear. The firs person who volunteered to guard the fire after Mataji ha made the memorable remark was Didi's father, the then Civi Surgeon of Dacca, Dr. S. Mukherji, who later became Swam Akhandanand. He kept the fire intact for nearly five months It was arranged that oblations should be offered into the fir every morning. After the inauguration of the Dacca Ashram the Brahmacharis there were entrusted with the care of th fire. Once, on leaving Dacca, Mataji showed them som special rite by which to relight the fire in case it should b accident go out. While Mataji was at Adinath, *Agnideva* the fire god, all of a sudden appeared to her in the shape o a fiery wave. Then again, when Ma stayed at Calcutta *Agnideva* appeared before her as a flame. In both cases i was later verified that this had occurred at the exact tim when the fire at Dacca had by mistake been allowed to g out. In this manner, although the sacred fire went out physically, its subtle counterpart at once reverted to Mataji, an thus in one way, it was preserved without interruption. Th fire was then divided into two or three portions so as t make sure that it would not be extingnished. One portion wa installed in the Vindhyachal Ashram, in a specially erecte small building. Later, when Dacca became Pakistan, the fire together with the images of Annapurna and Kali, were transferred to the Varanasi Ashram. The food that is offered i the Annapurna Temple is always cooked on that sam sacred fire.

---

* See 'Ananda Varta,' Vol VII/3, pp. 144-150 and Vol. VIII/1, pp. 45-51.

The *Savitri Mahayajña* that was performed at our Varanasi Ashram from 1947-1950 was of a magnitude, quite extraordinary in modern times, carried out with meticulous care by specially chosen Brahmacharis under Mataji's personal supervision.[*] For the end and climax of the function a great number of prominent Mahatmas from all over India were invited and many came. It was indeed a unique occasion never to be forgotten by anyone who had the privilege to attend. Not a few are of the opinion that a *yajña* of this quality has not been achieved since Vedic times. The chief priest of the *yajña*, who faithfully attended to his duty throughout the three years, Sri Nepal Brahmachari, then performed his *viraja homa* (the fire by which a man is supposed to renounce everything before taking *Sannyāsa*) and thence became Swami Narayanananda Tirth.

Once, when Mataji was asked about the actual purpose of the great *yajña* at Varanasi, she replied. "This *yajña*—so I hear—is performed for the love of Him who is the one Beloved of men, beasts, trees, plants, flowers—in fact of every living beings belonging to the universe, performed for the love of Him who can never cause harm to anyone or anything. Therefore, who will reap the benefit of this celebration ? Can you tell ? There is no particular motive or set purpose behind it, surely not ! When there are clouds in the sky, what happens ? It rains. Who profits by it ? Everyone indiscriminately……"[†]

---

[*] It is described in detail in Bengali and Hindi in the book "*Akhanḍ Mahayajña*" by Sri Gurupriya Devi.

[†] See Ananda Varta, Vol. IV 4, p. 312.

In 1961 a portion of the sacred fire was brought t Hardwar when on *Śivaratri* day three Brahmacharis of ou Ashram were initiated into *Naiṣṭhik Brahmacharya.* Fo two full years they had to remain in Hardwar, their daily routine including the performance of *Havan* (sacrifice) into this fire on which they would prepare their meal. The fir has since remained at Hardwar as well as at Varanasi and last year a portion was installed in our Ashram at Agarpar as well.

As a rule, when performing a *yajña,* the fire is lit by rubbing two pieces of wood against each other, as prescribed in the *Śāstra.* This 16th March, when the *yajña* at Baghat House was to be started, the priest intended to ask Mataji whether the fire should be lit in the traditional manner or taken from the sacred fire preserved since 1926. Mataji's room happened to be closed and he could not contact her. He, therefore, decided on his own to use the sacred fire. So far, this fire had never been worshipped for any particular purpose (*sakāma*) but only for the love of God (*niṣkāma*). Mataji would have therefore advised the priest to light a new fire. But evidently it was God's will that the sacred fire should serve in this case also for the uplift of the world.

In these days of Western education and modern science people are apt to think lightly of rites like *yajñas, havanas* etc. However, we are convinced that none of Mataji's movements and actions are without profound significance and that they invariably are designed to promote the highest good of all. True, it may not always be easy for us to understand the importance of the various rites and functions performed in our Ashrams, but there can be no doubt that whatever happens within the orb of Mataji's influence is bound to bring us nearer to the ultimate Goal of human existence.

The atmosphere during those two functions of Hardwar was quite incomparable, apt to lift everyone out of wordly cares and petty considerations and worries. It must have left a lasting impression on everyone present.

* * *

Mataji suddenly left Hardwar on the 24th evening for Calcutta. Didima, Sri Gurupriya Devi and most of Mataji's party remained at Hardwar. After a stay of six days in Calcutta, Mataji resumed her return journey to Dehradun on the 31st evening. She halted for one night in the Varanasi Ashram and reached Rae Bareilly on the 2nd afternoon. On the 3rd evening Mataji was taken to Lucknow by car where she gave *darshan* to many devotees in the house of Sri H. C. Banerjee, a Railway official, and then boarded the train to Dehradun, alighting there on the 4th morning.

Didima's (Sri Swami Muktananda Giri's) *Sannyāsa Utsava* is to be celebrated on the 13th April in the Kishenpur Ashram. From April 15th to 23rd a *Bhagavata Saptah* will be held in our *Sadhan Ashram*, Jakhan, Dehradun. Mataji's birthday is going to be celebrated this year in Almora from May 2nd to May 30th.

ANANDA VARTA

Statement about ownership and other particulars.

FORM IV

(See Rule 8)

1.	Place of Publication	Mata Anandamayee Ashram Bhadaini, Varanasi
2.	Periodicity of its publication	Quarterly
3.	Printer's Name	K. Bose
	Nationality	Indian
	Address	Mata Anandamayee Ashram Bhadaini, Varanasi
4.	Publisher's Name	K. Bose
	Nationality	Indian
	Address	Mata Anandamayee Ashram Bhadaini, Varanasi
5.	Editor's Name	K. Bose
	Nationalily	Indian
	Address	Mata Anandamayee Ashram Bhadaini, Varanasi
6.	Name and address of the Society which owns the newspaper.	Shree Shree Anandamayee Sangha (Regtd.) Bhadaini, Varanasi

I, K. Bose, hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

Date 29-2-64.

(Sd) K. Bose
Signature of Publisher

Registered with the Registrar of Newspapers for India under No. RN

SHREE SHREE ANANDAMAYEE SANGHA
LIST OF PUBLICATIONS

Hindi

Mātri Darshan—"Bhaiji"
Sad Vāni ,,
Sri Sri Ma Anandamayi—Gurupriya Devi
Vol. I, III, V and VI eac
Vol. II and IV ,,
Ma Anandamayi—Dr. Pannalal
Ma Anandamayi Upadeshamrita Sangraha (Out of
Akhanda Mahāyajña—Gurupriya Devi
Kirtan Rasa Swarūpa
Sankirtan, Stav, Aratī

Bengali

Mātri Darshan—"Bhaiji"
Sad Vāni ,,
Mātri Vāni
Sri Sri Ma Anandamayi—Gurupriya Devi
Vol. I–IX eac
Vol. X, XI eac
Ma Anandamayi Upadeshamrita Sangraha
Akhanda Mahāyajña ,, ,,
Kirtan Rasa Swarūpa
Suno Bali Maer Kotha—Sailesh Brahmachari
Mātri Lila Sankirtan
Anandamayi Ma—Ganga Samiran
Namavali— ,,

Gujarati

Mātri Darshan—"Bhaiji"
Ma Anandamayee Ke Sannidhyame, Part I & II—Br. Kantibhai
Amrit Vani—Br. Dattatreyanand

English

Mother As Revealed to Me—"Bhaiji"
Mother As Seen by Devotees (A Symposium)
Mātri Vāni (Sayings) 1-50 Special editi
Words of Sri Anandamayi Ma Rs. 3-00 or 5-00 (Rexin

Photos etc.

Album of Mother's pictures
Photos—various sizes ranging from 0-37 to
Lockets

Ananda Varta

HINDI & ENGLISH

LIBRARY
No. ......
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS

श्री श्री आनन्दमयी संघ
ॐ
मातृ शरणं

Vol. XII August, 1964 No. 2

MATRI VANI

REVISED AND ENLARGED EDITION.

This small book contains a rare selection from the sayings of Mata Anandamayee, pearls of wisdom that were uttered in reply to letters from various people at differen times.

They come from a great depth far beyond the dividin barriers of sect and creed and have a universal appeal to al human beings. They are sure to bring solace to the afflicte and sorrow-stricken and throw light on the razor's edge pat of the seeker after Truth.

The revised and enlarged edition has just been printe on very good paper with two new pictures of Mataji. Specia care has been taken to make the binding and cover also mor decent.

Price : Cheap edition—Rs. 1.50
Board bound—Rs. 2,50
Publishers : Shree Shree Anandamayee Sangha
Bhadaini, Varanasi.

Ānanda Vartā

A quarterly journal dealing mainly with the divine life and teaching of Shree Shree Ma Anandamayee and with other religio-philosophical topics

*

BOARD OF EDITORS

Mahamahopadhyaya Sri Gopinath Kaviraj, M. A., D. Litt.
Kumari Lalita Pathak, M. A.
Kumari Padma Misra, M. A., Acharya.
Kumari Bithika Mukerji, M. A., D. Phil.
Brahmacharini Atmananda.
Sri Sailesh Brahmachari.
Sri Amulya Kumar Dutta Gupta, M. A., B. L.
Sri K. Bose—*Managing Editor.*

*

Annual subscription (postage free) India—Rs. 6/- only
Foreign—(By Sea Mail) Rs 7·50 or 15 shillings or $ 2·00
(By Air-mail)—Rs. 17·50 or £ 1-10-0 or $ 4·50.

ĀNANDA VĀRTĀ

GENERAL RULES

1. The magazine is published in three separate editions—(1) Hindi-English (2) Bengali-English (3) English—in the first weeks of May, August, November and February. The year begins from May.

2. Subscriptions are always payable in advance. Foreign subscriptions may be sent either by International Money orders or Postal orders.

3. Subscriptions to be sent to :—

The General Secretary, Shree Shree Anandamayee Sangha,
Bhadaini, Varanasi, (U. P.)

4. All correspondence regarding 'Ananda Varta' should mention without fail the subscription number and be addressed to :—

The Managing Editor, "Ananda Varta", Shree Shree Ma
Anandamayee Ashram, Bhadaini, Varanasi, (U. P.)

5. Complaints about non-receipt of the magazine should be sent *by the second week of the month of publication.*

6. Any change of address should be intimated to the Managing Editor at the earliest possible opportunity.

7. Subscribers are requested not to dishonour any issue of the magazine sent by V. P. P., as this entails a loss to the Ashram fund. They may kindly inform us *beforehand* if they desire to discontinue subscribing to the magazine.

Published by Shri K. Bose, for
Shree Shree Anandamayee Sangha, Varanasi.
Printed at the Indian Press (Pte.) Ltd., Varanasi-Branch VARANASI.

CONTENTS

Hindi Section

Page No.

1. मातृ-वाणी 53
2. डायरी के कुछ पृष्ठ—गुरुप्रिया देवी 55
3. महातपा के आश्रम में - ब्रह्मचारी निर्मलानन्द 61
4. अष्टांग योग—डॉ॰ श्री शान्तिप्रसाद आत्रेय एम. ए., पी. एच. डी. 72
5. मातृ-सत्संग – स्वामी भागवतानन्द गिरि 80
6. कैलाश-मानसरोवर-प्रदक्षिणा—श्री 'दत्त' 94

CONTENTS

English Section.

Page No.

1. Matri Vani 55
2. Pages from my Diary:—By Guru Priya Devi ... 57
3. Phonetics of Infinity:—By D. S. Mahalanobis ... 65
4. Modern Science & Indian Philosophy:—
   By Dr. B. L. Atreya M. A., Padmabhusan ... 77
5. The Goal of Human Life:—
   By Jainath Kaul, M. Sc. 90
6. Brief Notes 100
7. An Appcal 104

Sic transit gloria mundi

We express our deepest sorrow at the unexpected passing away of our beloved Pandit Jawaharlal Nehru, the Prime Minister of India, on Wednesday, the 27th May, 1964.

It is fairly well-known to most of the devotees of Shree Shree Mataji that Pandit Nehru had come into close contact with her long time ago through his late wife, Srimati Kamala Nehru, who remained a very sincere and ardent devotee of Mataji till her last days. Inspite of his multifarious responsibilities and pressing engagements Pandit Nehru found time to meet Mataji and offer his respects to her whenever it was possible. Mataji was invited to his residence quite a number of times and the last time he had the *darsan* of Mataji was on 29th February, 1964, when she paid short visit to the Prime Minister's House at the request of his daughter, Smt. Indira Gandhi. Alas ! No one knew that would be his last meeting with Mataji.

The most unexpected news of the demise of Pandit Nehru came as a terrible shock to all of us who had gathered together in our Ashram at Almora on the occasion of Mataji's Birthday celebrations which were due to conclude on the 30th May. It need hardly be said that as a consequence the celebrations lost much gaiety, all illuminations being stopped and a feeling of gloom pervaded the entire atmosphere of the Ashram. Everyone felt as if one of his near and dear ones had passed away. Many people were seen openly weeping under a sense of keen personal bereavement.

On the 28th May the members of the Shree Shree Anandamayee Sangha met at the Annual General Meeting and after observing silence and offering prayers for eternal peace to the soul of the great man, the following resolution was unanimously passed :

"This meeting of the General Body of Shree Shree Anandamayee Sangha places on record the deep sense of grief at the passing away of Pandit Jawaharlal Nehru, a jewel of a man, the like of which the world sees only once in a while, a *Karma Yogi*, who devoted his all for the betterment of his country and countrymen, a man of the highest stature whose name became synonymous with all that is pure, truthful and fair, a doyen among statesmen of the world who made lasting contribution to world peace and who died at his post, in harness, as he always wished, serving his mother-land till his last breath."

Special request was made to Mataji on behalf of Smt. Indira Gandhi to send Brahmacharini Pushpa from Almora to attend the programme in the Prime Minister's House. Mataji was kind enough to accord special permission for this purpose. Accordingly Brahmacharini Pushpa and Kumari Chhabi Banerjee went all the way with two other girls to Delhi and attended the prayer programmes on 5th, 6th and 7th June. Bhajans and Kirtans, etc, sung by them were relayed by the All India Radio and were immensely appreciated by thousands all over the country. We are really thankful to the members of Pandit Nehru's family for all the courtesies shown to them.

We have in our possession a number of valuable photographs of Pandit Nehru with Mataji which have not so far been published anywhere. We have been requested by many people to print those photographs in our magazine for the benefit of all our readers. A number of them are being published in this present issue and it is hoped that others will appear in course of time.

Ānanda Vārtā

“अमर आत्मा—अमर पन्थी स्वयम्—अपनेमें आप।”

VOL. XII] AUGUST, 1964 [NO. 2

—मातृ-वाणी—

भगवान की करुणा हर स्थान पर हर समय वर्षित हो रही है। अपने को उस ओर उन्मुख कर देते ही उसका प्रकाश मिलता है। भगवान की कृपा की प्रार्थना हर समय मनुष्य का कर्तव्य है।

× × × ×

मन में शान्ति पाने के लिए परमार्थ पथ के अनुकूल जो रूप और भाव अच्छे लगते हैं उस मत और पथ का अनुसरण करना चाहिए। अन्तर्गुरु का जब तक प्रकाश न हो तब तक परम स्थिति की दिशा कहाँ?

× × × ×

सर्वमय भगवान—सबके घट-घट में एकमात्र वे ही हैं। भगवान को जो प्यार करना चाहता है—उसका भाग्य है—भगवान की कृपा। भगवान पर मनुष्य का प्रेम होना। उसी से शान्ति—आनन्द। सदा ही उनके चरण की शरण। मनुष्य को ही भगवान को प्राप्त करना है। सत्यानुसन्धान का मार्ग खुला है।

× × × ×

गुरुकरण यदि ठीक-ठीक हो तो गुरु त्याग कभी नहीं होता। शिष्य के पास हर समय गुरु विद्यमान हैं। भगवान ही मनुष्य के गुरु हैं। उन्हीं पर निर्भर रहना।

क्रिया, योगाभ्यास आदि गुरु के सान्निध्य बिना नहीं होते। किन्तु ध्यान-जप जहाँ तहाँ हो सकते हैं। अटल ध्यान स्थिर आसन पर बैठने की चेष्टा करना मन को शान्त रखने के लिए। मन को परमार्थ लक्ष्य में रखने की चेष्टा। उससे शान्त होने की दिशा खुलने की आशा है।

× × × ×

भगवान का प्रेम मनुष्य का ही वाञ्छित है। जिनसे उत्पन्न है, जो माता पित बन्धु सखा स्वामी सब कुछ हैं, उन्होंने जिसके भीतर से प्रकट किया है—जिन्होंने माता की छाती के दूध से पुष्ट किया है, उन्हें तुम माँ या जिस नाम से पुकारो—उस शब्द को चाहो तो हर समय स्मरण रखना।

× × × ×

गुरु माँगना रूप में जो हैं, प्रकाश पाना रूप में भी वही हैं। किन्तु सच्चा माँगना आना चाहिए। सदा उनका स्मरण उन्हीं की अनुभूति के लिए।

डायरी के कुछ पृष्ठ

गुरुप्रिया देवी

१६ जुलाई १९६१

आज शाम पाँच बजे माँ पूना से बंगलौर आई हैं। मैसूर के प्रधान विचारपति श्री सुबोधरंजन दास गुप्त (कोहिनूरदा) माँ के पुराने और अनन्य भक्त हैं। उनके एकान्त अनुरोध से ही इस बार माँ का आना हुआ है। स्टेशन पर कोहिनूरदा, उनकी स्त्री, चरखारी स्टेट की राजमाता एवम् और भी अनेक लोग उपस्थित थे। माँ का आदर अभ्यर्थना करके कोहिनूरदा माँ को अपने निवासस्थान पर ले आए। मैंने देखा कि माँ के लिए तालपत्रों की एक सुन्दर कुटी बनाई गई है। माँ कमरें में प्रवेश करते ही बोलीं, "खूब सुन्दर कमरा है।" दक्षिण में माला का विशेषत्व है। कोहिनूरदा की स्त्री वेलादी ने माँ को एक विराट माला पहना कर आरती की।

शाम को कुछ लोग माँ के दर्शन के लिए आए। कोहिनूरदा ने माँ के विश्राम के लिए खूब ही सुन्दर व्यवस्था की है।

१७ जुलाई १९६१

आज सबेरे के अखबार में एक दुःसंवाद देखा। कल रात को ग्वालियर के महाराजा अपने बम्बई वाले मकान में हठात् मृत्यु को प्राप्त हुए। माँ को खबर देते ही वे बोलीं, "इस शरीर को खयाल हो रहा था कि मृत्यु हठात् हुई है। महाराजा कुछ दिनों से बहुत बीमार थे। गत एप्रिल मास में जब माँ ग्वालियर गई थीं, तब भी महाराजा हृदय की पीड़ा से शय्याशायी थे। माँ को मालूम था कि किसी भी मुहूर्त में कुछ भी हो सकता है। किन्तु मन्दिर प्रतिष्ठा के शुभ उत्सव एवं माँ की उपस्थिति में कुछ हो जाने से बहुत ही दुःखप्रद होता। इसीलिए हमारा दृढ़ विश्वास है कि उस समय माँ के ही विशेष ख्याल से महाराजा का मृत्युसंकट टल गया था।

महाराज ज्यादा दिन माँ के संस्पर्श में नहीं आए। किन्तु थोड़े समय में ही उन्होंने सबको अपने चरित्र माधुर्य और व्यक्तित्व से आकृष्ट कर लिया था। माँ के

प्रति उनकी गहरी श्रद्धा और आदर को देखकर सभी मुग्ध हुए थे। महारानी विजया राजे ने माँ से अनेकों बार बड़े आश्चर्य में आकर कहा था कि महाराजा ने आज पर्यन्त किसी साधू महात्मा के सामने मस्तक नहीं झुकाया और आध्यात्मिक रुचि का उनमें बाहरी कोई भी लक्षण नहीं देखा गया। किन्तु माँ के पास आकर वे बिल्कुल बच्चे की तरह व्यवहार करते थे—भारत के राजाओं में ग्वालियर के महाराजा सिन्धिया अन्यतम एक जन थे। महाराजा की अकालमृत्यु से हम सभी अत्यन्त मर्माहत हुए। ऐसा मालूम हुआ मानो हमारा निजी कोई एक विशेष व्यक्ति चला गया। विधाता का अमोघ विधान—हमारी बुद्धि के बाहर है। महारानी ने कितने कातर भाव से माँ के आशीर्वाद के लिए बम्बई से बार-बार लोग भेजे। किन्तु माँ की लीला मनुष्य की बुद्धि के लिए अगम्य है।

२० जुलाई १९६१

आज श्रीमती फिरोजा तलयार खाँ माँ से मिलने आईं। यह माँ की एक विशेष भक्त हैं—महर्षि रमण की शिष्या। तिरुवन्न मलाई में महर्षि के आश्रम में ही यह बहुत काल से हैं। १९५२ में माँ जब हरि बाबा और अवधूत जी के साथ दक्षिण यात्रा में थीं, तब दक्षिण के अनेक स्थानों में आने, जाने रहने की समस्त व्यवस्था उन्हीं ने बड़ी प्रसन्नतापूर्वक की थी। आज उनके साथ मैसूर के प्रधान मंत्री और उनकी स्त्री माँ के दर्शन के लिए आए।

कथा प्रसंग में माँ ने कहा, "गाय जैसे अपने बच्चे को चाट चाटकर साफ करके समस्त मैला स्वयं ग्रहण कर लेती है, भगवान भी उसी तरह अपनी सन्तान के समस्त दोष खींच कर उसे शुद्ध, पवित्र कर देते हैं। शुद्ध बुद्धि से निष्काम सेवा।"

माँ ने फिर कहा, "जितनी देर हो सके नाम लेते रहने की चेष्टा करना। जागतिक बन्धु का साथ करने से जैसे उसकी सब बात जानी जाती है, उसी तरह परम-बन्धु का संग करने से वे अपना तत्त्व तुम्हारे सामने प्रकाशित कर देंगे। समुद्र की लहर देख कर क्या तुम स्नान करना छोड़ देते हो? लहरों के बीच में कूदकर ही वे स्नान कर लेते हो वैसे ही सांसारिक झड़-झंझट (dis turbance) के मध्य भी उनको सर्वदा स्मरण करना, और जप करते रहने की चेष्टा करना।"

२९ जुलाई १९६१

शाम को कोहिनूरदा ने अपनी गाड़ी में माँ को ले जाकर बंगलौर शहर घुमा कर दिखाया। माँ गाड़ी में बैठी हुई बोलीं, "यहाँ का वातावरण खूब अच्छा है। एक शान्त भाव है। लोगों के चेहरे पर भी जैसे एक स्निग्ध भाव है। इत्यादि सब कैसे सुन्दर ताजा-ताजा है।" लाल बाग देखकर माँ खूब ही आनन्दित हुईं। बंगलौर शहर सचमुच अत्यन्त सुन्दर सजागुफा है। प्राकृतिक सौन्दर्य से एकदम भरपूर।

रात के सत्संग में माँ कह रही थीं, "स्व-मा। वे स्वयं मय होकर रहे हैं—हैं। उनको जो व्याकुल होकर ठीक-ठीक पुकारता है, वे उसी समय प्रकाशित हो जाते हैं। माँ पुत्र का असली रोना जानती है—जिस रोने पर माँ सब काम छोड़ कर भागी आती है।"

जगद्गुरु और गुरुशक्तिपात के सम्बन्ध में माँ बोलीं, "जगद्गुरु कोटि में एक होता है। जगद्गुरु कौन है—जो जगत का त्राण करता है। साधारण गुरु जो मंत्र देते हैं। उससे गुरु शक्तिपात नहीं होता। फिर भी मंत्रद्रष्टा ऋषि से जो मंत्र का विकास गुरु परंपरा से चला आ रहा है उससे मंत्रशक्तिपात होता है। इसलिये जो मंत्र तुम्हें मिला है उससे मंत्र शक्तिपात तो है ही। अपने संस्कार के अनुसार वह स्फुरण हो सकता है और जहाँ गुरुशक्तिपात होता है वहाँ तो सम्बन्ध स्थापित हो ही गया। मंत्रदीक्षा के अलावा भो और किसी भाव से भी गुरुशक्तिपात हो सकता है।"

२० जुलाई १९६१

आज भी संध्या के बाद सत्संग में एक प्रश्न के उत्तर में माँ ने कहा, "प्रारब्ध-भोग जीवन्मुक्त को भी करना पड़ता है। पर वह साधारण जीवों के समान नहीं। जैसे समझो—पंखे का switch off करने पर भी जैसे पंखा घूमता है। ज्ञानाग्नि द्वारा प्रारब्ध संचित कर्म भी जल जाता है। सब जला सकता है और प्रारब्ध नहीं जला सकता ?"

फिर कह रही हैं, "भगवान का चिन्मय रूप, चिन्मय विग्रह नित्य। तुम तो नाशवान। जहाँ जन्म मृत्यु है वहीं तो साधन, प्राप्ति की इच्छा। अप्राप्त, प्राप्ति के पार जाने के लिए ही तो साधना। जहाँ नित्य विग्रह है वहाँ नष्ट नहीं होता। न-इष्ट।

भगवान के लिए यात्रा भगवद् इच्छा को छोड़कर क्या होती है ? तुम जो प्रश्न रहे हो वह भी भगवद् इच्छा से ही, भगवान के यंत्रवत् ही तुम्हारे प्रश्न उत्त समाधान, असमाधान भगवान ही। भगवान के पास से दूर ही दुर्बुद्धि-दुर्बोध-दुर्गति उसे दूर करने के लिए ही तद् भावना तद्चिन्ता। वासना कामना लिए मारा जाता वही मृत्यु। कारण return ticket करके जाना–फिर आना होगा। यदि सौभा से मृत्यु की मृत्यु हो जाय तो तुम जो शुद्ध, बुद्ध, मुक्त हो उसका प्रकाश होगा।"

"जो समय जाता है वह फिर आता नहीं। मनुष्य वह है जिसे मन का हो हो गया है। यह अमूल्य समय नष्ट न करना। आत्मघाती न होकर तुम्ही स्वयं अमृत आत्मा हो उसका प्रकाश करो। तुम जो नित्य दास हो उसे प्रकाशि करने की चेष्टा करना। ज्ञान, भक्ति कर्म सब एक तक ही पहुँचते हैं। सब ना भगवान के—और अनाम, अरूप, जिस किसी भी रूप में पाया जाय, अन्त में दे जाता है कि सभी एक। भगवत्प्राप्ति में स्त्रीपुरुष सबका समान अधिकार। दुर्लभ ज को सुलभ करने की चेष्टा करना मनुष्य का कर्तव्य है,—नहीं तो जन्म और मृत्यु।

आगामी २४ ता० को यहाँ से कलकत्ते की ओर जाने की बात है। इस व गुरुपूर्णिमा के समय उपस्थित रहने के लिए कलकत्तावासियों ने माँ से वि प्रार्थना की है।

२६ अगस्त १९६१

माँ झूलन के उपलक्ष में वृन्दावन आई हैं। आज माँ के नए घर का गृ प्रवेश है। आश्रम के बाग में मंडी की रानी के अर्थ से माँ के लिए पृथक् एकत मकान बनाया गया है। गृहप्रवेश के उपलक्ष में दिल्ली से मंडी के राजा साहब, रा साहिब एवं लड़के लड़की आए हैं। उपयास्त नाम कीर्तन की व्यवस्था की गई है मंडी के सब लोगों को लेकर माँ ने नए मकान में प्रवेश किया। साथ में परमानन्द स्वरूपानन्द आदि साधुओं और मैंने प्रवेश किया, वास्तुपूजा, नारायण पूजा, आदि हुए। माँ के कमरे में मैंने ही थोड़ी पूजा की। यज्ञ की पूर्णाहुति के प हरिबाबा जी, प्रभुदत्त जी, चक्रपाणि जी, शरणानन्द जी, विष्णु आश्रम जी प्र महात्माओं ने भी नए घर में प्रवेश किया। माँ सबके साथ वहाँ कुछ काल बैठी

फल और वस्त्र आदि से साधुओं की अभ्यर्थना की गई। उनमें से कुछ ने आश्रम में भिक्षा भी ग्रहण की।

४ सेप्टेम्बर १९६१

परसों माँ हरिद्वार से देहरादून आई हैं। आज ही दिल्ली लौट जाने की बात है। पंजाबी भक्त रेल के अवसरप्राप्त बड़े इञ्जीनियर श्रीयुत रूपचाँद सूद ने कुछ साल हुए देहरादून में अपने रहने के लिए एक सुन्दर मकान बनाया था किशनपुर आश्रम से कुछ नीचे जाखान मन्दिर के सामने। वहाँ का प्राकृतिक दृश्य अत्यन्त मनोरम है। मकान भी खूब सजाबजा—एकदम झकझक करता हुआ—मोटर गैरेज, बाग सभी कुछ है। कुछ दिन हुए उन सज्जन ने मकान माँ के चरणों में अर्पण कर दिया। सन्तान आदि नहीं हैं। उनकी एकमात्र इच्छा है कि जीवनपर्यन्त उस मकान में वानप्रस्थी हिसाब से रहें। मकान का नाम रखा गया है "श्री श्री माँ आनन्दमयी साधन आश्रम।"

माँ ने आज नए आश्रम में प्रवेश किया। आश्रम की लड़कियों ने वहाँ जाकर गीता पाठ और कीर्तन किया। श्रीयुत सूद को आज कितना आनन्द है! इतने दिन की उनकी मनोकामना पूरी हुई।

शामको माँ दिल्ली के लिए रवाना हो गईं। आगा साहब आजकल Railway Protection Force के Inspector General हो गए हैं। स्वामी जी माँ के दर्शन के लिए आए थे। अपने सलून में माँ को दिल्ली ले गए।

५ सेप्टेम्बर १९६१

माँ आज सबेरे दिल्ली आश्रम में पहुँच गईं।

शाम को श्रीमती इन्दिरा गांधी माँ से मिलने आईं। माँ जब पन्द्रह दिन पहले यहाँ आई थीं, तभी उनके आने की बात थी। परन्तु उस समय वे समय नहीं निकाल पाईं। इसीलिए आज जैसे ही उन्होंने सुना कि माँ आई हैं, वह आकर आश्रम में उपस्थित हुईं। कुछ समय एकान्त में बातचीत करने के बाद माँ ने पुष्पा को बुलाकर इन्दिराजी को दो गाने सुनाने को कहा, कमरे में पुष्पा के सिवा तीसरा व्यक्ति नहीं था, काफी देर तक रह कर, माँ को प्रणाम करके इन्दिराजी ने विदा ली।

८ सेप्टेम्बर १९६१

आज इन्दिरा गांधी के पति फिरोज गान्धी की वार्षिक तिथि का उत्सव इन्दिराजी के आग्रह से पुष्पा प्रधान मन्त्री के घर भजन गाने गईं। साथ में शा और कमल ब्रह्मचारी। माँ सुनते ही बोलीं, "इन्दिरा माँ के यहाँ जरूर जायंगी। भ कीर्तन सुनाकर लोगों को आनन्द देना तो महासेवा।" सुना कि उस दिन मा कमरे में पुष्पा का गाना सुनकर इन्दिराजी को बहुत अच्छा लगा था।

कथाप्रसंग में माँ ने कहा था कि जब माँ प्रथम बार ढाका से देहरादून तब वे आनन्दचौक में रहती थीं—उन दिनों पंडित नेहरू की स्त्री कमला जी मा पास बहुत आती जाती थीं—उनका बड़ा सुन्दर एक ध्यान का भाव सदा ही रहता माँ से उन्होंने कहा था कि ध्यान में उन्हें श्रीकृष्ण का दर्शन भी होता था, रात में एक दिन माँ के पास ही लेट रहती थीं, हाथ में घड़ी रहती थी। सबेरे के पाँच ब ही उठकर चली जाती थीं—एक एक दिन सबेरे स्वामी के लिए खाना टिफिन कै में ले आती थीं और समय होने पर पंडित जी को खिलाने चली जाती थीं— जब कमला जी अस्वस्थ अवस्था में भवाली सैनिटोरियम में थीं तो अल्मोड़ा के रास्ते में माँ उनको देखने गईं। कमला जी का शरीर बहुत खराब होने के का नर्सों ने माँ से मिलने में बाधा दी किन्तु उन्होंने कहा कि यदि उन्हें माँ से न मि दिया गया तो उनका शरीर और मन और भी ज्यादा खराब हो जायगा। अल्मो उतरते समय भी माँ भवाली में कमला जी को देखने आईं। वही अन्तिम मि था। उसके कुछ दिन बाद ही कमला जी को यूरोप ले जाया गया। वहाँ से वे लौटी नहीं। माँ का दिया हुआ हाथ का कड़ा उन्होंने मृत्यु के पहले अपनी ल को दे दिया। वह अब भी इन्दिराजी के पास यत्नपूर्वक सुरक्षित है। माँ का व्यव किया हुआ एक तकिया और कांथा भी उन्होंने लिया था।

LIBRARY
No.…………
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS.

महातपा के आश्रम में

ब्रह्मचारी निर्मलानन्द

अति प्राचीन काल में हरिद्वार के समीपवर्ती हिमालय के पादप्रदेश में स्वच्छ-सलिला गङ्गा के पश्चिम किनारे पर अत्यन्त मनोरम विविध फल-पुष्पों से सुशोभित एक तपोवन था। इसके पूर्वी भाग में घने पेड़ों की छाया से आवृत, सदा होम गन्ध से आमोदित, अन्तेवासियों (छात्रों) के सुमधुर साम गान से मुखरित, एक रमणीय आश्रम था। उस आश्रम में महातपा नाम के एक परम तेजस्वी, पवित्रात्मा, श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ मुनि निवास करते थे। वे कुलपति थे और सब शास्त्रों में उनका पांडित्य था। देश-देशान्तर से आध्यात्मिक तत्त्व के अनुसंधित्सु व्यक्ति उनके पास अपनी-अपनी समस्याओं के समाधान के लिए आते थे और उनके मधुर व्यवहार और शास्त्रों की सरल व्याख्या से परम सन्तोष और प्रसन्नता प्राप्त करते थे। महामुनि के आश्रम में सदा सहस्र-सहस्र शिष्य विद्याध्ययन में व्यस्त रहते थे। आचार्य महातपा की शिक्षा की एक यह विशेषता थी कि वे प्रतिदिन सायंकाल में अपने आश्रम के पीपल वृक्ष के नीचे आलोचना सभा बुलाते थे। इस सभा में छात्र एवं ज्ञानपिपासु व्यक्ति अपने सब प्रश्नों का सहज समाधान कर लेते थे।

उस दिन चैत्र की शुक्लाष्टमी थी। सूर्यदेव विदा ले चुके थे। आकाश में चाँदनी खिल रही थी। शीतल पवन चल रहा था। चारों ओर सान्ध्यकालीन शान्त भाव था। छात्रगण सन्ध्यावन्दनादि समाप्त करके एक-एक करके अश्वत्थ वृक्ष के नीचे इकट्ठे होने लगे। धीरे-धीरे सब स्थान भर गया। सभी आचार्यदेव के शुभागमन के लग्न की प्रतीक्षा में थे। ऐसे समय महामुनि धीरे-धीरे सभास्थल पर आकर वेदी के ऊपर बैठ गए। सबों के अभिवादन करने पर हाथ उठाकर मुस्कराते हुए आशीर्वाद दिया और सबको प्रसन्नवदन देखकर परम सन्तुष्ट हुए।

मुनि के प्रिय शिष्यों में सुमन्त अत्यन्त मेधावी और अध्यवसायपरायण था।

आचार्य महातपा ने धीर स्वर से पूछा, "वत्स सुमन्त, तुम्हारे प्रस्फुटि कमल के समान कोमल और तेजस्वी मुखमंडल पर आज किस कारण विषाद की काली छाया देख रहा हूँ। तुम क्या आज ठीक तरह से पाठ समझ नहीं सके अथवा किसी समस्या का समाधान नहीं कर सके। जिसके कारण इस प्रकार विषण्ण वदन हो रहे हो?

आचार्य की यह बात सुनकर सुमन्त धीरे धीरे उठकर मृदुस्वर से बोला, "पिता, आप ठीक समझे हैं। आज शास्त्रालोचना के समय वीतमन्यु ने मुझसे कहा, "भाई सुमन्त, आचार्य देव के श्रीमुख से बार-बार सुना है कि संसार दुःख क सागर एवं अनित्य है और इस संसार के मूल में है वासना। वासना का त्याग होने ही संसार का त्याग हो जाता है। वासना के पाश से निष्कृति पाए बिना मुक्ति क आस्वाद बहुत दूर है। तो यह वासना क्या चीज है? कौन इसके पिता-माता हैं कौन इसकी वंशवृद्धि में सहायक हैं। यह कितने प्रकार की है—इन विषयों को तु विशेष रूप से जानते हो, अगर मुझे थोड़ा समझाकर बोलो तो बड़ी प्रसन्नता होगी।' किन्तु तात! मैं वीतमन्यु के प्रश्न का सम्यक् समाधान न कर सकने से तभी से म में कष्ट का अनुभव कर रहा हूँ। आप दया करके इस समस्या का समाधान क सबके प्रीतिभाजन होवें।

यह सुनकर मुनि कुछ हँसकर बोले, "वत्स, इसमें दुःख करने को कुछ न है। सब क्या सब कुछ जान सकते हैं, आओ, हम सब मिलकर इस उत्तम प्रश्न समाधान करने की चेष्टा करें।"

तब उन्होंने अपने अन्यतम प्रिय शिष्य गौतम की ओर देखकर कहा, "व इस विषय में तुम्हें जो मालूम है वह हमसे बोलो।"

गौतम ने अभिवादन करके कहा, "गुरुदेव, परसों महर्षि कौंडिन्य के आ में योगवासिष्ठ का पाठ सुनने गया था। वहाँ मैंने कुछ श्लोक सुने पर उनका अर्थ बहुत सुस्पष्ट नहीं हुआ। मैं आपके आदेशानुसार उन्हें कहता हूँ—फिर आ उनकी सम्यक् व्याख्या कर दीजिएगा।" यह कहकर गौतम बोले—

दृढ़भावनया त्यक्तपूर्वापरविचारणाम् ।
पदार्थस्य यदादानं वासना सा प्रकीर्तिता ॥
वासना द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा च मलिना बुधैः ।
मलिना जन्महेतुः स्यात्, शुद्धा जन्मविनाशिनी ॥
अज्ञानसुमनाकाराहंकारघनशालिनी ।
पुनर्जन्मकरी प्रोक्ता मलिना वासना बुधैः ॥
पुनर्जन्माकुरं त्यक्त्वा स्थिता संभृष्टबीजवत् ।
देहार्थें ध्रियते ज्ञातज्ञेया शुद्धेति चोच्यते ॥

इन चार श्लोकों को सुनकर मुनि खूब ही प्रसन्न होकर गद्गद स्वर से बोले, "वत्स ! मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम सरस्वती के वर पुत्र होओ । आओ, पहले मैं इनका सरल अर्थ करता हूँ पीछे विशदभाव से व्याख्या करने का प्रयास करूँगा ।

पूर्वापर विचार किए बिना पदार्थ की प्राप्ति की जो इच्छा होती है, वह वासना नाम से प्रकीर्तित है । यह वासना मलिन और शुद्ध के भेद से दो प्रकार की है । मलिन वासना जीव के जन्मग्रहण का कारण और शुद्धा वासना विनाश का कारण है । घोर मोह और अज्ञान और रजस्तमोगुणशाली अहंकारयुक्त जो वासना है, उसको पंडितगण पुनर्जन्मकारिणी मलिना वासना के नाम से निर्देश करते हैं । और पुनर्जन्म के अंकुर को भुने हुए बीज के समान बनाकर, केवलमात्र प्रारब्ध भोग करते हुए, आत्मज्ञान के लिए जो इच्छा है उसे शुद्धा वासना कहा जाता है ।

वासना शब्द हमारे अध्यात्मशास्त्र में नाना भावों में प्रयुक्त होता आ रहा है । योगशास्त्र में इसी वासना के सूक्ष्म रूप को संस्कार नाम दिया गया है । काम वा तृष्णा के अर्थ में भी यह प्रयुक्त होती है । आगे पीछे की विवेचना न करके मोहवश पदार्थ की प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा ही मलिना वासना है । इन्द्रियग्राह्य वस्तुनिचय विषय, अथवा संसार ही विषय है । तुम सामान्य विचार करने से समझ सकोगे कि वासना, कामना मन का धर्म है—मनोमय राज्य का कार्य हैं—यह मन किन्तु अहंकार का ही रूप है ।

वत्सगण ! फिर वासना कर्ममय है । कर्म से वासना की उत्पत्ति है । इस

हिसाब से वासना का जनक कर्म है। और वासना से नाना प्रकार के कर्मों का उद्भ होता है। वास्तव में दोनों एक दूसरे के परिपूरक हैं। समस्त संसार ही वासनाम एवं दुःख का घर है। कहा गया है :—

दुःखं जन्म, जरा दुःखं, दुःखं मृत्युः पुनः पुनः।
संसारमंडलं दुःखं, पच्यन्ते यत्र जन्तवः॥

अष्टावक्र संहिता में कहा गया है—

वासना एव संसार, इति सर्वा विमुंच ताः
तत्त्यागो वासनात्यागात् स्थितिरद्य यथा तथा॥

वासना ही संसार है, अतएव विषवत् वासना का त्याग करो।

अब कर्म के सम्बन्ध में तुम लोगों से संक्षेप में कुछ कहता हूँ, सावधा होकर सुनो।

वासना एवं उसका सूक्ष्म रूप संस्कार, कर्म से उत्पन्न होता है। कहा गया है—

देहप्राणमनोबुद्धिश्चित्ताहंकारमिन्द्रियम्।
दैवं च वासना चेष्टा, तद्योगात् कर्म सम्भवेत्॥

देह, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, इन्द्रिय, दैव, वासना और चेष्टा, इनके संयोग से कर्म की उत्पत्ति होती है।

गीता में श्री भगवान ने कहा है कि सांख्ययोग के मतानुसार कर्म के पाँ प्रकार के हेतु हैं—

अधिष्ठानं तथा कर्ता, करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा, दैवं चात्रुत्र पंचमम्॥

मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—यह सभी अहंकार का ही रूप हैं। देह, प्राण, इन्द्रिय करण—इस प्रकार समझ लेना। मैं यहाँ विशद व्याख्या में प्रवृत्त नहीं हूँगा—यह कर्म पाँच प्रकार के हैं नित्य, काम्य, नैमित्तिक, स्वाभाविक और निषिद्ध। नित्य और नैमित्तिक कर्म के द्वारा चित्त शुद्ध होता है और भोजनादि कर्म का कोई शास्त्रीय फल नहीं है। सब प्रकार की वासना के मूल में यह काम्य कर्म है। स्वा

आदि सुखभोग की कामना से एवं ऐहिक धनागम, सुखसमृद्धि, कुशल, जयलाभ इत्यादि की कामना से जो कर्म किया जाता है, उसे काम्य कर्म कहते हैं। देहात्मबुद्धि की दृढ़ता के कारण इन सब विषयों में जो दृढ़ता एवं सत्यबुद्धि है, वही संसार के बन्धन का कारण है। शान्ति गीता में कहा है--

कर्मबीजादिहैकस्माद् जायते चांकुरद्वयम्।
अपूर्वमेकमपरा, वासना परिकीर्तिता॥

कर्म एक बीज की तरह है जिससे दो अंकुर उत्पन्न होते हैं। एक का नाम अपूर्व वा दैव, दूसरे का नाम वासना। अपूर्व में कर्म का भोग होता है। भोग प्रदान करके वह नष्ट हो जाता है। और वासना, शुद्ध और अशुद्ध के भेद से, नाना प्रकार के कर्मों की सृष्टि करती है। बीज से अंकुर, फिर अंकुर से बीज की तरह, इस वासना और कर्मसूत्र में सब जीव आबद्ध होकर, इस जन्म मरणरूप संसार चक्र में परिभ्रमण करते हैं, किसी तरह निस्तार नहीं पाते--यह वासना समूह ही जीव का पदशृङ्खल-स्वरूप है।

यहाँ तक बोलकर मुनि ने छात्रों की ओर देखा और वीतमन्यु को सम्बोधन करके कहा "वत्स, तुम्हें समझने में कोई कष्ट तो नहीं हो रहा, यदि अभी भी विषय स्पष्ट न हुआ हो तो बोलो।

वीतमन्यु ने अभिवादनपूर्वक कहा, "पिता, अब तक आपने जो कहा, वह समझ गया, फिर भी वासना और संस्कार इन दोनों का परस्पर क्या सम्बन्ध है, इसे आप विशद रूप से बोलें तो अनुगृहीत हूँगा। और वासना कितने प्रकार की होती है और उसका संचय कैसे होता है--इसकी भी व्याख्या करके बताइए।

आचार्य देव बोले, "अति उत्तम बात है। मैं कहता हूँ। शान्त चित्त से ग्रहण करो।"

विषय वासना को मलिन वासना कहते हैं। यह अनन्त प्रकार की होते हुए भी, प्रधानतः तीन भागों में विभक्त की जा सकती है। जैसे--देहवासना, लोकवासना और शास्त्र वासना, इन्हीं का नामान्तर है--पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द जनित सब प्रकार के भोगों की इच्छा ही वासना है।

स्त्री पुत्र आदि की वासना को देहवासना समझना। धन, जन, यश, मान, पारलौ
भोगेच्छा भी वासना का ही नामान्तर है क्योंकि स्वर्गादि के भोग के अनन्तर
संसार में प्रत्यावर्तन करना पड़ता है। वास्तव में आत्मवासना के अतिरिक्त
प्रकार की अभिलाषा ही विषयवासना है।

योगशास्त्र के मतानुसार यह जो वासना है—इसी के सूक्ष्म रूप को संस
कहते हैं। इस संस्कार से स्मृति और चिन्ता का उदय होता है और जब यह संस
प्रबल रूप में दिखाई देता है तो हम उसे वासना कहकर जान लेते हैं। और भी
करके कहता हूँ—सुनो।

मानव शरीर के द्वारा, मन के द्वारा, वाक्य के द्वारा जिस किसी चीज
अनुष्ठान करता है या अनुभव करता है, वह सभी चित्त में वा अन्तःकरणमय सू
शरीर में एक प्रकार का गुण वा संस्कार पैदा करता है—वही भविष्यत् परिणाम
बीज वा शक्तिविशेष उत्पन्न करता है। वह संस्कार या शक्तिविशेष उसके वर्त
शरीर का परिवर्तक और भावी जीवन का बीज है। वस्तुतः अनुष्ठित और अनु
क्रिया कलाप ही सूक्ष्मत्व को प्राप्त होकर जीव के चित्त में अदृश्य रूप में अ
रह जाता है। उससे अंकुर होता है। वह अंकुर शाखा प्रशाखा में विस्तृत हो
फिर अपने समान कर्मबीज उत्पन्न करता है और कालक्रम से वही बीज अ
आधार (जीव) को भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में डालता है। इसका शास्त्रीय ना
कर्मवासना। कहा गया है—

"वासनावृद्धितः कार्यं, कार्यवृद्धया च वासना"

इस वासनावृद्धि का अन्यतम कारण है चिन्ता और क्रिया। बार-बार चि
के द्वारा वासना का मूल दृढ़ होता है।

चिन्तया जायते दुःखं, नान्यथेहेति निश्चयी।
तथा हीनः सुखी, शान्तः सर्वत्र गलितस्पृहः॥

(अष्टावक्र संहि

आचार्य शंकर ने कहा है—

वासनावृद्धिरेताभ्यां चिन्तया क्रियया बहिः।
आभ्यां प्रवर्तमाना सा सूते संसृतिमात्मनः॥

सकल वासना हेतु, फल, आश्रय और अवलम्बन—इस क्रम से संचित होती है—ऐसा योगशास्त्र कहते हैं। वासना का हेतु वा कारण अथवा जनक—अविद्या आदि पंचविध क्लेश और कर्म। देह प्राप्ति और आयुभोग इसका फल हैं, चित्त इसका आश्रय है, रूप आदि विषय इसका अवलम्बन हैं। इस क्रमानुसार जीव पुनः पुनः वासना जाल सृष्ट करता रहता है और भोग में प्रवृत्त होता है। पूर्व पूर्व भ्रम-वासनारूप अविद्या ही अस्मिता वा अहंभाव अथवा "मैं" भ्रम का कारण, वा आत्माभिमान की उत्पादक है। उस अस्मिता से ही मैं ज्ञानी, मैं मानी, मैं धनी, मेरी स्त्री, मेरा पुत्र, मेरा इष्ट, मेरा अनिष्ट इत्यादि अशेष प्रकार का मिथ्या ज्ञान पैदा होता है। इससे रागद्वेष स्वरूप अभिप्राय उत्पन्न होता है। वह जीव को परानुग्रह और परनिग्रह आदि कामों में प्रवृत्त करता है। इससे फिर भविष्यत् की बीजरूप काम-वासना उत्पन्न होती है और इस तरह यह वासना चक्र आदिकाल से चल रहा है।

यह मलिन वासना अज्ञान का घनीभूत रूप है और वह अहंकार के द्वारा सदा परिशोभित है। काम क्रोध इसके अंग हैं। तमोगुण इसका ईंधन है। चिन्ता और क्रिया इस अग्नि के प्रज्वालक हैं। इसका कोई रूप नहीं है, आकृति नहीं है तथापि इसके प्रभाव से सब प्राणी प्रभावित हैं।

महर्षि के यहाँ तक व्याख्या करने के बाद, एक शिष्य ने उठकर हाथ जोड़कर निवेदन किया, "पिता, आपने अभी कहा कि यह वासनाचक्र आदिकाल से चल रहा है। वासना कैसे अनादि हुई? और अगर यह अनादि है तो क्या इसके हाथ से निस्तार पाने का कोई उपाय नहीं?"

मुनि सुनकर बोले, "वत्स, तुमने अति उत्तम प्रश्न किया है। तुम्हारे प्रश्न से मुझे यत्परोनास्ति सन्तोष प्राप्त हुआ क्योंकि यह प्रश्न इसका प्रमाण है कि तुम लोग मेरा उपदेश मनोयोग से सुन रहे हो। हाँ, योगशास्त्र के मतानुसार वासना अनादि—फिर भी सान्त है। इसके हाथ से निस्तार अवश्य ही पाया जाता है।

प्राचीन काल से आज तक बहुत लोग इसके पाश से निस्तार पाकर मुक्ति का आ
पा चुके हैं।

योगदर्शन के कैवल्यपाद में यह सूत्र है—

"तासामनादित्वमाशिषो नित्यत्वात्"

आशिष अर्थात् प्रार्थना के नित्यताहेतु से वासना का अनादित्व निर्णीत ह
है। और स्पष्ट करके कहता हूँ। सुनो।

योगियों के मत से संसार का आदि नहीं है; संसार की तरह वासना का
आदि नहीं है। संसार अनादि, उसके साथ ही जन्म मरण का प्रवाह भी अनादि
अतः जीव की कर्मवासना भी अनादि है। अंकुर का कारण बीज है और बीज
कारण अंकुर है। ऐसे ही जीव की प्रवृत्ति का कारण संस्कार और स्मृति है,
संस्कार और स्मृति से जीवदेह का आविर्भाव है। इस समय सहज में ही प्रश्न
है कि जीव की प्रथम प्रवृत्ति कब हुई क्योंकि उस समय तो कोई कर्म वा कर्मवास
नहीं थी। इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि आज पर्यन्त कोई यह निर्णय
कर पाया है कि बीज आदिम है कि अंकुर; जीव आदिम कि कर्मवासना आदि
फिर भी जीवत्व के कारण कर्म और कर्म के कारण जीव होता है यह निर्णय हुआ
किन्तु जिसको आदिम जीव कहते हो, वस्तुतः वह आदिम नहीं क्योंकि उसे
मरणत्रास एवं आशीष (मैं जिससे न मरूँ और सुख से रहूँ) इस प्रकार की प्रार्थ
वा आत्माभिनिवेश था और इसके द्वारा ही उसके पूर्वजन्म का अनुमान होता है
अनुसंधान करने से देखोगे कि जीवमात्र ही मरना नहीं चाहता। सद्योजात शिशु
भी मृत्युभय देखा जाता है। मरने में निश्चय ही भयंकर एवं असहनीय दुःख
जिस कारण जीव को मरने से इतना भय होता है। इस भय का मूल कार
मरने के दुःख का संस्कार है। अननुभूत वा अज्ञात पदार्थ की स्मृति न
होती यह स्थिर सिद्धान्त है। अतः मानना पड़ता है कि जीव मरणदुःख से अव
है। अब प्रश्न यह है कि इस मरणदुःख को उसने कब जाना क्योंकि मनुष्य ए
बार से अधिक मरता नहीं। तो वह अवश्य ही पूर्व जन्म में मरा था। अतएव
मानना पड़ेगा कि प्रत्येक जीव का पूर्वजन्म में अनुभूत मरणसंस्कार है और वही

जन्म में उद्बुद्ध होकर भय उत्पन्न करता है। इस प्रकार जीव का अव्यभिचरित मरणत्रास और आत्माभिनिवेश देखकर पूर्व पूर्व जन्मों का अस्तित्व अनुमानसिद्ध होता है। सुतरां जीव का जन्म और मरण प्रवाह के समान अनादि और उन उन जन्मों में संचित कर्मवासना भी प्रवाह के समान अनादि है। मैं आशा करता हूँ कि इसके बाद तुम लोग यदि इस विषय का मनन करोगे तो और अच्छी तरह हृदयंगम करने में समर्थ होगे।

मैं पहले कह चुका हूँ कि शुद्धा वासना पुनर्जन्म का नाश करती है। वास्तव में आत्मा को जानने की जो वासना है वही शुद्धा वासना है। उसके अतिरिक्त सभी मलिना वासना है। अनात्मवासना के जाल में आत्मवासना तिरोहित हो गई है। इस शुद्धा वासना के उदय होने से अहंकार आदि मलिन वासना विलीन हो जाती है। स्त्री पुत्रादि अनात्मवस्तु समूह का संसर्ग त्याग करके सत्संग और आत्मनिष्ठा के द्वारा सद्वासना के घनीभूत होने पर मलिना वासना अवश्य ही नष्ट होगी। अन्त में ईंधन न रहने से अग्नि जैसे स्वयं बुझ जाती है, वैसे ही सद्वासना भी नहीं रहेगी, वह परमपद प्राप्त होगा और अद्वैतस्थिति में आप्तकाम होकर निश्चल निर्वात दीप के समान परमानन्द में अवस्थान करेगा।

कहा गया है—

क्रियानाशे भवेच्चिन्तानाशोऽस्माद् वासनाक्षयः।
वासनाप्रक्षेपो मोक्षः स जीवन्मुक्तिरिष्यते॥

क्रिया के नाश से चिन्तानाश, चिन्ता के नाश से वासना का क्षय और निर्वासना होने से जीवन्मुक्ति प्राप्त होगी। फिर भी वत्सगण, सामान्य मात्र वासना का भी स्पर्श रहने से मनुष्य की आत्मा का मुक्तिलाभ सम्भव नहीं।

एक सत्य घटना बताता हूँ। सुनो तुम जो इस तपोवन के पूर्व भाग में एक घना, और छायादार आम्रकुंज देखते हो, आज से लगभग चालीस वर्ष पूर्व इस कुंज में एक छोटे से कुटीर में महर्षि आप्तकाम तपस्या करते थे। वे सदा जीवन्मुक्त के समान विचरण करते थे। उन्हें किसी प्रकार की वासना वा इच्छा नहीं थी। उनकी

आयु अस्सी वर्ष से ऊपर हो चुकी थी—कई एक अति प्रिय शिष्य सदा उनकी सेवा में नियुक्त रहते थे। इस प्रकार दिन बीतते-बीतते एक समय उनका अन्तिमकाल उपस्थित हुआ। वह यह जान कर शिष्यों से बोले कि उन्हें उस आम्रकुंज की वेदी के ऊपर लिटा दिया जाय। शिष्यों के वैसा कर देने पर महर्षि आप्तकाम बोले, "हे शिष्यगण! तुम लोग एक शंख लाकर मेरे सिरहाने रख दो। मेरी प्राणवायु निकलने पर यदि यह शंख स्वयं बज उठे तो समझना कि मेरी आत्मा मुक्त हो गई। शिष्यों ने वैसा ही किया। शनैः शनैः आप्तकाम की प्राणवायु नश्वर शरीर को त्याग कर निकल गई। सबने आश्चर्यचकित नेत्रों से शंख की ओर देखा किन्तु हाय! शंख-ध्वनि स्वयं नहीं हुई। सभी विस्मित होकर एक दूसरे की ओर देखने लगे और किसी प्रकार न समझ सके कि उस समय गुरुदेव के मन में कौन वासना उपस्थित हो गई जिसके कारण उनकी आत्मा को मुक्ति प्राप्त न हुई। सब विषण्ण वदन बैठ रहे। उस समय दैवयोग से आप्तकाम का शरीर जिस आम के पेड़ के नीचे था, उस पेड़ से एक खूब अच्छी तरह पका हुआ आम भूमि पर गिर कर फट गया और फल के गिरते ही शंख स्वयं सुमधुर ध्वनि से बज उठा। सब आनन्द से महर्षि आप्तकाम की जयध्वनि कर उठे। तब एक शिष्य उस आम को उठाकर लाने गया और जाकर उसने देखा कि एक छोटा सा कीड़ा उस फल के अन्दर मरा पड़ा है।

वत्सगण! महर्षि को अन्तिम समय में उस सुमिष्ट, सुपक्व आम को देखकर उसे चखने की क्षणिक वासना उत्पन्न हुई थी। क्योंकि उनकी और कोई भी वासना नहीं थी। उन्होंने तत्क्षण कीड़े का शरीर धारण करके आम में प्रवेश किया और उस वासना के पूर्ण होने पर उनकी आत्मा ने मुक्तिलाभ किया इसलिए अब अवश्य ही समझ सके होगे कि वासना की गति कितनी सूक्ष्म है और कैसे वह मनुष्य के बन्धन का कारण होती है।

तो वत्सगण! तुम लोग मेधावी एवं सच्चरित्र और अध्यवसायपरायण छात्र हो। तुम्हारी उम्र कम है। इसी समय से यदि तुम सावधान एवं अति तत्पर होकर इस सर्वनाशकारिणी अशेष प्रकार के बन्धन एवं दुःखों की सृष्टि करने वाली, महा भयंकर रूपिणी वासना के पाश से निष्कृति पाने के लिए सचेष्ट होओ तो निश्चय

ही सफलता प्राप्त करोगे और अन्त में मुक्ति के अपार आनन्द में सदा निमग्न रह सकोगे।

आज यहीं सभा की समाप्ति करो। रात हो गई है। कल फिर किन उपायों से कर्म और वासना के पाश से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है—इस विषय की विस्तृत आलोचना करने की चेष्टा की जायगी।

इसके वाद सब लोग मुनि महातपा को प्रणाम करके उनके श्रीमुख से निःसृत अमृतमय, उपदेशरस से परिपूर्ण होकर अपने अपने स्थान को लौट गए।

राग-द्वेष नष्ट कर देना चाहिये, इसी में वासना का मरण है।

हम अपने भी घर में मेहमान की तरह रहें। इस तरह रहने से वासना क्षीण होगी।

वासना को मारने के लिए भगवान् का अधिष्ठान ही एक उपाय है, नाम से वासना का क्षय हो जाता है।

राग + द्वेष = वासना।

जब तक वासना है तब तक कर्म उत्पन्न होते रहेंगे। कर्म नष्ट करना है तो वासना को मारना होगा और वह भगवान् के नाम से मरती है।

—श्री ब्रह्मचैतन्य

['ज्ञानगंगा' से साभार]

अष्टांग योग

डॉ० श्री शान्तिप्रसाद आत्रेय एम० ए०, पी०-एच० डी०

योग का अन्तिम लक्ष्य पुरुष को स्वरूपावस्थिति प्रदान करना है। स्वरूपावस्थिति प्राप्त करने के लिये चित्त की समस्त वृत्तियों का पूर्ण रूप से निरोध होना चाहिये। योग में चित्त की समस्त वृत्तियों के निरोध के लिये एक मार्ग बताया गया है जो कि अष्टांग योग के नाम से पुकारा जाता है। स्वरूप-स्थिति के प्राप्त करने का यह विशिष्ट साधन है। इस साधन के आठ अंगों का वर्णन पातंजल योग दर्शन में किया गया है। योग के ये आठ अंग निम्नलिखित हैं :—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि।

पा० यो० सू० २।२९

१—यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह)
२—नियम (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान)
३—आसन (सुख पूर्वक अधिक काल तक एक स्थिति में बैठने का अभ्यास)
४—प्राणायाम (प्राणों पर नियन्त्रण करना)
५—प्रत्याहार (विषयों से इन्द्रियों को हटाना)
६—धारणा (चित्त को बाह्य या आभ्यन्तर, स्थूल वा सूक्ष्म विषयों में बाँधना)
७—ध्यान (विषय में वृत्ति का एक समान स्थिर रहना)
८—समाधि (ध्यान की पराकाष्ठा)

इन आठ अंगों में से पहले पाँच (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार) तो योग के बहिरंग साधन हैं तथा अन्तिम तीन (धारणा, ध्यान, समाधि) अन्तरंग साधन हैं। जिस विषय में समाधि लगानी होती है धारणा, ध्यान, समाधि तीनों का केवल उस विषय से ही सीधा सम्बन्ध होता है इसी कारण इन्हें अन्तरंग साधन कहा गया है। इन अन्तिम तीनों साधनों को मिलाकर संयम कहते हैं। किन्तु

असम्प्रज्ञात समाधि के तो ये तीनों भी बहिरंग साधन ही हैं। केवल पर वैराग्य को ही असम्प्रज्ञात समाधि का अंतरंग साधन कहा जा सकता है। अष्टांग योग में समाधि का तात्पर्य सम्प्रज्ञात समाधि से है। अतः अष्टांग योग की सीमा विवेक ख्याति है। धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा तनु हुये सब क्लेशों (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश) को विवेक ख्याति दग्ध बीज कर देती है जिससे क्लेश पुनः उत्पन्न नहीं होते।

यम नियम का महत्त्व केवल साधक के लिये ही नहीं है वरन् सबके लिये है। यम नियम के पालन के बिना समाज के कार्य सुचारु रूप से नहीं चल सकते। सुन्दर सामाजिक व्यवस्था के लिये इनका पालन अनिवार्य है। आज समाज में विकृति आने के प्रमुख कारणों में से यम नियम का पालन न होना भी एक है। हमारे मत से तो अगर हर व्यक्ति यम नियमों का पालन करने लगे तो समाज स्वयं ही आदर्श बन जायेगा, अशान्ति तथा अव्यवस्था रहेगी ही नहीं। अतः सब मनुष्यों का परम कर्तव्य यम नियम का श्रद्धापूर्वक पालन करना है। यम का पालन तो हर जाति, देश, काल, अवस्था, आश्रम तथा मत के मनुष्यों के लिये, अगर वे समाज में रहना चाहते हैं तो, अनिवार्य है। इसके पालन के बिना व्यवस्था नहीं आ सकती। योग मार्ग पर चलने का अधिकारी तो कोई बिना यम नियम के पालन के हो ही नहीं सकता। योग के आठों अंगों में सर्व प्रथम यम का विवेचन करना चाहिये क्योंकि इसके बिना नियमों का पालन भी ठीक ठीक नहीं हो सकता। यम पाँच हैं :—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ पा० यो० सू० २।३० ॥

१—अहिंसा (मनसा वाचा कर्मणा किसी प्रकार से भी किसी प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट न देना)
२—सत्य (मन में समझे गये के अनुसार ही दूसरों से कथन करना)
३—अस्तेय (मन से भी किसी के धन आदि को ग्रहण करने की इच्छा न करना)
४—ब्रह्मचर्य (सब इन्द्रियों के निरोध के द्वारा उपस्थेन्द्रिय पर संयम करना)
५—अपरिग्रह (आवश्यकता से अधिक वस्तुओं, धन आदि का संग्रह न करना)

अहिंसा—यह सर्वप्रथम यम है। किसी भी तरह से, कभी भी, किसी भी

प्राणी के प्रति, चित्त में द्रोह न करना, अहिंसा है। किसी भी प्रकार की हिंस
करना अहिंसा है। हिंसा शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक भेद से तीन प्र
की होती है। किसी प्राणी को शारीरिक कष्ट प्रदान करना शारीरिक हिंसा हो
है तथा मानसिक कष्ट देना मानसिक हिंसा होती है। अन्तःकरण को मलिन क
आध्यात्मिक हिंसा होती है। हिंसा करनेवाले के चित्त में हिंसात्मक क्लिष्ट वृ
के हिंसात्मक क्लिष्ट संस्कार पड़ जाते हैं जिनसे उसका चित्त मलिन हो जाता
अतः आध्यात्मिक हिंसा ही प्रमुख हिंसा होती है। इन तीनों प्रकार की हिंसा
को न करना अहिंसा है। हिंसा करने वाले के प्रति भी बदला लेने की भावना
रखनी चाहिये क्योंकि वह अपने चित्त को हिंसा के संस्कारों से मलिन करके अप
हिंसा स्वयं कर रहा है। हिंसा करने वाला तथा जिस पर हिंसा की जाती है दो
ही हिंसा के शिकार होने से दया के पात्र हैं। अतः साधक योगी को दोनों
कल्याणार्थ ही विचार तथा कार्य करने चाहिये। इस प्रकार से अपने तथा अ
किसी भी प्राणी को मानसिक वा शारीरिक कष्ट मन, शरीर अथवा वचन से
पहुँचाना ही अहिंसा है। यही नहीं किसी अन्य के द्वारा भी नहीं पहुँचवा
चाहिये। कष्ट पहुँचाने की सलाह देना भी हिंसा के अन्तर्गत आ जाता
दूषित मनोवृत्ति हो जाना भी हिंसा है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी ल
अपना वा किसी प्राणी के कष्ट का कारण बनना हिंसा करना होता है। अतः अ
या किसी भी प्राणी के कष्ट का प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष कारण नहीं बनना चाहि
विशुद्ध शिक्षा, सुधार तथा प्रायश्चित्त के लिये दी गई ताड़ना तथा दण्ड, रोगियों
रोग मुक्त करने के लिये किये गये आपरेशन हिंसा नहीं है। किन्तु ये ही दू
मनोवृत्ति से किये जाने पर निश्चित रूप से हिंसा के अन्तर्गत आ जाते हैं। हिं
का यदि किसी प्रकार भी सुधार न हो सके तो उसे मार देना हिंसा नहीं है। कि
यह कार्य दूषित मनोवृत्ति से नहीं होना चाहिये। बदला लेने की भावना से कि
जाने पर यही कर्म हिंसा हो जायेगा। अत्याचारी को समाप्त करना भी कर्
है। अगर कोई व्यक्ति अत्याचार, अनाचार, हिंसा, अपमान आदि सहता है,
वह कायर है। मनु स्मृति में भी कहा गया है कि—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ (मनु० ८।३५०) ॥

गुरु, बालक, वृद्ध वा विद्वान् ब्राह्मण भी अगर आततायी (आग लगाने वाला, विष देने वाला, शस्त्र उठाने वाला, धन, वित्त, स्त्री को चुराने वाला) के रूप में सामने आता है तो उसको बिना सोचे विचारे तुरन्त मार डालना चाहिये।

आततायी को मारने में हिंसा नहीं है बल्कि उसे न मारना हिंसा को बढ़ाना है। अहिंसा व्रत का पालन करना बलवान्, वीर तथा चरित्रवान् पुरुषों का काम है; निर्बल, चरित्रहीन तथा कायरों का नहीं। कायर तथा निर्बल तो हिंसा को प्रोत्साहन देते हैं। अहिंसा का विचार अति सूक्ष्म है। इसको समझना सर्वसाधारण के लिये बहुत कठिन हो जाता है। अतः उन्हें तो नीचे दिये सूत्र के अनुसार चलना ही पर्याप्त है—"जैसा व्यवहार आप दूसरों से चाहते हैं वैसा व्यवहार दूसरों के साथ करो, तथा जिस व्यवहार को दूसरों से नहीं चाहते हो उसे आप भी दूसरों के साथ न करो" जिस व्यक्ति के मन में प्राणिमात्र के हित का भाव सदा रहेगा उससे तो हिंसा हो ही नहीं सकती। विश्व के सब राष्ट्रों का कर्त्तव्य है कि वे अपने अपने राष्ट्र के व्यक्तियों को अहिंसा की ठीक शिक्षा बचपन से ही प्रदान करें। इसी में मानव का हित है। साधक योगी जब अहिंसा व्रत को दृढ़ कर लेता है तब उसके पास पहुँचकर हिंसक प्राणियों की भी हिंसक वृत्ति समाप्त हो जाती है। वे भी वैर भाव त्याग देते हैं। अगर इस व्रत का पालन सब राष्ट्र करने लगेंगे तो कितना सुन्दर होगा। सब तरफ शान्ति की स्थापना स्वतः हो जायेगी।

सत्य :—मन, वचन अथवा कर्म से वस्तु के यथार्थ रूप की अभिव्यक्ति ही सत्य है। प्रत्यक्ष, अनुमान वा शब्द प्रमाण द्वारा प्राप्त वस्तु के यथार्थ रूप को मन में धारण करना, वाणी से कथन, तथा उसी के अनुरूप व्यवहार सत्य कहलाता है। स्वयं को ज्ञान जिस रूप से हुआ है ठीक उस ज्ञान को उसी रूप में दूसरों को कराने के लिये कही गई वाणी तथा कर्म सत्य है। दूसरे व्यक्तियों को अपने मन के विचार के अनुकूल कहे गये वचन सत्य हैं। मन वचन की एकरूपता को ही सत्य कहते हैं। दूसरे को धोखा देने वाले, भ्रान्ति में डालने वाले, तथा बोध कराने में असमर्थ

वचन सत्य नहीं कहे जा सकते। दूसरों के भीतर अपने अन्तःकरण तथा इन्द्रि से उत्पन्न ज्ञान से भिन्न ज्ञान उत्पन्न करने के लिये कहे गये वचन सत्य नहीं उदाहरण रूप से द्रोणाचार्य के अश्वत्थामा की मृत्यु के विषय में पूछने पर युधि के द्वारा उत्तर में कहे गये वचन "अश्वत्थामा हतः" असत्य थे, क्योंकि युधिष्ठि अश्वत्थामा नामक हाथी की मृत्यु देखी थी किन्तु उनके कथन से द्रोणाचार्य अपने पुत्र की मृत्यु का बोध हुआ था। अतः धोखा देनेवाली वाणी सत्य नहीं हो दूसरे को भ्रम में डालने वाली वाणी भी सत्य नहीं होती है। जिस वाणी के द्वा सुननेवाले को दो वा अधिक अर्थ का बोध हो अर्थात् जिसके द्वारा सुननेवाला यथ अर्थ का ज्ञान निश्चित रूपसे प्राप्त न करके भ्रान्त ही रहे वह वाणी सत्य नहीं क जा सकती।

उपर्युक्त रूप से वचन सत्य होते हुये भी अगर उन वचनों से किसी के चि को दुःख होता है तो उनका प्रयोग करना उचित नहीं है। जिन वचनों से किसी प्राणी का अपकार नहीं होता है किन्तु सब तरह से सब प्राणियों का हित ही होता उन्हीं का प्रयोग करना उचित है। अहितकारी वचन सत्य प्रतीत होते हुये भी पा जनक हैं। प्राणियों का नाश करने, पीड़ा पहुँचाने वा हानि पहुँचाने वाली वा कभी किसी काल में भी उचित नहीं। अतः भली प्रकार परीक्षा करके सब प्राणि के हितार्थ सत्य वाणी बोले। मनु स्मृति में भी इसी प्रकार कहा है—

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥ मनु० ४।१३८॥

"सत्य बोले, प्रिय बोले, अप्रिय सत्य न बोले तथा प्रिय असत्य न बोले सनातन धर्म है"।

(मनु० ४।१३

सत्य अहिंसा का आधार है। कुछ लोगों का कहना है कि सत्य कटु होता तथा ऐसे व्यक्ति दूसरों को कष्ट प्रदान करने वाली वाणी बोलने को ही सत्य बोल समझते हैं। किन्तु जिस वाणी में दूसरों को कष्ट पहुँचाने की भावना हो वह वा उचित नहीं। चिढ़ाने की भावना से अन्धे को अन्धा कहना, लँगड़े को लँगड़ा कह आदि कभी भी उचित नहीं हो सकते। "अन्धे के अन्धे ही हैं" द्रोपदी के

कहने से महाभारत जैसा युद्ध हुआ था। हिंसात्मक प्रवृत्ति को समाप्त करना ही उचित है। किसी का चित्त दुखाना ठीक नहीं। सबसे बड़ा सत्य निरपराधी प्राणियों की हिंसा को रोकना है। सत्य कर्त्तव्य है। अहिंसा भी कर्त्तव्य है। अहिंसा तीनों काल (भूत, भविष्य तथा वर्तमान) में कर्त्तव्य है। अहिंसा के लिये उचित रूप से जो भी कुछ कहा वा किया जावे वह सब ठीक है। परिस्थिति विशेष में जो कुछ कहना वा करना चाहिये वह कहना वा करना उस व्यक्ति का कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य को भी सत्य कहते हैं। जिन वचनों से पारस्परिक द्वेष बढ़ता है, दूसरों को दुःख होता है तथा दूसरों को धोखा होता है उनको नहीं बोलना चाहिये। चुगली करना वा अनावश्यक बोलना भी सत्य के विरुद्ध होता है। हर स्थिति में यह ध्यान रखना अति आवश्यक हो जाता है कि सत्य कभी भी सर्वहित विरोधी न हो।

महाभारतकार का मत यह है :—

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं मतं मम ॥ महा० शा० ३२९।१३;२८७।१९ ॥

"सत्य भाषण उत्तम है, हित कारक वचन बोलना सत्य से भी उत्तम है, क्योंकि हमारे मत में जिससे सब प्राणियों का अत्यन्त हित होता है वही सत्य है।"

(महा० शा० ३२९।१३, २८७।१९)

सत्य के अच्छी प्रकार से पालन करने वाले की वाणी में बल आ जाता है और उसके वचन कभी असत्य नहीं होते। उसके शाप तथा आशीर्वाद दोनों ही फलते हैं; किन्तु अहिंसात्मक प्रवृत्ति होने के कारण वह प्रायः शाप नहीं देता है।

अस्तेय :—अस्तेय शब्द का अर्थ है चोरी न करना। यह सत्य का ही रूपान्तर है। जब किसी व्यक्ति की किसी वस्तु को कोई चुराता है तो वह व्यक्ति दूसरे की वस्तु को अपनी बनाता है। यह असत्य है। अतः स्तेय असत्य है। स्तेय हिंसा है। क्योंकि जब किसी व्यक्ति को उसकी वस्तु से वंचित किया जाता है तो उसे कष्ट होता है। इस प्रकार से अहिंसा का ठीक-ठीक पालन ही अस्तेय का पालन है। आधार अहिंसा ही है। स्तेय वा चोरी किसी के धन, वस्तु, वा अधिकार आदि को

बिना बताये धोखे से वा अन्याय पूर्वक हरण करने को कहते हैं। इस प्रकार से न करना ही अस्तेय है।

मनुष्य मात्र के कुछ अधिकार होते हैं उनसे उन्हें वंचित करने वाले चोर हैं। बलवान् जाति वा वर्ग का निर्बल जाति वा वर्ग को उसके अधिकारों से वंचित करना चोरी है। उच्च जाति वा वर्ग जब निम्न जाति वा वर्ग को सामाजिक तथा धार्मिक अधिकारों से वंचित करता है तो वह चोर है। अधिकार छीनने से भी प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से सबको ही कष्ट होता है। कष्ट देना हिंसा है। अतः इस रूप से स्तेय हिंसा है। जो धनी व्यक्ति अपने धन के घमंड में इतना नीच हो जाता है कि वह गरीब व्यक्तियों के अधिकारों का भी हरण कर उन्हें उनसे वंचित कर देता है, तो वह व्यक्ति निश्चित रूप से चोर है। मानव शरीर का परम लक्ष्य है आत्मोपलब्धि, जो भी उसके इस आत्मोन्नति के अधिकारों को छीनता है वह सचमुच चोर है क्योंकि इस अधिकार को छीनने से बड़ा पाप कोई नहीं हो सकता है। धर्म के ठेकेदार बनने वालों को कोई अधिकार नहीं है कि वे दूसरों को धर्म से वंचित रखें। अगर वे ऐसा करते हैं तो उनसे बड़ा चोर कोई नहीं है। सरकार का कार्य है कि वह गरीबों के अधिकार की रक्षा करे किन्तु अगर वह स्वयं उन्हें उनके इन अधिकारों से वंचित करती है तो वह सरकार स्वयं चोर है। राजा का धर्म ही प्रजा के सब तरह के अधिकारों की रक्षा करना है। सरकार इसलिए ही होती है। अन्यथा उसकी आवश्यकता ही क्या है ? इसके विपरीत आचरण करनेवाली सरकार महाचोर है। चोरी का दूसरा रूप घूसखोरी है। जब सब जुल्मों से रिश्वत माफी दिलवा देती है तो भला बदमाशी, जुल्म, चोरी तथा डकैती आदि कैसे बन्द हो सकती है ? रिश्वत का तात्पर्य होता है दूसरे के द्रव्य को छीनना। रिश्वत एक तरफ तो दूसरों को चोरी करने के लिये प्रोत्साहित करती है दूसरी तरफ दूसरों को उनके द्रव्य से वंचित करती है। एक व्यक्ति १ लाख रुपये का गबन करके अगर १००० रु० की रिश्वत देने से बच जाता है तो रिश्वत लेने वाले ने गबन करनेवाले से कई गुना अधिक पाप किया। वह घूसखोर ही चोरी करवाता है। अतः वह महा पापी है।

यदि निश्चित या उचित मुनाफा न लेकर कोई दूकानदार वा सौदागर अधिक

मुनाफा लेता है वा गलत तोलता है तो वह चोर है। ठीक चीज की जगह अगर उसमें मिलावट करके कोई दूकानदार उसे बेचता है तो भी वह चोर है क्योंकि असली वस्तु के स्थान पर नकली वस्तु बेचकर वह दूसरों को धोखा देता है। इसी तरह से जो मिल मालिक तथा जमींदार मजदूरों से कमवा कर केवल रुपया लगाने के कारण उचित भाग से अधिक लेते हैं तथा मजदूरों को उनके परिश्रम के अनुरूप नहीं देते हैं तो वे निश्चित रूप से चोर हैं। रुपया उधार देकर दूसरे का घर-द्वार, जमीन आदि नीलाम करनेवाला भी एक प्रकार से चोर ही है। सत्य तो यह है कि जो भी अपने कर्त्तव्य का पालन ठीक-ठीक नहीं करता वही चोर है, चाहे वह वैद्य, डाक्टर, वकील, अध्यापक वा प्रशासक, कोई भी क्यों न हो? इन सबके मूल में है लोभ तथा राग। इन दो शत्रुओं के कारण मनुष्य अनुचित आचरण करता है। अतः हर एक मनुष्य को लोभ तथा राग-रहित होने का अभ्यास करना चाहिये। योगी को लोभ तथा राग होना ही चोरी है क्योंकि इन्हीं के कारण दूसरे की वस्तु को मनुष्य अन्यायपूर्वक प्राप्त करना चाहता है। अतः राग तथा लोभ को त्यागना अस्तेय है। केवल व्यवहार से चोरी (स्तेय) न करना अस्तेय नहीं है बल्कि अस्तेय का ठीक-ठीक पालन तो तभी होता है जब मन में दूसरों को उनके धन, द्रव्य, अधिकार आदि से वञ्चित करने की इच्छा भी न पैदा हो। ऐसी भावना पैदा होना भी स्तेय है। अतः मन तथा कर्म दोनों से अस्तेय का पालन करना चाहिये। विश्वके सब राष्ट्रों को इसका पालन करना चाहिये। विश्व शान्ति व व्यवस्था के लिये हर राष्ट्र का कर्तव्य हो जाता है कि इसे बच्चों की शिक्षा का प्रधान अंग बना दे। अगर सब राष्ट्र अपने इस कर्तव्य का ठीक-ठीक पालन करेंगे तो उन्हें किसी भी आन्दोलन का सामना नहीं करना पड़ेगा। अस्तेय के दृढ़ होने पर समस्त रत्नों की प्राप्ति होने लगती है। उसे किसी प्रकार की कमी नहीं रहती।

(क्रमशः)

॥ ॐ माँ ॥

मातृ-सत्संग

स्वामी भागवतानन्द गिरि

(२)

ता० ४-१२-१९४७

प्र०—हम लोगों की सब प्रवृत्तियाँ पहले से क्या नियत रहती हैं ?

माँ—नियंत्रित जगत में सब कुछ नियंत्रित है। जैसा-जैसा संयोग होता है वैसा-वैसा बनता है। प्राकृत जगत में क्रम, क्रिया सब कुछ हो रहा है। एक दृष्टि से कहना पड़ेगा कि सब कुछ ठीक है। जो मूल में है वह स्थूल में है।

प्र०—आध्यात्मिक विकास भी क्या नियंत्रित है ?

माँ—परमार्थ विकास भी नियंत्रित है। ज्योतिष विद्या में यह सब कुछ दिखाया है। यदि जन्म का समय ठीक-ठीक रखा हो तो, ज्योतिष विद्या के द्वारा भविष्य का पता लग सकता है। किसी-किसी ने यह देखा है कि—प्रत्यक्ष में भी यह बात ठीक है। कोई योगी अपनी योग दृष्टि से कहे कि, "ऐसा होगा" तो यह दूसरी बात है। एक मनुष्य रास्ते में जा रहा है और accident हो गया। आगे से नियंत्रित था तब तो हो गया। यहाँ तक तो ज्योतिष विद्या जाती है। इससे आगे ऐसा भी तो हो सकता है कि गुरु शक्ति से नियंत्रित सब कुछ बदल सकता है। ऐसा भी एक स्थान है कि जहाँ नियंत्रित, अनियंत्रित का कोई सवाल ही नहीं है। ऐसी भी कोई जगह है जहाँ नियंत्रित का सवाल है—वहाँ ग्रह शान्ति इत्यादि करवाते हैं। ग्रह शान्ति के द्वारा नियंत्रित भी बदला जा सकता है और दैव शक्ति से रक्षा हो सकती है। जो ज्ञानाग्नि से जलाया जा सकता है वही ज्ञानाग्नि प्रकाश बन जाता है। वहाँ सब कुछ संभव है। वहाँ असंभव संभव बन जाता है। भगवान तो स्वयं प्रकाश है। सदा सर्वदा है।

प्र०—मन की चंचलता कैसे दूर होती है ?

माँ—चंचलता बढ़ाने से चंचलता दूर होती है। दुनिया की चंचलता द्विधा भाव में परिणत हो गई है। जब तक दुनिया के पदार्थों में अपना मन रखोगे तब तक दुनिया की वासनाओं से पेट नहीं भरेगा। मनको जब असली भोजन मिलेगा तब शान्ति मिलेगी। भगवत् प्राप्ति रूप परम धन की जब प्राप्ति होगी तब ही पूर्ण शान्ति मिलेगी। बस एक मात्र भगवान् ही सर्वत्र हैं। वही है! वही है!! वही है!!! मनुष्य का एकमात्र कर्तव्य है इस मन को शुद्ध भोजन देना। मन को गंदे में मत रखो। गंदे में मन तड़पता है। जहाँ राम वहाँ आराम, जहाँ नहीं राम वहाँ बे-आराम अर्थात् व्याराम।

प्र०—सब अच्छे बुरे काम के लिये भोगना पड़ता है क्या? कर्म की शुरूआत कैसे हुई?

माँ—(हँस के) शुरूआत कहाँ से हुई! भगवान तो अनादि अनन्त हैं।

प्र०—कर्म की उत्पत्ति कैसे हुई?

माँ—जगत प्रभु का ही है। भगवान ने इच्छा कल्पना मात्र से सृष्टि की है। भगवान खुद ही अपने साथ खेल रहा है। वही खुद अपने को खोता है और फिर अपने को ही ढूँढ़ता है। सृष्टि का आदि और अंत है ही नहीं! कब शुरू हुआ—ऐसी बात नहीं है। यह सब तो भगवान की ही लीला है। भगवान हमारे सामने अनजान रूप में प्रकट हुआ है। आपको बिना खोए रहा नहीं जाता है। अपने को खोना और फिर अपने को पाना। पाने से आनन्द मिलता है। खोने से दुःख मिलता है। जैसे छोटा बच्चा जब युवक बनता है तब वह छोटा बच्चा युवक में अदृश्य हो जाता है। वैसे परिवर्तन होना ही मृत्यु है। अनंत जन्म! अनंत मृत्यु! कितनी बार कपड़े बदलें! आत्मा में कुछ परिवर्तन नहीं होता है। आत्मा तो निरुपाधिक है। कौन मरता है? कौन रोता है!

प्र०—बुद्धि का प्रेरक कौन है?

माँ—भगवान ही चलाता है—वही कर्ता है। फिर कहती हूँ कि वह कर्ता नहीं है सिर्फ साक्षी मात्र है। जगत में भगवान ही लीला करता है। भगवान यंत्री है हम लोग यंत्र हैं। भगवान जैसा चलावे वैसा चलना है।

प्र०—बुरे कामों में भगवान हमारे मन को क्या प्रेरित करता है ?

माँ--जैसा वृक्ष लगाओगे वैसा फल मिलेगा। शुद्ध कर्म करो तो शुद्ध मिलेगा। बुरा कर्म करो तो खराब फल मिलेगा। दुनिया में पैसा, मकान इत से आसक्ति रखने से स्वभाव में अभाव होगा। 'स्वभाव' का कर्म करने से 'स्व' में अपने को स्थित करता है। पीछे अभाव का कर्म अच्छा नहीं लगता है। तुम आत्मा को पहिचानने का प्रयत्न कर रहे हो वो तो स्वभाव को 'स्व'भाव की गति प्राप्त करने की इच्छा कर रहे हो। लेकिन तुम तो अभाव का मोह रख के, स्व को प्राप्त करने की चेष्टा कर रहे हो! कैसा सुन्दर है! तुम चाह रहे हो ज्ञान लेकिन ला रहे हो अज्ञान शक्ति। लाना चाहिए अखण्ड ज्ञान, तुम ला रहे हो ज्ञान। तुम्हारे हृदय में भी वही भगवान है। 'अभाव' के रास्ते में दुःख है 'स्वभाव' के रास्ते में सुख है--भगवत् प्राप्ति है। सब शक्ति तो भगवान में है। तु भगवान ही विचार शक्ति, क्रिया शक्ति दे रहा है। जैसे तुम खाते हो, पीते हो प्रयत्न से वैसे ही भगवान को पाने के लिये प्रयत्न करो। जो भगवान की तरफ नहीं रहा है वह मृत्यु का रास्ता है। भगवान को पाने का रास्ता तो अमृतमय है। शरीर कह रहा है कि यदि भगवान में मन लग जाय तो तुम्हारी सब शक्ति भग प्राप्ति रूप कर्तव्य में लगा दो। परममाता, परमपिता, परम बन्धु—उनके जाने का प्रयत्न करना चाहिये। अपना घर कहाँ? भगवान के यहाँ अपना स घर है। अपना कौन है? सिर्फ भगवान ही अपना है। तुम भगवान को किसी से चाहो--प्रभु रूप में, दास रूप में या आत्मा के रूप में। भगवान को प्राप्त करने सब कुछ ठीक हो जावेगा। शरीर तो भोग शरीर है। अभाव के भोग को भोग पड़ता है। परम भोग है भगवान् प्राप्ति। जिसने भगवान का त्याग किया है वह (हँसते-हँसते कटाक्ष में) परम त्यागी है। परमपद को त्यागने वाला परम त्यागी अभाव की गति से अभाव ही रहेगा। परम वस्तु को प्राण्त करने का प्रयत्न करो परम भोग मिलेगा। परम भोग में अमृत है। अभाव के भोग में मृत्यु है। जब बच्चे थे तब तुम खेलते थे, कूदते थे अब वह बाल्यपन मर गया! ऐसा मृत्यु हर हो रहा है।

प्र०—भगवान सब कुछ कर रहा है तब वो सद्‌बुद्धि क्यों नहीं देता ?

माँ—जगत चक्र है न ! भगवान की लीला में भिन्न-भिन्न रूप होता है। उनकी लीला में अन्धकार, प्रकाश, तरह-तरह का रास्ता है। वहाँ अनन्तगति, अनन्त प्रकाश, अनन्त स्थिति में सब कुछ समाप्त हो जाता है। भगवत् प्राप्ति रूप कर्म ही एक मात्र शुभकर्म है। इस शुभकर्म को तुम करो तो भगवान जरूर मिलेगा। भगवत् प्राप्ति क्यों नहीं हो रही है ?—यह प्रश्न अपने आपको पूछो। अपने मन में ऐसा भाव रखो कि जो कुछ हो रहा है वह भगवान की इच्छा से ही हो रहा है। मैं अब से सुकर्म करूँगा ऐसा निश्चय करो। एक बात है। तत्त्व दृष्टि से अच्छा या खराब कुछ नहीं है। जब तक तुम्हारी देहात्म बुद्धि है तब तक तुम को बुरे कर्म नहीं करने चाहिए। भगवान कभी खराब कर्म नहीं कराता है। यह तो सिर्फ दृष्टि भ्रम है। खराब भाव का परिणाम दुःख मिलता है। दृष्टि साफ रखना चाहिए। यह सब कुछ भगवान का ही खेल है ऐसा यदि तुम समझ लो तो खराब कुछ है ही नहीं।

प्र०—अपनी दृष्टि का परिवर्त्तन कैसे करना चाहिए।

माँ—कैसे परिवर्तन करना चाहिए ? भगवत् चिन्तन से।

पंडितजी—अभाव और स्वभाव—इसका वर्णन 'ईशावास्योपनिषद' में आता है—"विद्यां च अविद्यां च !"

माँ—पिताजी, तुमने जो कहा है कि उपनिषद में है वह तो तुमसे सुना। इस शरीर को तो इसका कोई पता है ही नहीं।

पंडितजी—माँ ! मैं तो सिर्फ पढ़ा हूँ। तोते की तरह पढ़ जाता हूँ। तत्त्व का मुझको कोई पता ही नहीं है।

माँ—असमान स्थान पर खड़ा रहने से समान स्थान का पता कैसे लगेगा ?

प्र०—समान स्थान प्राप्त करने के लिए क्या कपड़ा बदलना चाहिए ?

माँ—कपड़ा बदलना नहीं सिर्फ चश्मा बदलना है अर्थात् दृष्टि का परिवर्तन करना है।

प्र०—कोई दुष्ट दुष्ट आचरण करता है तो दुष्टाचरण को हटाने के लिए

अनशन करने की यदि भगवान किसी को प्रेरणा दें तो भगवान दुष्ट को सुधार लिए सीधी प्रेरणा क्यों नहीं देता है ? बीच में 'ऐजन्सी' की क्या जरूरत है ?

माँ—पिताजी ! यदि ऐसी प्रेरणा मिले तो फिर पूछना क्या ? कोई बी आदमी अपनी परिचर्या के लिए नर्स, डाक्टर रखता है। नर्स, डाक्टर मरीज अच्छा करने का प्रयत्न कर रहा है। तुम जैसे कह रहे हो वैसी प्रेरणा यदि मिले फिर नर्स डाक्टर की क्या आवश्यकता है ? भगवान खुद बीमारी अच्छा करेगा। लिये कहा जाता है कि भगवान की लीलायें अनन्त हैं।

प्र०—दुष्ट भी तो कह सकता है कि भगवान ने ही मुझको दुष्ट काम क की प्रेरणा दिया है।

माँ—दुष्ट ऐसा कह नहीं सकता है। बीमारी क्यों आती है ? बीमारी आराम नहीं होता है। जहाँ राम है वहाँ आराम है और जहाँ राम नहीं है व व्याराम है। राम कहाँ नहीं है ? उनका खेल अनंत है। "सु" और "कु"—दुष्ट अ साधु—सब में भगवान ही खेल रहा है। खराब दृष्टि ही खराब है। दृष्टि को सुधारो अरे ! दुष्ट भी उनका ही रूप है। जहाँ शुभ दृष्टि है वहाँ कुछ खराब है ही नहीं सब रूपों में भगवत् भाव से देखो। जहाँ द्विधा भाव है, खराब दृष्टि है उस हटाओ। कु दृष्टि से दुःख होता है।

प्र०—हमारी दृष्टि यदि किसी का खून करना चाहती है इससे दृष्टि खरा बनती है ? इसमें हम क्या करें ?

माँ—तुम कह रहे हो कि खराब देखना ही खराब है। तुम तो खून देखते हो ? यह देखने की जो दृष्टि है वह खराब दृष्टि है—वहाँ भगवत् दृष्टि नहीं है। ज भगवत् दृष्टि है वहाँ खराब का नाम निशान नहीं है। हम बुरा को देख रहे हैं क्यों हमारी दृष्टि खराब है। एक-एक बात के लिये अनंत उपाय रहते हैं। जैसी जिस दृष्टि। जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि। शुभ दृष्टिवाला शुभ कर्म करता है। अशुभ दृष्टिवा अशुभ काम करता है। मान लो कि कोई महात्मा समाधि में मस्त है। अशु दृष्टिवाला कहेगा—अरे ! यह समाधि नहीं है यह तो सो रहा है। लेकिन जो शु

दृष्टिवाला है वह समझ लेता है कि यह समाधि है। कुदृष्टि ही पाप है। अपनी दृष्टि का परिवर्तन करना चाहिए।

प्र०—इस शरीर में यदि किसी को स्त्री की या पुरुष की वासना रह जावे तो क्या उसे प्रेतयोनि में जन्म लेना पड़ता है।

माँ—वासना पूर्ण करने के लिए जन्म लेना पड़ता है। शास्त्र में क्या लिखा है तुम जानो। प्रेतलोकों के जैसे कर्म करोगे तो प्रेतलोक में जाना पड़ेगा। जैसी वासना वैसा जन्म होगा।

प्र०—सुना है कि यदि किसी को धन की वासना रह जाय तो सर्पयोनि मिलती है? सर्प शरीर से धन की वासना कैसे पूर्ण होगी?

माँ—पूर्व पूर्व जन्मों की वासनाओं के कारण मनुष्य शरीर मिलता है। इस मनुष्य शरीर में ही भगवत् प्राप्ति करने की शक्ति है। जैसा कर्म करोगे वैसा जन्म मिलेगा। सर्पयोनि में जाने लायक कर्म करने से सर्पशरीर मिलता है। भगवान के राज्य में पूर्ण न्याय पूर्वक सब कर्मों का विचार होकर जन्म मिलता है। मृत्यु के समय में जैसी भावना होगी वैसा शरीर मिलेगा कर्म संस्कार से भी जन्म मिलता है। गुरुशक्ति रूप अग्नि जन्म-जन्मान्तरों को भी जला सकता है। जब तक ज्ञानाग्नि से वासनाओं को जलाया न जाय या भक्ति से गलाया न जाय तब तक कर्म संस्कार तो रहेगा ही। मृत्यु समय में यदि भगवत् स्मरण हो जाय तो भगवत् प्राप्ति कराता है। अन्तिम समय में जैसा भाव रहेगा वैसी गति होगी। जन्म भर खराब काम करोगे तो अंतिम समय में अच्छी वासनायें कैसे आवेंगी? एक रानी थी। रानी खूब भक्तिमती थी। पूजा भक्ति में ज्यादा समय पसार करती थी। दया, दान भी खूब करती थी। उनके मन में एक बड़ा दुःख था कि उनका पति राजा नास्तिक था। कभी भगवान का नाम बाहर से नहीं लेता था। बाहर से लोगों को लगता था कि यह राजा नास्तिक है परन्तु असल में यह पूरा आस्तिक था। गुह्य रूप से भगवत्मय जीवन यात्रा कर रहा था। लेकिन अपनी अन्तरवृत्ति को कभी बाहर नहीं आने देता। इससे बाहर से नास्तिक जैसा ही लगता था। एकबार ऐसा बना कि जब राजा साहब निन्द्रा में थे तब उनके मुख में से अनजान में 'राम' शब्द निकल पड़ा! पास में सोई हुई रानी ने

यह शब्द सुना। उनको बड़ा आश्चर्य लगा। रानी आनन्द सागर में तैरने लगी। दूसरे दिन रानी ने इस प्रसङ्ग के उपलक्ष में बड़ा उत्सव लगा दिया। यज्ञ-याग, दान-दक्षिणा ब्राह्मणों को दी जाने लगी। यह सब उत्सव देखकर राजा ने पूछा—"क्या बात है? आज यह सब उत्सव क्या और किसलिये हो रहा है?" रानी ने उस रात का प्रसङ्ग सुनाया? राजा ने कहा,—"अरे! मेरे मुख से 'राम' शब्द निकल पड़ा! यह तो मेरा गुप्त से गुप्त परम धन था—निकल पड़ा! ऐसा सोचते ही उन्होंने अपना शरीर छोड़ दिया। ऐसा भी कभी हो सकता है कि सारा जीवन खराब काम किया किन्तु गुप्त संचित अच्छी वासना से ठीक मृत्यु समय में वृत्ति बदल सकती है।

प्र०—माँ! आत्मा और परमात्मा में क्या भेद है?

माँ—जो आनन्द है वही परमानन्द है। 'आत्मा' माने ही परमात्मा!

प्र०—आत्मा और परमात्मा क्या एक ही है?

माँ—इस सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध बात है! यत्र जीव तत्र शिव! यत्र नारी तत्र गोरी! बस यही बात ठीक है। आत्मा ही परमात्मा है। जैसे पानी होता है न! एक है शुभ जल और दूसरा है गंदा जल। 'जल' तो दोनों में एक ही है। दोनों जल का मूल तत्त्व तो एक ही है। शुद्ध जल पीने से आराम मिलता है। गंदा जल को Filter करो—छान लो और उबालो—गन्दा जल में से शुद्ध जल बन जायेगा। जहाँ बंध होता है वहाँ जल में कीड़ा पड़ता है। जीव में से जीव उत्पन्न होता है। गन्दा जल है—जीवात्मा। भगवत् भजन से शुद्ध होने पर वही परमात्मा स्वरूप बन जाता है। इसलिए भगवान ही परम आत्मा है। जो बन्धन में है वही जीव है। जहाँ बन्धन है वहाँ दुःख है। जीव को आत्मा द्वारा—परमात्मा का साक्षात्कार द्वारा विशुद्ध करके परमात्मा रूप बनाओ। मूल बात जल को 'फिल्टर' करने की है!

प्र०—'फिल्टर' कैसे किया जाय?

माँ—यदि 'फिल्टर' करना है तो गुरु के पास जाओ।

प्र०—गुरु को ढूँढ़ें कैसे?

माँ—सब कोई को भगवान को खोजने की इच्छा जागृत नहीं होती। अपने

भीतर ही भगवान को प्राप्त करने की भावना जगनी चाहिये। राम की कृपा से सब कुछ सम्भव है।

प्र०—माँ! ईश्वर एक पर कृपा करता है और दूसरे पर क्यों नहीं करता?

माँ—हाय! हाय! उनके पास 'एक' और 'दूसरा' है ही नहीं।

प्र०—राम की कृपा कैसे हो?

माँ—भगवान की कृपा सर्व पर है। भगवान किसी से पक्षपात नहीं करता। जैसे माँ अपने छोटे-छोटे बच्चों को आवश्यकतानुसार देती है। जैसे छोटे शिशु को सिर्फ दूध पिलाती है और बड़े लड़के को लड्डू खिलाती है। बच्चे की हजम शक्ति के अनुसार खिलाती है वैसे ही भगवान भी अपने भक्त की अवस्थानुसार उन पर कृपा करता है। सब कुछ उनका ही है। संसार में सारा परिवार भगवान का ही है। हाथ से काम करते रहो और भगवान का नाम लेते रहो। उसने तो राम का आश्रय लिया है। राम का खूब नाम लो। राम ही कर्म कराता है। कर्मक्षय करने के लिए भगवान के नाम का आश्रय लेकर आगे चलो।

प्र०—गीता में सुना है कि—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥

तो क्या अब भगवान ने अवतार लिया है कि लेने वाला है?

माँ—ऐसा एक जाहेरात किसी ने छपवाया था कि अवतार होने वाला है। शायद तुमने सुना होगा?

प्र०—जगत में 'माँ' ही सर्वोपरि है वैसा यदि सब कोई समझ ले तो सब ठीक हो जाय।

माँ—भगवान ही परम माता, परमपिता है। वही है! वही है!! वही है!!!

प्र०—रामकृष्ण परमहंस जी ने कहा था कि—'माँ' का पूजन करो। उनके बाद माँ का पूजन छूट गया और उनकी जगह पर रामकृष्ण परमहंस का ही पूजन शुरू हो गया। आप एक ऐसे आन्दोलन की प्रेरणा दो कि जिससे मात्र आपके

आदेश से ही धर्म की स्थापना हो जाये! आप तो माँ हैं इसलिये आप करा सकती हैं।

माँ—आपका भी एक भगवान का ही रूप है। सिर्फ आप ही तो है! यह शरीर तो छोटी सी बच्ची है। खाती है, पीती है और सर्वत्र घूमती-फिरती है। इस शरीर को तो सेवा भी नहीं आती है।

प्र०—आप प्रेरणा तो दे सकती हैं?

माँ—यह शरीर तो छोटी सी बच्ची है। तुम यदि इस शरीर से सेवा करा सको तो कराओ। यह शरीर तो घड़ी-घण्टा जैसा है। जैसा बजाओगे वैसा सुनोगे।

प्र०—जिसको Magnetic force—आकर्षक-लोहचुम्बात्मक शक्ति तो आप ही हो।

माँ—(चुप रहीं)

प्र०—कोई-कोई कहता है कि भगवान ने हमको प्रेरणा दिया। यह बात क्या सत्य है?

माँ—भगवान के राज्य में असत्य का स्थान है ही नहीं। भगवान जिसको जो प्रेरणा देते हैं वह होकर रहता है। भगवत् प्रेरणा यदि सच्ची हो तो काम जबरदस्ती से होकर रहेगा। किसी-किसी को ऐसी प्रेरणा होने की प्रतीति प्रत्यक्ष होती है। जैसे किसी जगह पर आग जलने से पीछे से वहाँ पर कुछ चिह्न रह जाता है वैसे ही भगवत् प्रेरणा होने से कुछ चिह्न रह जाता है। वहाँ असत्य का स्थान ही नहीं है।

गुजरात में स्वामी नारायण संप्रदाय बहुत प्रसिद्ध हैं। आज उसी संप्रदाय के एक महात्मा 'माँ' के दर्शन के लिये पधारे हैं। उन्होंने 'माँ' को बहुत सुन्दर भजन सुनाया।

प्र०—माँ संगीत की शक्ति भगवत् प्राप्ति के लिए अनुकूल है या प्रतिकूल है?

माँ—यह बात तो यह पिता जी (स्वामी नारायण संप्रदाय के साधु को लक्ष्य करके) कहेंगे। इस शरीर को तो संगीत भी नहीं आता है और बात करने भी नहीं आता है।

स्वामीना०—नाद ब्रह्म से ब्रह्म की उपासना होती है। इसलिये भगवान नारायण ने नारद से कहा था—

> "नाहं वसामि वैकुण्ठे, योगिनां हृदये न च।
> मद् भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥"

माँ—पिताजी ने बता दिया कि भगवान कहाँ रहते हैं, कहाँ नहीं रहते हैं, अब बताओ कि संगीत भगवत् प्राप्ति में अनुकूल है या प्रतिकूल?

साधु—भगवान कहाँ रहते हैं वो बात तो मैंने श्रीगुरुमुख से जैसी सुनी थी—बता दी। आप तो सिद्ध हैं। आप ही बताओ। संगीत तो एक साधन है। हम लोग तो आप से सिद्धि की आकांक्षा करते हैं। बोलो— माँ!

माँ—गुरुजी ने साधन बता दिया। गंतव्य स्थान भी बता दिया। भगवान कहाँ है—कितने दूर है वो सब तो गुरु ही बताते हैं।

साधु—कलियुग में तो संगीत के साधन को अति उत्तम कहा है।

माँ—हाँ, कलियुग में कीर्तन के प्रभाव को बहुत बलवान माना है।

साधु—बालक जब रोता है तो 'माँ' बच्चे को शान्त करने के लिए सुन्दर गान सुनाती है। संगीत के प्रभाव से बचा शान्त हो जाता है। संगीत शान्ति प्रेरक है। नाद ब्रह्म द्वारा भगवत् प्राप्ति होती है। कुछ आप बताओ—माँ।

एक भाई—प्र०—माँ! महाराज ने जो कहा,—"नाहं वसामि वैकुण्ठे"... यह बात समझ में नहीं आई।

माँ—(साधु को) पिताजी—आप ही समझाओ। पिताजी के मुख से सुनने की इच्छा है।

साधु—जहाँ भगवान का भजन गद्‌गद कंठ से होता है वहाँ भगवान विराजते हैं। दूसरी जगह में नहीं। हमारा तो वैकुंठ भी यही है।

एक भाई—भगवान ने तो कहा है कि मैं वैकुण्ठ में नहीं हूँ। मैं तो उससे भी पर हूँ।

साधु—जहाँ भजन होता है वहाँ वैकुण्ठ बन जाता है।

प्र०—माँ! समाधान नहीं हुआ। भगवान ने ऐसा नहीं कहा है कि भजन होता है वहाँ वैकुण्ठ है और मैं वहाँ रहता हूँ।

माँ—पिताजी ने कहा है कि भगवान ने ही ऐसा कहा है। भगवान की वा असत्य कैसे हो सकती है? क्या समझ गया।

प्र०—पिताजी की वाणी को मैं नहीं समझ रहा हूँ। ऐसी वाणी तो किस भक्ति मार्ग को आगे बढ़ाने के लिए सुनाई होगी। खुद भगवान की वाणी यह हो सकती। वेदान्त का खण्डन करने के लिये और भक्ति का माहात्म्य स्थाप करने के लिये ऐसा लिखा है—ऐसा मालूम होता है।

माँ—भगवान की बात तो माननी पड़ेगी ही। (साधु के प्रति) क्या यह ब भक्ति मार्ग के माहात्म्य के लिये लिखी है?

साधु—माहात्म्य के लिये लिखी है ऐसा मैं कैसे कहूँ? कहने का कुछ, औ बताने का कुछ—ऐसा थोड़े होता है। महात्माओं की वाणी ऐसी नहीं होगी।

माँ—(स्वामी परमानन्द जी को बंगला भाषा में कहा) भक्ति के माहात्म्य लिये ऐसा लिखा गया है—क्या?

स्वामी परमानन्द—ऐसा यदि न हो तो इसकी दूसरी व्याख्या हो सकती। वैकुण्ठ में भगवान नहीं है वैसे कैसे कहा जा सकता है। योगियों के हृदय भी भगवान है ही।

प्र०—अज्ञानी को अज्ञानी मिला जैसी बात हो गई है।

माँ—यहाँ तो ज्ञान की बात हो रही है, अज्ञान की नहीं।

परमानन्द—लोगों को भक्ति मार्ग द्वारा परम की प्राप्ति के लिये ही ऐ कहा है ऐसा मालूम होता है।

दूसरा एक भाई—जैसे माँ का चित्त अपने छोटे से शिशु में रहता है वै भगवान का चित्त भक्त में रहता है। भक्त में ही भगवान रहता है।

परमानन्दजी—भगवान की यह जो वाणी है इसमें विरोधाभास मालूम रहा है।

प्र०—यह वाणी भगवान की ही है ऐसा कोई प्रमाण नहीं है।

एक भाई—यह श्लोक श्रीमत् भागवत में से लिया है।

एक लड़का—(साधु के प्रति) पिताजी, आपने कहा कि जहाँ संगीत होता है वहाँ भगवान है। तो बताओ यहाँ भगवान कहाँ है ?

मूल प्रश्न कर्ता—माँ, बस, मेरे मन का समाधान हो गया।

प्र०—भगवान योगी के वर्णन के मुताबिक निर्गुण है और भक्त के लिये सगुण है।

एक भाई—सभा विसर्जन का समय हो गया इसलिये समाधान हो गया।

माँ—समय से समाधान नहीं होता। फिर समाधान समय से ही होता है।

प्र०—माँ, क्या मेरा समाधान कच्चा है ?

माँ—हाँ! तुम्हारा समाधान कच्चा है क्योंकि अभी तुम पूछ रहे हो! जहाँ प्रश्न रह गया वहाँ समाधान कहाँ है ? संशय में समाधान नहीं है।

ता० ५-१२-१९४७

परम पूज्य श्री हरिबाबा महाराजजी ने बैकुण्ठदास नाम के साधु को भेजा है—माँ को निमन्त्रण करने के लिये क्योंकि बाँध (जिला-बदायूँ उत्तर प्रदेश) में बड़ा उत्सव होने वाला है। इसके सम्बन्ध में माँ ने कहा,—"पिताजी ने इस छोटी बची को बाँध पर ले जाने के लिये तीन-तीन बार निमन्त्रण भेजा है। हरिबाबाजी महाराज बहुत बड़े प्रसिद्ध, सुन्दर महात्मा हैं। जिला बदायूँ में गङ्गा के किनारे पर बाँध नाम का गाँव है। नदी के किनारे पर वर्षा के दिनों में बाढ़ की वजह से हजारों गाँव बह जाते थे। यह करुण दृश्य देखकर हरिबाबाजी महाराज के हृदय में करुणा भर आई। आपने विचार किया कि कैसे इन लोगों की रक्षा हो। आपने गङ्गा किनारे १९ माईल का बाँध बाँधने का विचार दृढ़ किया। हजारों गाँवों के लाखों लोगों ने इस काम में मदद दी। सबने काम शुरू कर दिया। खुद हरिबाबाजी ने फावड़ा उठा लिया और काम में लग गये। भगवान नाम का कीर्तन करते जायें और मिट्टी काटते जायँ! एक अपूर्व दृश्य था। उस बाँध पर ही बहुत सुन्दर एक बड़ा आश्रम तैयार हो गया है। हरिबाबाजी महाराज श्री कभी-कभी वहाँ जाकर—ध्यान,

जप, तप और संकीर्तन, सत्सङ्ग इत्यादि खूब सुन्दर भाव से चलाते हैं। वहाँ किसान खेत में जब काम करने जाता है, काम भी करता जाता है और साथ महामन्त्र का नाम संकीर्तन—"हरे कृष्ण ! हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे !, राम ! हरे राम ! राम राम हरे ! हरे !—चलता रहता है। माँ ने बात पूरी कर शान्ति स्थापित हो गई है। एक भाई ने प्रश्न किया।

प्र०—माँ ! आत्मा निर्लेप है, मन चञ्चल है। आत्मा और मन का कैसे होता है ? मन को कैसे वश में लाना चाहिए।

माँ—इसके लिये गुरु का आश्रय लेना चाहिये। गुरु के आदेश का अवि से पालन करना चाहिए। इससे मन की स्थिरता प्राप्त हो सकती है। तुम तो को में गुरु हो। तुम्हारे उपदेश से तुम्हारा शिष्य क्या तुम्हारे जैसा नहीं बन सकता गुरु तो उपदेश देता है। आदेश पालन करने से भगवत् प्राप्ति होती है।

प्र०—कोई कहता है कि मन ही गुरु है—यह बात क्या सत्य है ?

माँ—यदि मन को गुरु मानोगे तो देखोगे ! उस मन का उपदेश से हुआ है। मन का गुण तो चञ्चलता है। मन गुरु नहीं है।

प्र०—शब्द के साधन द्वारा गुरु उपदेश देता है। तो शब्द क्या मन की प्रवृ नहीं है ? आत्मा तो कुछ बोलता नहीं है। जहाँ वाचा है वहाँ मन की प्रवृत्ति है।

माँ—गुरु का मन—स्थिर हुआ है—स्थितप्रज्ञ है। मन को स्थिर करने लिए मन को वश करो। मन को एकाग्र करने के लिए भिन्न-भिन्न उपाय है। साधना ध्यान, जप इत्यादि में यदि मन न रहे तो साधना से लाभ क्या ?—मन बि साधन की कुछ सफलता नहीं है। मन एकाग्र होने से 'एक' मिलेंगे।

प्र०—माँ, आप ही हमारे तो परम गुरु हैं। आपके पास हम लोग भि माँग रहे हैं।

माँ—'आप' ही तो भगवान हैं। गुरु भी तो भगवान है। उनसे प्रार्थना ह समय करते रहो। जैसे पत्थर पर भी सब समय पानी पाटते रहें तो वहाँ पत्थर भी घिस जाता है। इसलिये तुम अविरत प्रार्थना करो। इससे जड़ मन भी पिघ जायेगा। नित्य कर्म करो। साधना में लग जाओ।

प्र०—वासना मनुष्य योनि के सम्बन्ध में हो तब भी पशुयोनि में जाना पड़े तो...पशु शरीर में जाकर मनुष्य शरीर की वासना की पूर्ति कैसे होती है ?

माँ—शरीर तो धारण करना पड़ता है। सब भोग शरीर से भोगना पड़ता है। जन्म मात्र भोग के लिये ही है। भोग वासना न हो तो अमृत तत्त्व की प्राप्ति हो जाय! सर्प, पशु, पक्षी से भोग क्षय होता है। अमृत की प्राप्ति के लिए मृत्यु पर विजय करना पड़ेगा। मृत्यु का भी मृत्यु करना पड़ेगा। ऐसा करो कि मृत्यु का भी मृत्यु होकर अमृत तत्त्व की प्राप्ति हो जाय!

प्र०—पशुयोनि में भोग कैसे भोगा जाता है ?

माँ—पशुयोनि में भी भोग भोगना पड़ता है, मनुष्य जन्म तो बड़ा दुर्लभ है। मनुष्य शरीर से भगवत् प्राप्ति हो सकती है। इस जन्म में ही—यह शरीर रहते-रहते ही भगवत प्राप्ति कर लो। बार-बार जन्म मृत्यु के चक्कर में डालने वाले कर्मों को मत करो। यह मनुष्य शरीर तो अमृत तत्त्व को ग्रहण करने का पात्र है।

प्र०—आप जैसी 'माँ' की कृपा से ही भगवत् प्राप्ति सम्भव है।

माँ—सारी दुनियाँ का काम तो अहंकार से "मैं कर रहा हूँ"—ऐसा कह के दिन रात कर रहे हो। और जहाँ भगवान के भजन की बात आई तो उसका बोझा दूसरे पर डालना चाहते हो। भगवत प्राप्ति का तुम दृढ़ निश्चय करो। "मैं भगवान का नाम कभी भी छोड़ूँगा नहीं" ऐसा निश्चय करके भगवान के लिए क्षुधा को जागृत करो। थोड़ी भूख से थोड़ा मिलेगा। संपूर्ण भूख लगाओ तो भगवान की पूर्ण रूप से प्राप्ति होगी।

LIBRARY
No.........
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS.

कैलास-मानसरोवर-प्रदक्षिणा

श्री 'दत्त'

'तीर्थानुसरणं शुभम् ।' [मत्स्यपुराण]

'ततो गच्छेत् राजेन्द्र मानसं तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् रुद्रलोके महीयते ।।'

[महाभारत, वनपर्व ८२]

समय व्यतीत होने में कोई बिलम्ब नहीं लगता। देखते-देखते मई मास आ पहुँचा। प्रतिवर्ष इस मास श्री श्री आनन्दमयी संघ के तत्त्वावधान में श्रीमातृजन्म-महोत्सव भारत के विभिन्न स्थानों में ससमारोह मनाया जाता है। उस वर्ष यह महोत्सव प्रयाग [इलाहाबाद] में श्री माँ के पुराने भक्तों में एक विशिष्ट भक्त, अवसर प्राप्त न्यायाधीश, स्वर्गीय श्री नीरजनाथ मुखर्जी के निवास स्थान पर सम्पन्न हुआ। श्री नीरज बाबू का सम्पूर्ण परिवार अत्यन्त धार्मिकवृत्ति का है और उसकी श्री माँ के प्रति अनन्य श्रद्धा-भक्ति है। पूरे उत्सव की तैयारी इस भाग्यशाली परिवार ने इस तरह हृदय और प्राण एक कर की थी कि आश्रमवासी एवं भारत के विभिन्न स्थानों से एकत्र मातृभक्तों को उनके घर का वातावरण आश्रम की तरह विशुद्ध, शान्त और आनन्दप्रद प्रतीत हुआ।

भारतीय तीर्थ स्थानों में तीर्थराज प्रयाग के माहात्म्य से शास्त्रों के असंख्य पृष्ठ रंगे पड़े हैं। यही एक अति प्राचीन तीर्थक्षेत्र है, जिसका पुनीत त्रिवेणी-सङ्गम-प्रदेश असंख्य ऋषि-मुनियों की दीर्घकालीन उत्कट तपश्चर्या से उद्भूत आध्यात्मिक आन्दोलन से विकम्पित रहता था जिसकी पुण्य भूमि का वायुमण्डल पितामह ब्रह्मदेव एवं अनेकानेक चक्रवर्ती सार्वभौमों द्वारा आयोजित अगणित महायज्ञों के अनुष्ठान से उत्पन्न सुगन्धित पवित्र धूम से सदैव आच्छादित रहता था, जिसके त्रितापहारी त्रिवेणी जल में अवगाहन कर अनेक सन्तप्त यात्रीगण शान्ति-लाभ कर

अपने को धन्य समझते। इसी सत्यक्षेत्र में श्रीमातृ जन्मोत्सव का मनाया जाना मातृभक्तों के लिए अत्यन्त हर्ष का विषय था।

इस शुभ प्रसंग के निमित्त अनेक मातृभक्त उपस्थित थे, कुछ विशिष्ट सन्त महात्मा भी पधारे हुए थे। श्रीमद्भागवत सप्ताह पारायण, चण्डीपाठ, महात्माओं के भक्ति-ज्ञान-पूर्ण धार्मिक प्रवचन, भजन-कीर्तन आदि सत्कार्यों से सारा वातावरण इतना प्राणवान, ऐसा आनन्दमय हो गया कि उत्सव के दिन क्षण की तरह व्यतीत हो गये। कहते हैं कि आनन्द के वर्ष भी क्षण से प्रतीत हुआ करते हैं। यह मांगलिक उत्सव पूर्ण होते ही सम्मिलित मातृभक्त वृन्द अपने को मातृस्नेह, कृपा और आशीर्वाद से अभिसिंचित करते हुए अपने-अपने स्थानों को प्रस्थान करने लगे। मैं यहाँ से श्री कैलास यात्रा के लिए प्रयाण करने वाला था जिससे उस शुभ दिन प्रातः मैंने पुण्यसलिला भगवती त्रिवेणी में स्नान कर उसका पवित्र जल कैलासपति भगवान् को चढ़ाने के लिए साथ ले लिया। दो दिन पूर्व ही में काशी विश्वनाथ, माता अन्नपूर्णा और सन्त तुलसी को प्रेरणा मूर्ति संकटमोचन हनुमान् जी के दर्शन भी कर आया था। पूर्व निश्चित कार्यक्रमानुसार श्री माँ एवं कतिपय आश्रमवासी भक्त एवं विशिष्ट महात्मा लोग बम्बई के लिए रेल से रवाना हुए जबकि मैं सबके आशीर्वाद का संबल लेकर हिमालय पार के परम पुनीत स्थान कैलास-मानसरोवर की यात्रा के लिए लखनऊ की ओर चल पड़ा।

जिस प्रकार हिमालय के चार धामों—यमुनोत्री, गंगोत्री, केदारनाथ एवं बदरीनाथ की यात्रा के इच्छुक व्यक्ति को उत्तर भारत के हरद्वार रेलवे स्टेशन पर उतरना पड़ता है, अमरनाथ [काश्मीर] की यात्रा के लिए उत्तर भारत के अन्तिम रेलवे स्टेशन पठानकोट उतरना पड़ता है, ठीक वैसे ही अलमोड़ा के सरल, लघु एवं सुविधाजनक मार्ग से कैलास-मानसरोवर के यात्री को उत्तर-भारत के अन्तिम रेलवे स्टेशन काठगोदाम पर उतरना पड़ता है। मद्रास, बम्बई तथा दिल्ली की ओर के कैलास यात्री को आगरा फोर्ट रेलवे स्टेशन पहुँचकर वहाँ से उत्तरी रेलवे की कुमाऊँ एक्सप्रेस द्वारा काठगोदाम पहुँचना पड़ता है। अथवा मद्रास, बम्बई के यात्री को सीधे दिल्ली पहुँचकर वहाँ से रेल द्वारा बरेली या मुरादाबाद आना पड़ता है। वहाँ

से आगे मोटर बस द्वारा काठगोदाम होकर अलमोड़ा पहुँच सकते हैं। कलकत्ता, वाराणसी एवं प्रयाग के यात्री देहरादून एक्सप्रेस या पंजाबमेल द्वारा बरेली या मुरादाबाद स्टेशन उतर कर वहाँ से मोटरबस द्वारा काठगोदाम होकर अलमोड़ा पहुँच सकते हैं। सौराष्ट्र के यात्री दिल्ली आकर आगरा फोर्ट से कुमाऊँ एक्सप्रेस द्वारा या दिल्ली से सीधे बरेली, मुरादाबाद होकर मोटरबस द्वारा काठगोदाम होते हुए अल्मोड़ा आ सकते हैं। यात्रा के लिए आवश्यक वस्त्र, औषध, पात्र आदि साधनों से सम्पन्न यात्री अल्मोड़ा होकर न जाना चाहें तो बरेली स्टेशन से रेल द्वारा टनकपुर पहुँचकर वहाँ से सीधे पिठौरागढ़ आ सकते हैं। कलकत्ता, वाराणसी और प्रयाग की ओर के यात्री के लिए लखनऊ से नैनीताल एक्सप्रेस द्वारा काठगोदाम पहुँचना अति सुविधाजनक है।

जिन धर्म प्रेमी सज्जन* के निमन्त्रण पर मैं उनके साथ प्रयाग से लखनऊ आया उनके साथ उनके भावभरे निमन्त्रण पर नैनीताल के लिए निकला। उनका सारा परिवार भी उनके साथ था। लखनऊ से हमलोग रात की गाड़ी से मुसाफिरी करने वाले थे। स्टेशन पर पहुँचकर देखा कि गाड़ी छोटी, पर भीड़ अधिक थी। हम लोगों ने पहले से रिजर्वेशन करा रखा था, इसलिए स्थान खोजने में कोई कठिनाई नहीं उठानी पड़ी। 'प्रारम्भ में ही प्रसाद' उक्ति के अनुसार कैलास-मानसरोवर की विषम यात्रा का श्रीगणेश इस तरह सहज भाव से हुआ वह मानो परम कृपालु परमात्मा की कृपा एवं प्राप्तव्य सफलता का संकेत ही था। निश्चित समय पर हमारी आसमानी रंग के डिब्बों से युक्त पर्वतीय गाड़ी लखनऊ को 'सलाम' कर आगे चल पड़ी। थोड़ी देर तक तो खिड़कियों से दिखाई पड़ने वाले शहर के विद्युत् दीप मानो गाँव के शरारती लड़कों की तरह हमारी गाड़ी के साथ दौड़ते हुए स्पर्धा में आगे बढ़ना चाहते थे। किन्तु जैसे-जैसे गाड़ी अँधेरी रात को भेदकर अपनी गति बढ़ाने लगी, वैसे-वैसे टिमटिमाते वे दीप मानो एक के बाद एक हमारा पीछा छोड़ते गये। आखिर अँधेरी रात में बेचारी गाड़ी अकेली ही पड़ गयी। आगे बढ़ती हुई गाड़ी की आवाज में डिब्बों की भीड़ की आवाज धीमे-धीमे विलीन होती

---

* राजस्थान प्रदेश के कुचामन स्टेट के राजासाहब श्री प्रताप सिंह जी बहादुर।

गयी। जिस प्रकार कोई शाक बेचने वाला अपने शाक की टोकरी को झकझोर कर अन्दर की शाकों को अपनी-अपनी जगह पर बैठा देता है, उसी तरह हमारी गाड़ी ने भी आगे बढ़ते हुए अपने डिब्बों को भलीभाँति झकझोरा और भीतर के जीवों के लिए बैठने की जगह बना दी, जिससे वे शान्त हो गये। यह सच है कि जब तक अपना स्वार्थ नहीं सधता, मानव तबतक चिल्लपों मचाता रहता है।

हम लोग खिड़कियों से असंख्य नक्षत्रों से अलंकृत आकाश का दर्शन करते हुए मुसाफिरी का आनन्द ले रहे थे और जगन्निर्माता की अपरिमित शक्ति की चर्चा भी कर रहे थे। किन्तु जैसे-जैसे हमारी घड़ी के काँटे 'बारह' के निकट आते गये, वैसे ही हम लोगों ने निद्रादेवी के आँचल में छिपते हुए आखिर उनकी पूर्ण शरणागति स्वीकार कर ली। अब कौन जानता है कि हम कौन हैं ? कहाँ हैं और कहाँ जा रहे हैं ? रात की लम्बी मुसाफिरी तय कर सुबह हलद्वानी स्टेशन के प्लेटफार्म पर गाड़ी खड़ी हुई। मैंने खिड़की से झाँका तो स्टेशन बड़ा ही सुन्दर और स्वच्छ दीख पड़ा जिससे मैं प्लेटफार्म पर उतरने का मोह संवरण न कर सका। देखा, गाड़ी में दो इञ्जन जुड़े हैं। शाबाश-गाड़ीबाई, आखिर तूने हमें ठीक समय, सही सलामत पर्वत की गोद में पहुँचा तो दिया !

यहाँ देखा कि गाड़ी के अधिकांश मुसाफिर उतर पड़े। मानों गाड़ी खाली हो गयी। इस विषय में विश्वस्त व्यक्ति से पता चला कि हलद्वानी इस ओर का बड़ा व्यापारिक केन्द्र है। नैनीताल, अल्मोड़ा आदि पर्वतीय नगरों को जानेवाली मोटर गाड़ियाँ यहीं से रवाना होती हैं। यहाँ से बैठने वाले यात्री को बस में जगह मिल जाती है। कई बार काठगोदाम से बस में बैठने वाले मुसाफिरों को भीड़ के कारण जगह मिलना कठिन हो जाता है, जिससे उन्हें अन्य बसों की प्रतीक्षा में कुछ समय व्यर्थ गँवाना पड़ता है।

हलद्वानी [उत्तर अक्षांश १९° १३', पूर्व देशान्तर ७९° ३२', ऊँचाई १४३४ फुट] इस ओर का बड़ा व्यापारिक केन्द्र है। कहते हैं कि किसी समय यहाँ हलदू वृक्ष [Adina Cordofolia] का घना जङ्गल रहा। अतएव इसका 'हलद्वानी' नाम पड़ा। कुमाऊ प्रदेश के प्रथम अंग्रेज कमिश्नर मि० ट्रेल ने ई० सन् १८३४ में

इस बाजार को बसाया। यहाँ अब स्कूल, इण्टरकालेज, महाविद्यालय, संस्कृ पाठशाला, चिकित्सालय, डाक बंगला, धर्मशाला, डाक-तारघर आदि हो गये हैं। कैलास-मानसरोवर के यात्री को यात्रा में अधिकांश आवश्यक वस्तुएँ यहाँ उपलब्ध हो जाती हैं, जो नैनीताल और अल्मोड़ा से सस्ती पड़ती हैं।[1]

हल्द्वानी रेलवे स्टेशन पर हमारी गाड़ी ने कुछ अधिक समय तक विश्राम किया। यहाँ से काठगोदाम प्रायः पाँच मील दूर है। इसलिए अब शायद उसको जल्दीबाजी करना पसन्द न होगा। आखिर वह चली...और मार्ग की चढ़ाई चढ़ते-

---

[1] —कैलास मानसरोवर की कठिनतम यात्रा विशेषतः दो प्रकार के लोग कर सकते हैं। एक, योगी [विरक्त महात्मा] और दूसरे भोगी [धनिक]। मध्यम वर्गीय लोगों के लिए यह यात्रा चिन्तनीय होती है। यात्रा में साथ लेने की वस्तुओं के विषय में विरक्त महात्माओं के लिए तो कुछ कहना ही नहीं। प्रश्न है, मध्यमवर्ग और धनवान् का। मध्यम-वर्ग के लिए यात्रा में कम-से कम पाँच सौ रुपये व्यय होता ही है। पैदल यात्रा करने वाले और साथ में कम सामान रखने वाले को तदनुसार कम व्यय होता है। यात्रा में निम्नलिखित वस्तुएँ साथ में लेना आवश्यक है।

दो गरम कम्बल [एक बिछाने और एक ओढ़ने के लिये], जमीन पर बिछाने के लिये बरसाती कपड़ा [प्रायः आठ फुट लम्बा और चार फुट चौड़ा], गरम चद्दर, गरम पतलून, कोट, दो स्वेटर, मफलर, कानटोप, दस्ताने और मोजे, छाता, गरम पट्टियाँ [Bandages], हलका वजन का बरसाती कोट, हलके और मजबूत रबड़ के दो जूते, [बाटा कम्पनी के 'हण्टर-शू' अच्छा काम देते हैं], मजबूत, हल्की और नीचे की ओर लोहे की नोक वाली लकड़ी [छड़ी], बिस्तर के ऊपर बरसाती कपड़ा बाँधने के लिये सूत की रस्सी [कम-से-कम ४० फीट], बरफ पर से चमक कर आती हुई सूर्य की तेज किरणों से आँखों की रक्षा के लिये काले रंग के चश्मे इत्यादि। [सूती वस्त्र जैसे :—धोती, कमीज, तौलिया, पैंट आदि भी साथ में रखना आवश्यक है क्योंकि १०,००० फीट की ऊँचाई तक दिन में सूर्य की गरमी रहती ही है और आगे तिब्बत में भी दिन में गरमी रहती है। पैदल यात्री को चलते समय शरीर में अधिक गर्मी रहने से बहुत कम गरम वस्त्र पहनने की आवश्यकता होती है। उनके लिये केवल रात्रि में ही अधिक गरम वस्त्र की जरूरत पड़ती है।]

चढ़ते बहुत से स्थानों पर कुछ-कुछ समय दम लेती हुई, १५-२० मिनट बाद, उसने अन्तिम रेलवे स्टेशन काठगोदाम के प्लेटफार्म में हर्षध्वनि के साथ प्रवेश किया। लखनऊ से रवाना होने के पूर्व ही हम लोगों के आगमन की सूचना तार द्वारा काठगोदाम के स्टेशन मास्टर तथा नैनीताल की सरकारी मोटर एजेंसी को दे दी गई थी जिससे स्टेशन के यार्ड में खड़ी सरकारी मोटरें हम लोगों की प्रतीक्षा कर रही थीं। गाड़ी रुकते ही हट्टे कट्टे, प्रसन्न वदन दो-तीन पर्वतीय मजदूर हमारे डिब्बे में आये

खाद्य पदार्थों में आटा, दाल, चावल, शक्कर, गुड़, घी, तेज़, मिट्टी का तेल, दियासलाई इत्यादि मार्ग के ग्रामों की दूकानों से कुछ अधिक धनव्यय से मिलती है। इसलिए इन सब वस्तुओं को साथ में ले जाकर अधिक बोझ नहीं बढ़ाना चाहिए। जितना अधिक बोझ होगा उतनी अधिक मजदूरी देनी होगी। भारतीय सीमा के अन्तिम ग्राम गर्ब्यांग् से ही ये सभी सामग्रियाँ साथ में ले लेनी पड़ती हैं क्योंकि आगे पश्चिमी तिब्बत में आजकल ये वस्तुएँ धनव्यय करने पर भी उपलब्ध नहीं हो सकतीं। इन सामग्रियों में विशेष उपयोगी हैं – खट्टी-मीठी पिपरमिन्ट [पहाड़ की कठिन चढ़ाई-उतराई के समय मुँह में रखने के लिये] एक्स्ट्रा-स्ट्राँग पिपरमिन्ट, चाकलेट, बिस्कुट, पेड़े या इस तरह की दूध की मिठाइयाँ जो अधिक दिन तक बिना बिगड़े रह सकें, लौंग, इलायची, चाय [पाउडर], काफी या कोको, गरम मसाले, नींबू और आम का खट्टा आचार [इस विकट यात्रा में जैसे-जैसे हम १०,००० फीट से अधिक ऊँचाई पर पहुँचने लगते हैं, वैसे ही मन की गति विकृत सी होने लगती है क्योंकि वायु पतली और ऑक्सीजन का परिमाण कम होने लगता है। इसी से पित्त प्रकृति बढ़ जाती है, क्रोध, ईर्ष्या, चिड़चिड़ापन आ जाने से यात्री लोग आपस में झगड़ा लड़ाई भी कर बैठते हैं। इसीलिए ऐसे समय पर खट्टी वस्तुएँ नींबू, आम का आचार, खट्टी-मीठी पिपरमेन्ट आदि का सेवन करते रहना अच्छा है] सूखा मेवा, दूध का पाउडर, दो फोल्डिंग प्राइमस, उसकी पिन का बण्डल, थर्मस, मोमबत्ती, टार्च लाइट और उसकी दो जोड़ी अधिक सेल, सूई, तागा, कैंची, रेजरब्लेड, चाकू, मजबूत ताले, सामान तौलने का अच्छा स्प्रिंग बैलेंस इत्यादि वस्तुएँ हैं। औषधियाँ साथ में लेना भी बहुत आवश्यक है। अपने काम में नहीं तो, दूसरों के काम में आ सकती हैं। इस प्रकार की औषधियों का दान

और सामान नीचे उतार कर मोटर में रखने लगे। इस बीच मैंने काठगोदाम का छोटा सा सुन्दर और स्वच्छ स्टेशन अच्छी तरह से देख लिया। साथियों में से कुछ ने तो विश्राम-गृह में जाकर थोड़ा विश्राम भी कर लिया। इतने में तो 'चलिए जी' ..कहता हुआ 'हार्न' बजते ही हम लोग मोटर के समीप आ उपस्थित हुए। सभी व्यक्तियों के सुव्यवस्थित रूप से अन्दर बैठ जाने के पश्चात्, मोटरें नैनीताल की ओर चल पड़ीं।

भी महापुण्य का कार्य है। साथ में लेने की मुख्य औषधियाँ निम्नलिखित हैं—आयोडेक्स, एनेसीन, शिबाजॉल या पेन्सिलीन मलहम, रूई; पट्टी के लिये सफेद कपड़ा, हॉट वाटर बैग, अमृतांजन बाम, अमृतधारा या 'पेनकिलर', लवणभास्कर चूर्ण, कुनैन, वैसलीन, फ्रूटसाल्ट, पेचिस की दवा., दर्द करते हुए शरीर के अंग पर मालिश करने का नारायण तेल या अन्य मालिश तेल, विक्स या सर्दी की अन्य औषधियाँ, सरसों का तेल [शीत से रक्षा के लिए शरीर में मालिश करने के लिये और पैर के तलुवे में घिसने के लिये]। इनके अलावा जिन व्यक्ति को अपने स्वास्थ्य और शक्ति के अनुसार जो कुछ अन्यान्य अधिक औषधियाँ, गरम वस्त्र, जलपान के लिये अन्य मिठाइयाँ इत्यादि आवश्यक प्रतीत हों, ले लेना अच्छा है। पहाड़ के ग्रामों में धनव्यय करने पर भी ये वस्तुएँ अप्राप्य हैं।

यात्रा मार्ग के ग्रामों में जिस दूकान से खाद्यादि सामग्रियाँ खरीदी जाती हैं, वहीं से भोजन तैयार करने के लिये बर्तन भी मिल जाते हैं। इसके लिए किरांया नहीं देना पड़ता। इसलिये यदि बर्तन साथ में न भी लें तो कोई तकलीफ नहीं होगी। [गर्-ब्यांग् से आगे की यात्रा में आवश्यक बर्तन, गरम वस्त्र, खाद्य सामग्री इत्यादि गर्-ब्यांग् से ही ले जानी पड़ती है। यहाँ से बर्तन, कम्बल, तम्बू आदि किराये पर मिल जाते हैं। पहाड़ी रसोइया भी यहीं से साथ ले लेना अच्छा है।] यदि कोई यात्री अपने ही बर्तन में पकाया हुआ भोजन ग्रहण करना चाहे तो उसे अल्यूमोनियम के बर्तन साथ में ले जाना चाहिये। ये बर्तन वजन में हल्के होते हैं और साबुन से बहुत जल्दी साफ हो जाते हैं। प्रेशरकुकर लेना भी अच्छा है। बर्तन और अन्यान्य कीमती वस्तुओं की सुरक्षा के लिए लोहे का हंल्का और मजबूत ट्रंक ले लेना जरूरी है।

काठगोदाम [२९° १६', ७९° ३३'] उत्तरी रेलवे की छोटी लाइन का यह अन्तिम रेलवे स्टेशन है। कहते हैं कि पहले किसी समय यहाँ पर लकड़ी के घर [काष्ठ गृह] थे। पहाड़ों में से लकड़ियाँ काट-काट कर, उनको नीचे यहाँ पर लाकर इकट्ठा किया जाता था जिससे इस स्थान का नाम काठगोदाम पड़ा। ईस्वी सन् १८८२ में बरेली से यहाँ तक की रेलवे शुरू हुई। यहाँ से मोटर बस मार्ग से नैनीताल २२ मील है जबकि यहाँ से भवाली, खैरना और रानीखेत होकर अल्मोड़ा प्रायः ७७ मील है। यहाँ पर डाकघर, तारघर, डाकबँगला, होटल, मोटरबस स्टेशन इत्यादि हैं।

हमारी मोटरें अब पहाड़ के कभी ऋजु तो कभी सर्पाकार, कभी ऊर्ध्वोन्मुख तो कभी निम्नाभिमुख मार्ग पर अपनी यथोचित गति से दौड़ रही थीं। जैसे जमी हुई पर्वत पंक्तियों की समुद्र तरंगों पर नौकाएँ संतरण कर रही हों। मार्ग के हरीतिमा से लदे लघु-दीर्घ नयनाभिराम पहाड़ और चित्ताकर्षक वनश्री, नीचे को बहती हुई, नाचती कूदती और अस्पष्ट किन्तु मधुर पर्वतीय गीतों को गुनगुनाती हुई लघु सरिता, सुखी पहाड़ों की सुगन्धि का प्रसार करता हुआ मन्द-मन्द गतिवाला शीतल समीर, नीलाकाश में स्वच्छन्द रूप से विहार करते आनन्दी पर्वतीय विहगगण इत्यादि ने हमें आनन्द सागर में मग्न कर दिया। सचमुच ही पर्वतीय यात्रा मानव की संकुचित मनोवृत्ति के लौह प्राचीर को भेद कर उसमें साहस, धैर्य, आत्मविश्वास एवं अदृश्य महाशक्ति में श्रद्धा आदि में दिनानुदिन वृद्धि करती रहती है, जिससे उसकी दृष्टि व्यापक होने लगती है—विश्वबन्धुत्व की भावना दृढ़ होने लगती है। इसी से तो अनुभवी लोग कहते हैं कि यात्रा और पर्यटन यौवन काल में जितना हो सके शीघ्र कर लेना चाहिए। कल किसने देखा! एक उर्दू शायर ने ठीक ही कहा है—

"सैर कर गाफ़िल जहाँ की जिन्दगानी फिर कहाँ।
जिन्दगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहाँ॥"

[क्रमशः]

The Self self-contained,
calling to Itself for its own Revelation—
this is happiness.

MATRI VANI

God's grace pours down every where and at all times. According to one's self-dedication one will receive enlightenment. To pray constantly for God's grace is man's duty.

* * *

If peace is to be found one should follow the particular path and contemplate the particular form that appeals to one most and that helps one towards the supreme Goal. So long as the inner Guru has not been found, how can the final consummation be near ?

* * *

God is all pervading – in every form, in every sect and religion is He alone. If you are eager to love God it is very fortunate—it is due to His grace. Man's love should be directed solely towards God; then only will there be peace and bliss. Ever take refuge at His feet. It is man's privilege to realize God—the path to Truth is open to him.

* * *

If the contact with the Guru has really been established He can never be forsaken; He is ever present with the disciple. God alone is man's Guru. One should put one's whole trust in Him. *Kriya* and *yoga* cannot be practised without a Guru, while *japa* and meditation may be performed anywhere. Endeavour to sit absolutely still in steady contemplation so as to calm the mind. Try to keep your attention fixed on the Supreme Quest. Then only is there hope of finding tranquillity.

* * *

The love of God is alone desirable for a human being. He who has brought you forth, He who is your Father, Mother, Friend, Beloved and Lord, who has given you everything, has nourished you with the ambrosia streaming from His own being—by whatever name you invoke Him—that name you should bear in mind at all times.

* * *

The One who manifests as the longing to find a Guru, also manifests as the fulfilment of that longing. But it is necessary that this longing should be genuine. At every moment be aware of Him for the sake of His Realization.

Pages from my Diary

GURUPRIYA DEVI

(Translated from Bengali)

Bangalore, 16th *July*, 1961.

This evening at about 5'clock, Mataji arrived here from Poona. She has come at the invitation of the Chief Justice Sri Subodh Ranjan Das Gupta (Kohinurda), an old devotee of hers, who was very eager to have her in Bangalore for a few days. Sri S. R. Das Gupta, his wife, the Rajmata of Mysore and lots of others received Mataji at the railway station. With the utmost reverence Kohinurda welcomed Mataji in his house. He had erected a lovely hut made of palm leaves for Mataji's use. When Ma entered it, she remarked: "What a beautiful little house!" In South India people are especially skilled in preparing garlands. Kohinurda's wife Beladi put a huge garland round Mataji's neck and performed *āratī* to her. Later in the evening a few people came for Mataji's *darśana*. Sri S. R. Das Gupta has made excellent arrangements with a view to letting Mataji have a good rest.

Bangalore, 17*th July*, 1961.

This morning's paper brought some bad news. Last night the Maharaja of Gwalior suddenly breathed his last in his house at Bombay. When being told, Mataji said: "This body also had the *kheyāla* that his death was sudden." The Maharaja had been ill for some time. Already when Ma was in Gwalior last April he was bed-ridden due to heart trouble. It was not unknown to Mataji that even then anything might have happened at any moment. But at the time of the consecration of the temple and during Mataji's visit this would have been very painful indeed. We therefore were firmly convinced that the Maharaja would get over the crisis.

He had not been connected with Mataji for long. Even in that short time everyone came to appreciate his gentle and straight forward personality. It was really surprising to see his deep devotion and faith in Mataji. Maharani Vijayaraje was herself marvelling, as the Maharaja had never before bowed to any *sādhu* or *mahātmā*, neither had he shown any interest in spiritual things. But towards Mataji he behaved like a little child. We feel sincerely grieved at the Maharaja's passing away. It is as if one of our own people had left us. God's inscrutable dispensation is beyond our grasping capacity. In her great anxiety the Maharani had again and again sent messengers to Poona soliciting Mataji's blessing. Ma's *līlā* is beyond the ken of human understanding.

Bangalore, 18*th July*, 1961.

Today Mrs. Feroza Talyarkhan came to see Mataji. She is a disciple of Sri Ramana Maharshi and singly devoted to Mataji. She has for many years lived in Sri Ramanashramam in Tiruvannamalai. When Mataji visited South India in 1952 together with Sri Haribabaji Maharaj and Sri Avadhutaji, Mrs. Talyarkhan took great trouble to make arrangements for Mataji's stay in several places. Today she brought the Chief Minister of Mysore and his wife for Mataji's *darśana*. In the course of the conversation Mataji said: "Just as the cow absorbs all the dirt of her calf into herself by licking it clean again and again, so also God removes the faults and shortcomings of His children and makes them pure and holy. Try to engage in selfless service with utter purity of heart."

Then again Mataji said: "Endeavour to remain immersed in God's name as much as ever possible. Just as when you have a friend in the world you can pour out your heart to him, so, if you establish a contact with the Supreme Friend, He will reveal His real Being to you. When you see the waves of the sea will you refrain from bathing? In the midst of the tempests and difficulties of worldly life try at all times to sustain His remembrance and the repetition of His name."

Bangalore, 19th July, 1961.

This evening Kohinurda took Ma in his car to see Bangalore. While driving, Mataji said: "The atmosphere of this place is very good, one feels at peace. The expression on people's faces is beautiful and the trees look fresh and green." Mataji much enjoyed seeing Lalbagh. Bangalore is really a wonderful city, its natural charm is quite outstanding.

During the *satsang* at night, Mataji said: "He, the Self, the Mother, having permeated everything, He remains, He IS. When man calls out to Him with desperate yearning the One becomes revealed. A mother knows when her child cries from his heart and then she leaves her work and hurries to her darling."

About the World-teacher and the bestowal of power by the Guru to the disciple, Mataji said: "A World-teacher is one in a billion. Who is a World-teacher? He who redeems the world. When an ordinary Guru gives a mantra no transference of power takes place. Yet, the mantras revealed by Rishis who were seers of mantras, have come down to us through the lineage of Gurus and therefore contain power. Thus the mantra that has been communicated to you is a vehicle of power. Depending on one's innate disposition this may develop. And where power has been bestowed, there a contact has been established. However, even without initiation by mantra the Guru's power can be communicated."

Bangalore, 20th July, 1961.

This evening during the *satsang*, Mataji gave the following reply to a question: "*Prārabdha Karma* has to be enjoyed and suffered even by a *Jivan Mukta*, but it is not the same as in the case of the ordinary person; it is comparable to an electric fan that goes on revolving for a short while even after the switch has been turned off. The fire of Supreme Knowledge consumes the *Prārabdha* as well as the *Sanchita Karma*. If it can burn up everything, why not the *Prārabdha* as well ?"

Later Mataji said : "God the Spirit is a concrete eternal Presence. You are, indeed perishable. Where birth and death is, there is spiritual aspiration and the desire for fulfilment. *Sādhanā* should take one beyond the fulfilment of want. Where the eternal concrete Presence is, there nothing is perishable. (*na Iṣṭa*) Can the pilgrimage to God be undertaken against His Will ? The question you asked is also an expression of His Will. Your question and its reply are tools in God's hand. He Himself is the solution and the non-solution. To believe that God is far away causes evil-mindedness, misunderstanding and distress. The means to destroy these is the contemplation of THAT which Is. The death that is the outcome of desire and passion must be made to die. For if you leave this world with a return ticket you have to come back again. When by some special good fortune the death of death is achieved, then you who are pure, enlightened and free will stand revealed.

"The hour that is gone returns not. A man is one who has become fully conscious. Don't waste invaluable time, don't be a Self murderer, but realize your Self, the *Ātmā*. Try to discover in yourself the eternal servant of the Lord. Find out that the paths of knowledge, devotion and service are one. All names are God's Name and at the same time He is nameless and formless. When one arrives at the end of the worship of any particular form, one comes to see that all are one. Man and woman are equally capable of Realization. It is man's duty to use to his best the rare boon of birth in a human body, or else there is further incarnation and death."

On July 24th Mataji is expected to leave for Calcutta. The devotees of that city have voiced their special request to have Mataji in their midst on *Guru Purnimā* day.

Vrindaban, 25th August, 1961.

Mataji has come here for *Jhulan Purnimā*. Today her new house was inaugurated. The Rani of Mandi built this house for Mataji in the Ashram grounds. The Raja and Rani of Mandi with their sons and daughters have arrived for this occasion. Since dawn *kīrtana* has been kept up without interruption. Mataji entered the new house together with the Mandi family. Then Swami Paramananda, Swarupananda and all the other *sādhus* and myself followed. I did *pujā* in Mataji's room. Before the yajna was completed, Sri Haribabaji Maharaj, Sri Prabhudatta Brahmachari, Sri Chakarpaniji, Sri Sharananandaji; Sri Vishnu Ashramji and other Mahatmas visited the new building. Mataji and all of them sat in it for some time. The *sādhus* were presented with fruits and clothes and some of them took their meal in the Ashram.

Dehradun, 4*th September*, 1961.

The day before yesterday Mataji arrived here from Hardwar and today she is due to leave for Delhi.

A Punjabi devotee, the retired Railway Engineer Sri Rupchand Sood built a beautiful large house for his family and himself only a very few years ago. It is situated near the Jakhan Mandir, half a mile below the Kishenpur Ashram and commands a wonderful view over the surrounding hills and over the Doon valley. It is equipped with all accessories as well as a garage and in the midst of a large fruit and flower garden. A short time ago the gentleman offered his whole property at Mataji's feet. Having no heirs, it is his wish to spend the rest of his life as a *vānaprasthi* in the same house. It has now been called : "Sri Sri Ma Anandamayi Sadhan Ashram."

Today Mataji was present at the opening ceremony of the new Ashram. The girls of our Ashram recited the *Bhagavad Gitā* and sang *kīrtana*. How happy Sri Sood is today ! At long last the desire of his heart has been fulfilled.

In the evening Mataji left for Delhi. Sri Aga is nowadays Inspector General of the Railway Protection Force. He and his wife came to Dehradun for Mataji's *darśana* and took her to Delhi in their saloon.

New Delhi, *5th September*, 1961.

This morning Mataji reached the Delhi Ashram. In the evening Srimati Indira Gandhi came to see Mataji. When Mataji was here a fortnight ago Indira had wanted to pay a visit to Mataji, but could not find the time. Thus, when she heard that Mataji had arrived here she came at once. After seeing Indira alone for some time, Mataji called Pushpa and asked her to sing two songs to Indira. Nobody was present except the three of them. Indira remained for quite a long while until at last she did *praṇāma* and took leave from Mataji.

New Delhi, *8th September*, 1961.

Today is the anniversary of the death of Indira's husband, Sri Feroz Gandhi. At Indira's request Pushpa, accompanied by Shanta and Kamal Brahmachari went to the Prime Minister's house to sing religious songs. Mataji said to Pushpa : "Certainly go to Indira Ma's house. To bring joy to people by singing the praises of God is the greatest service." I was told that Indira was much impressed by Pushpa's songs that day.

In the course of the conversation Mataji related that when she came to Dehradun for the first time and stayed in Anand Chowk, Pandit Nehru's wife, Sm. Kamalaji used to come to Mataji very often. She could meditate with great concentration. Mataji told us that Kamalaji would even have visions of Sri Krishna during her meditation. She used to spend whole nights with Mataji and at 5 a. m. sharp leave for her home. Sometimes she would come in the morning with a tiffin carrier full of food for her husband

and leave punctually in time to bring him his lunch. Later when Sm. Kamalaji lay ill in the Bhowali Sanatorium, Mataji went to see her on her way to Almora. Since Kamalaji was seriously ill, the nurses tried to prevent Mataji from going near her. But Kamalaji said, if they did not allow Mataji to see her, her health would deteriorate still more and she would also feel very dejected. On her way down from Almora, Mataji paid another visit to Kamalaji. This was their last meeting. A short time later Kamalaji was taken to Europe for treatment and she never returned from there. Before passing away, she gave to her daughter Indira the *mālā* (rosary) which she had received from Mataji. Indira is preserving it to this day with great veneration. She had also got a pillow and a bed-cover that had been used by Mataji.

Phonetics of Infinity

D. S. Mahalanobis

"In the beginning was the Word, and the Word was with God, and the Word was God." When we come across such a statement, we, at this distant date, hardly can realize what it really means. If we want to put sense into it, we may at best regard it as a theological metaphor rather than anything of value as a truism. It, however, had a far greater significance anciently than we can discern today. We must remember that this term, Word, was anciently current in the Scriptures of many countries, where it referred to kindred systems of Thought though with varying psychological emphasis in different regions and aspectual conceptions. Perhaps its Indian synonym *Vāk* or *Śabda* had attained greater heights of subtlety in its wider application in the psychic field. In India, several sizable volumes of technicalities had grown around it in the mystic and yogic literature, which is too abstruse for discussion in a cursory manner. We need not go into the rationale of all those psychic experiences unfamiliar to modern thought. Let us try to understand some of its bearings.

How do we apprehend the objective world ?

It happens during instantaneous transfer of energy. External objects throw out sense-stimuli, which come through to our mind relayed by the external sense organs. These stimuli are, in essence, determinate energy of five specific kinds known technically as *śabda*, *sparśa*, *rupa*, *rasa* and *gandha*. They, under psychic control, converge upon the mind-stuff so as to reproduce in it a pattern of the transmitting object. The Ego transmits a personal image of this pattern to consciousness or Self. We perceive this as the objective world. The mind-stuff, according to the ancients, is nothing but an extremely rarefied material known as mental sky or etherial space-substance of a very subtle kind. Where is there space in our brain, one may ask, to contain the mental ether ? The fact is, the whole brain is filled with it, just as the external world is steeped in cosmic ether. The grey matter of the brain is a highly delicate plastic structure capable of setting up motion-patterns in mental ether, when stimulated. This refined material of the mind, moulded by the incoming sense data, becomes objectified as it were, to the shape of the transmitting external object and the object comes into our cognizance. This is called knowledge by identity, according to the ancient psychologists; for, in the process of knowing, the mind identifies itself with what is to be known, as if by taking its shape. And the greater the identity the more fully do we perceive its objective features. This is conceptual identity.

What we perceive as objects are, therefore, patterns or motion-forms of our own minds, that is, ideas. The external objects, in sending out stimuli, vibrate—we may say articulate,—through them their own names as it were, in definite patterns. To us these micro-vibrations are silent articulations by the objects, if we may call them articulations. The mystics, however, designate them as ideas or 'words'. These, they say, are the true 'words'. If we can utter them, that is, vibrate the media, precisely as the objects do, with the right pitch, amplitude, timbre, etc. we are told, we can reproduce the objects themselves externally. It seems to mean in effect that, if we can reproduce by articulated sounds the complicated motion-patterns inherent in the shaping of, and keeping in shape, the objects, we can create the objects themselves. We cannot of course. Nevertheless, someone can, perhaps Nature, or God. Here begins the true story of the WORD, *Śabda-Brahma*, and of 'words'. True, God will not utter like us. Utterance requires ideation first, and ideation in this case, is tantamount to utterance, for ideation creates an ultra-sonic motion-image in the mind, i. e., in the Cosmic Mind, which is objectively viewed by the ancients as our external ether called by us sky. Hence, ideation is ultra-sonic sound too, i. e , original sound due to formulation of infinitesimal forces in the mind of the cosmic Being or of the individual. Our ideas too, are all sounds in the same way, in our minds. If there were a subtle being in our mental sky, he could see these ideas as objects.

Modern psychology does not recognize mental ether, nor has science discovered physical ether either. But, something akin to physical ether, call it time-space if you are an Einsteinian, is recognized. Most mental phenomena today are still a mystery to the psychologists of our day.

We have seen how we cognize the outside world as ideas in our minds. This is induced ideation – by the Cosmic Mind. We can ourselves think of an object and set up a micro-motion form in our mental sky. That would be a step towards creative ideation. It is true however, that man never can create new ideas. What he can do are permutations and combinations of the existing ones in the world, that is, in the Cosmic Mind. But we can transmit these ideas through external ether directly to another mind, as is done in telepathy[1]. The Cosmic Mind obviously can do the same thing in a far better way. It can and does create forms in physical ether and makes them concrete and vivid enough for us. We need not get shocked if someone now begins to think of the objective world as ideas in the Cosmic Mind.

What is this Cosmic Mind ? Subjectively, it is Cosmic Consciousness; objectively, it is *ākāsa* or cosmic ether, known to ancients as the WORD or SABDA-BRAHMA. We may now try to evaluate the inherent sense in the famous citation: "The Word was with God, and the Word was God."

Different schools of thinkers agree that the world has evolved out of the Word or Logos, The mystics studied it from a different standpoint too. It is a study of the laws of phonetics that operate behind the infinite variety of sounds in nature, audible or inaudible.

We all know how words are formed by the letters of an alphabet. The Indian alphabet consists of fifty letters, that is to say, these letters together with their phonetic variations represent even sounds we never utter. The phonetic units are energy-components called *kalās*. It means that *kalās* of different phonetic values exist to give shape to any verbal or material form. These forms are, therefore, 'words' whether we have them in use or not. And in our conventional langu-

---

[1] Cf. "In his presidential address delivered before the Society for Psychical Research in 1936, Professor C. D. Broad discusses the problems raised by telepathy How does telepathy work? That it is not a physical process akin to radio transmission is obvious; for the strength of the messages does not diminish with distance. After discussing various other alternatives, Professor Broad concludes that it is probably necessary to postulate the existence of some kind of purely mental medium, in which individual minds are bathed, as in a kind of non-physical ether !"

—Aldous Huxley.

-age phonetic words are nearly non-existent, words which truly represent their counterparts, i. e., objects, in the phenomenal world. The WORD is the archetype; it is the indistinguishable blend, i. e., matrix, of all the *kalās*. We may try to think of another crude blend, that of colours in the sunlight, for an analogy.

VIBGYOR[2] is a word; it also is an energy, the energy of sunlight. We may make a quiverful of words out of these seven letters of Vibgyor, in combinations of two, three, or by taking some letters more than once. Even such words, one can see, will represent forms of energy traceable to more sunlight. The sunlight, we know, is a vibrant energy. These vibrations of different wave lengths are not only colours, but, as a matter of fact, they are microsounds too, although none can hear them. Vibgyor is the genetic source, the matrix; all other words formed from it are its derivatives. They too, may therefore, be regarded as forms, sounds, or energy, as we please to call them in different contexts, The WORD, however, is not so artificial a thing. The analogy is a mere kindergarten toy-thing. It is not a true comparison, since Vibgyor is not a true word phoneticized to the resonance of sunlight. None the less, we may now realize why the ancients called the WORD an energy, which, we know, is 'primal energy', and the fifty letters of the Indian alphabet represent only a pragmatic basis of expressing "THAT which is beyond expression". The Word or the mystic sound associated with *ākāsa* represents the manifested Unity, *sphoto*, of the unmanifested Absolute. This Unity however, is the unity of the manifold continuum of undifferentiated *kalās* which have unlimited possibilities of expression in infinite forms. The *kalās* when differentiated are irreducible units of sound-and-energy. They may, by varied simple or complex combinations, form all kinds of ideas or objectified forms which we call things.

---

[2] VIOLET, INDIGO, BLUE, GREEN, YELLOW, ORANGE and RED—spectra of the sunlight.

Sounds exist, the mystics say, in different planes—'silent' and audible sounds. The sound we utter or hear is on the lowest plane. It can be exalted, like a vector, from its lower magnitude to a higher one, through a higher psysic transit plane, to a plane of the third degree. It then acquires a transposed value, which is a tremendous psychic force. Lifted to the fourth higher plane by further awakening of the secret power, it transcends the limitations of the created world and reaches beyond the limit of *ākāsa* and necessarily of sound. Sound and motion are figures of the form world. Hence beyond *ākāsa* is the realm of the Formless, of the Absolute Silence.

Words have, on this principle, been classified under four categories, viz., *Vaikhāri*, *Madhyamā*, *Pasyanti* and *Parā*, which may be rendered as articulate plane (material), intermediate plane (psycho-physical), clairvoyant plane (psychic), and supra-mental plane (transcendental) respectively. On this basis words are regarded as energy-concentrations of different degrees appropriate to their plane of existence between the material and the transcendental.

Let us try to understand this classification objectively. What we call sound is a "sequence of rapidly alternating compressions and rarefactions of the air," that is to say, vibrations of air molecules at different frequencies. We, however, cannot hear vibrations of all frequencies. The human ear is sensitive to all waves of frequencies between 16 and 38,000 per second (Helmholtz). The audible range may be still narrower for many people, approximately between 20 and 22,000 vibrations per second (Stout). It is thus evident that we cannot hear very weak sounds nor those of higher pitches above the upper limit. Molecular vibrations may, therefore, be infra-sonic, sonic, and supersonic. The frequencies of molecular vibrations cannot, however, be increased indefinitely. As soon as we reach the thermal vibrations of molecules, we get to the upper boundary of the supersonic sound. Sound then begins to damp, more slowly, of course, in liquid and solid bodies than in air. Molecules cannot vibrate at faster frequencies. All sounds in this gross category—infra-sonic. sonic and supersonic, refer to molecular motion. Sub-molecular micro-particles, such as atoms, electrons, photons, etc.. also have high frequency vibrations, which are inaudible of course. They are all material particles, and emit micro-sounds. This material group of sounds—molecular and submolecular, belongs to the *Vaikhāri* category.

But, where does the *Vaikhāri* come from ? Ancient authorities tell us that the source of all energy is in the Unknown, from where it descends world-ward into creation. Its subtlest formulation is on top, and the grossest is on the plane of matter, which we have called *Vaikhāri*. Between these two extremes there are two other cognizable gradations namely, *Pasyanti* and *Madhyamā*, the former more rarefied than the latter, as it ought to be in its transition towards grossness. Energy, however, is not uni-directional like time in modern conception. If it can descend from the top, it can as well return to its original status in a reverse process to that of descent, that is, the grossest stuff can revert to its subtler states by gradual rarefaction on its back journey from one plane to another.

The next higher plane above *Vaikhāri*, as we now know, is *Madhyamā*, an intermediate gradation between *Vaikhari* and *Pasyanti*. *Madhyamā* being a transit plane, characteristics of both *Vaikhāri* and *Pasyanti* are sparsely present here. This mid-way plane is subtler than the *Vaikhāri* of course, and is resonant with ultrasupersonic sounds, that is, subtler sounds than those on the *Vaikhāri*. Micro-sounds on this plane are due to very high-frequency vibrations of smaller infinitesimals than the sub-molecular particles of the *Vaikhāri* group. Modern science knows nothing of these ultra-rarefied regions since it is beyond the range of mechanical observation and experiment.

Above the plane of *Madhyamā* is the clairvoyant plane of *Pasyanti*, which is the limit of cosmic *ākāsa* in its most rarefied form and of sound, since no sound can exist independently of *ākāsa*. Hence *Pasyanti* is the sphere of subtlest sounds, which are known as *nāda*. Higher frequencies of vibrations cannot be attained, higher than those on *Pasyanti*, for infinitesimals will then break up and revert to their original non-corpuscular status, which is beyond the perceptive range of mind.

The region beyond *Pasyanti* is known as *Parā*, where no sound nor form can exist. It is evident, therefore, that there can be no 'word' or *Śabda* in this sphere. In *Parā*, the WORD, *Śabda-Brahma*, the archetype on top, has no discrete existence. It has its being in the Absolute, which is unknowable to us by any ordinary means. The only relation that is possible for the initiate to have with these high planes is through psychic awakening. Even then *Parā* is hardly reached in the course of eons.

How do we, one may ask, then put ourselves in touch with the upper levels of existence ? *Vaikhāri* is the stepping stone, which may be used as a lever if one were keen enough to do it.

Do we not put our mental and physical forces into our utterances ? They carry mainly kinetic, and a weak charge of psychic, energy from us. The psysic force remains practically ineffective in them. We rightly treat them as commonplace words or conventional symbols. On the three other planes, that is, higher *Vaikhāri*, *Madhyamā* and *Pasyanti*, words are not uttered by our vocal organs. They are articulated silently by subtle forces playing in us from the psychic centres. As each plane is left below in the ascent, more and more dynamic forces are concentrated in them. At the last plane enormous psychic power is accumulated, enough to pair almost with Supra-menṭal energy on the creative level. This needs exceptionally arduous training of the initiate to put him on the course to success. Even then few can ascend so high in a life-time or two.

To the uninitiated this claim would appear as a mere cock-and-bull story. The mystics however, tell us that there are secret phonetic laws. Guided by them, the initiate learns to articulate the phonetic formulas or *mantras* under adepts. Step by step psychic forces get released, and articulation is taken over by these awakened forces, with the disciple co-operating. Stages are reached when the plenary Power level of the WORD is opened up and subtle forces come into play.

Miraculous happenings may now occur. These are the accepted signs to judge progress.

Whatever the intrinsic value of the *mantras* and of their phonetic laws, it is true that their ascetic practice develops in disciples extraordinary psychic powers. It may turn out on investigation that the mystic *mantras* are nothing but chosen codes or formulas of high auto-suggestive values. Nevertheless, the results are undeniable. The ancients explain that, since the world has evolved out of the WORD, there can be a return by the same way for anybody who has the right makings in him to try according to laid-down laws. It is a training to overcome our physical limitations with the help of *mantras*, to be articulated under rigorous conditions.

Let us look up at these facts a little more circumspectly. The mystics want us to trace back the WORD from its material plane up-ward. The ancients had also tried to trace their descent from the other end. We now know from either source that the phenomenal world is the product of a single energy, the stuff of our consciousness, grossened by gradation into the inconscient material of our universe. It is necessary to remember here that the stuff of our consciousness and that of the Supra-mental Consciousness are not the same in refinement and subtlety, though they are kindred and comparable.

If the WORD is a form of consciousness, it must exist in some mind. We may call it Supermind. The objective world can then be only its ideations—in the mental ether, degraded to material ether gradually. The scientists objectively figure them in their positivist way, and hope to cover them as "changes in the structure and concentration" of the ether field or time-space continuum. The mystics call them ideas.

The energy of the ultra-sonic sound, i. e., mystic sound, from its primal state of the WORD, is gradually deprived of its psychic effectiveness by involution. That is how grossening occurs. The Seer-phoneticians divide these gradations into three levels—*Pasyanti*, *Madhyamā*, *Vaikhāri*, as we have seen—as a practical measure. And naturally enough 'words' or *Śabdas* on each plane are of different potentials. At the summit is the WORD; and down below is our objective world of forms. The summit plane is that of the *Pasyanti*. Beyond it is the unmanifested transcendental region called *Parā*. Plato's theory of Ideas seems to echo the same thought too, and we may have to trace it back, for its better understanding, to these Indian sources. Let us quote two excerpts from Swami Abhedananda's "Our Relation to the Absolute", in this connection :

"So what you see today in the universe, the earth, moon, stars, planets and everything, are nothing but the materialization of the finer thought forms which existed in the Cosmic Mind from the beginningless past. Those are the Ideas of Plato, pure Ideas. These pure Ideas existed externally in the past and will exist eternally in the future as patterns in the Cosmic Mind.

"You have seen a red, white, or black man, but you have not seen a perfect man. That perfect man is in the mind of the Cosmic Being. It is a pattern, a thought form. That will never come down to this plane; but we are approaching that pattern and trying to become perfect, and that is what we expect to be doing on this plane. We may not ever be able to reach it, but our attempt is to manifest that pattern on this plane, and Christ is that type. It is in the Cosmic Mind, that is the same as Logos, the same as the Word. 'In the beginning was the Word, and the Word was with God, and the Word was God.' That word was Logos, the perfect man in the thought pattern in the Cosmic Mind."

———

Modern Science and Indian Philosophy

DR. B. L. ATREYA, M. A., D. Litt. PADMABHUSAN

(II)

Psychology :

Indian Philosophy has always depended upon psychological investigations and has advanced as psychological investigations advanced. The various systems are simply based on the various conclusions arrived at by different investigators with regard to the nature of consciousness and its relation to the world of objects. The entire structure of Samkhya and Vedanta is based on the analysis of experience on its various levels, waking, dream, sleep and mystic vision. So there has been a very close relation of Psychology and Philosophy in India. It is rightly so, for it is in man that we know more of reality than in any other thing in the world. A philosophy which leaves any aspect of reality revealed in man un-noticed and unreconciled must remain an incomplete philosophy. So psychology, as a scientific investigation of man's consciousness and behaviour, is a great feeder for philosophy. Since the dawn of the present century psychology has made tremendous progress and has discovered many interesting and startling facts about human nature. It is impossible to make a mention of them all here. I will content with a typical few of those which have direct bearing on philosophy and with which the conclusions of ancient Indian Psychology that forms an integral part of Indian Philosophy must be compared and checked.

Indian psychology of sense perception, will do well to compare notes with modern psychology of perception. Modern psychology has discovered that we have a much larger number of senses and sensations than the ancients knew. Over and above the traditional five senses (ear, skin, eye, tongue and nose), giving us the five traditional sensations (sound, touch, form, taste, and smell) we have the senses which produce in us the sensations of equilibrium, hunger, thirst, temperature, pain, and strain. Sense-receptors for these sensations have been found to be separate and distinct from those which cause in us the traditional five sensations.

Indian epistemology and psychology are mostly realistic, the exceptions being the idealistic schools of Buddhism and Vedanta (*Yogāchāra* and *Yogavāśiṣtha*) which are more or less idealistic. But it is very interesting to note that modern psychology supports a subjectivistic epistemology rather than a realistic one. The world as we know it is almost wholly built up of sensations. The nature, quality, intensity, extent and duration of sensations are almost entirely dependent upon our brain and nerve-mechanism (i. e. subjective conditions). The world outside us, i. e., apart from as we perceive it, is nothing but a world of waves of energy of different lengths and frequencies. The two are as dissimilar from each other as any two things in the world can be. Our picture of the world is so different from the real objective world that it is wrong to consider the former as a mere copy of the latter. We shall quote a few relevant passages in this connection from a text book of Psychology. "The qualities of experience are basically the result of certain special and localized activities in the brains, different qualities would make up our experience." (Murphy: *A Briefer General*

Psychology, P. 117) "Any kind of stimulus that will get action from the visual centre of the occipital lobe will get visual action" (*Ibid*, p. 117). As the quality of a sensation depends on the specific energy of the brain and the nerves, so also the intensity of sensations depends on the number of the nervefibers excited by the stimulus and on the frequency of impulses passing along the nerve fibers. "What we call in psychology the intensity of sensation is due largely to the number of impulses passing along a fiber or team of fibers" (*Ibid*. p. 115). Further, "Our muscular adjustments impose a spatial character upon what we perceive with our eyes and our skin" (*Ibid*, p. 113). It may, again, be pointed out that with each sense datum at a particular time is blended some other which is of purely subjective origin and in no way an effect of the stimulus affecting our nerves at the time, such as experienced in hallucinations, dreams and hypnotic trance. The curious phenomenon of eidetic imagery is an indication that sense imagery can be completely created by the percipient. It seems, therefore, that we are, in a way, creators of all our sense-data. We further modify them in perception. Not only that we select, isolate and regroup them, but the perceptual synthesis also "seems to alter the characteristics of the sensory elements so that they are no longer the same things that they would be if they existed isolated from one another" (*Ibid*, p. 181). So Patrick rightly says, "We see things not as they are but as we are." The world of each of us is a private subjective experience having certain common points with those of others.

Recent investigations in abnormal and medical psychology throw a flood of light on the nature of the (empirical) self and on the nature of consciousness, with which Indian

Philosophy is very much concerned. A great mass of evidence now tends to establish that the self (personality) is a complex organization (*skandha*) which can be weaker or stronger at times and which can be disorganized and shattered to pieces. Within the same body, more than one selves can function independently of each other, either simultaneously or alternately. In the same body there may occur a complete transformation of the self, either gradually or suddenly, to the extent of a complete loss of identity, as happens in a disease known as fugue.

Man's drives, motives, interests, feelings, emotions, memory, and thinking etc., which were formerly regarded as the attributes and activities of the soul in some Indian philosophical systems are now being accounted for in terms of glandular, nervous, or unconscious mental activities. Almost all conscious and subconscious activities of the mind are nowadays found to be so much correlated with and dependent upon the brain and the nervous system that it has rather become difficult to imagine how the former can exist or function without the latter. Continuity of the self after the death of the physical body and rebirth of the personal consciousness have, therefore, become well-nigh unthinkable on the evidence of modern psychology. Indian philosophy has to find some stronger evidence if it is to retain these two theories about the soul.

The remarkable discoveris of Mesmer, Janet, Prince, Freud, Adler, and Jung about the structure and function of the human mind have created a revolution in almost all departments of human thought. Indian philosophy can no longer afford to remain negligent. Philosophies, according to Freud, are nothing more than creative expressions of wish-fulfilment, "rationalizations of our wishes than products of our reason," mere escapes from the actual struggle and conflicts of life. All the higher values are explained by him in terms of the primitive instincts, unconscious, and repressed sex-urges. All that was formerly regarded as coming from above, i. e., from the super-conscious or super-mental strata of our being is now considered as springing up from the unconscious which is below the level of logic and reason. We have to correlate the Freudian point of view with the Indian, and there is plenty of place in the latter for the former. Our concept of the Kārana Sharīra (causal body) has very much in common with the Unconscious Mind of Freud. Freudian determinism and dynamic nature of mind can be very easily reconciled with the Samkhya and Vedanta conception of mind as *prakriti*, *avidyā*, *ajnāna* and *shakti*.

Recent psychological investigations have revealed some very startling facts about human intelligence, and the most important of them appears that the intelligence quotient of each individual is more or less a fixed quantity with which he is born and which can little be improved by individual effort or environmental changes. "There is", writes Garret, "considerable evidence in favour of the view that intelligence is inborn, inherited after much the same manner as physical characteristics." "Some people are better equipped mentally than others", (*Great Experiments in Psychology*, p. 24.) He further says, "If, as seems highly probable, intelligence is largely determined by native factors, it follows that the I. Q. (assuming it to be a fair measure of mental ability) should remain constant throughout life. Many recent studies have demonstrated that this is substantially true" (*Ibid* p. 28)

This smells of fatalism and has a great bearing on the problem of 'effort versus destiny', which is quite a serious problem of Indian philosophy.

Recently there have been many attempts to approach the mystic or religious experience psychologically and Indian philosophy should be interested in these studies. Leuba, for example, has come to a very decisive conclusion that the mystic trance does not differ in its nature from any other kind of trances induced by drugs and other means. "The truth-kernel of religious ecstacy", writes Leuba, "is no other than the truth-kernel of narcotic intoxication and of ecstatic trance in general." (Leuba : *Psychology of Religious Mysticism* p. 309). Freud remarks about mystic visions in a similar way, "It is merely an illusion to expect anything from intuition or trance. They can give us nothing but particulars, which are difficult to interpret." (*The Future of an Illusion*. p. 35), The mystic experiences have been the greatest assets and sheet-anchors of Indian Philosophy. Their validity and implications have once more to be examined with the assistance of modern psychology which approaches them in an unbiased and unprejudiced manner. We cannot shut our eyes to its verdict, however perverse it may at first sight appear to be.

PSYCHICAL RESEARCH—No philosopher worth the name can now-a-days afford to neglect the astounding discoveries of modern Psychical Research, one of the youngest, yet the most important of all the sciences. Tyrrell in his excellent work, *Science and Psychic Phenomena*, has rightly said, "No one whose interest is in the large and important things of life, who wishes to know what manner of being he is, what kind of world he lives in, how far the discoveries of science are to be accepted as final truth, where religion stands in the scheme of things and what reaction these other facts have on it, can afford to neglect psychical research" (p. xiii). "It is the only science which penetrates deep enough into human personality to shed a light on those urgent problems, which so for have oppressed and eluded us" (xii) "Psychical research lies at the meeting point of three great departments of human thought, Science, Philosophy, and Religion; and the matter it deals with has a vital interest for all the three" (p. xii). Most of the great contemporary thinkers of the West keep themselves in touch with it. It is very unfortunate indeed that we in India are very little acquainted with this great movement which has revolutionised the philosophical outlook of the West and is bringing it nearer to that of the East.

What then is Psychical Research and what are its important discoveries ? It was felt towards the close of the last century that there was a need of investigating scientifically some odd happenings of human life which were reported to be occurring now and then but which defied all scientific explanation in terms of physics, chemistry, biology and psychology. A Society of people trained in scientific method and interested in such facts was, therefore, formed in England in the year 1882 and was called the Society for Psychical Research. Some of the objects of the Society were: "An examination of the nature and extent of any influence which may be exerted by one mind upon another, apart from any generally recognized mode of perception; the study of hypnotism and forms of so called mesmeric trance......clairvoyance and other allied phenomena; a careful investigation of any reports, resting on strong testimony, regarding apparitions at the moment of death or otherwise, or regarding disturbances in the houses reported to be haunted; an enquiry into various psychical phenomena called spiritualistic, with an attempt to discover their causes and general laws."

Ever since its inception, the Society has been doing splendid work in the strictest possible scientific manner and has its branches almost all over the world except India. A vast and valuable literature describing and discussing its discoveries has come into existence. These discoveries are many and startling, and have far greater bearing on philosophy than those of any other science. We have no time to give a detailed and exhaustive description of the achievements of Psychical Research. We shall here refer only to some of them and to those which have been established beyond any doubt and are admitted as facts by well-known scientists. We shall better quote some well-known authorities and workers in the field. Having worked vigorously and with strict scientific vigilance and strictness, Prof. Richet, a Professor of Physiology at the University of Paris, concluded, "Cryptesthesia, telekinesis, ectoplasm and premonition seem to me founded on granite; that is to say, on hundreds of exact observations and hundreds of rigorous experiments.. The thing is a certainty...... There is a faculty of cognition that differs radically from the usual sensorial faculties (Cryptesthesia). There are even in full day light, movements of objects without contact (Telekinesis). Hands, bodies and objects seem to take shape in their entirety from a cloud and take all the semblance of life (Ectoplasms). There occur premonitions that can be explained neither by chance nor perspicacity and are some-times verified in minute detail.

Such are my firm and scientific conclusions" (*Thirty Years of Psychical Research*, p. 599). Prof. William McDougall, the well-known psychologist and philosopher, wrote. "In my view the evidence for telepathy is very strong........ In my opinion there has been gathered a very weighty mass of evidence indicating that human personality does not always at death wholly cease to be a source of influence upon the living. I hold that a case has been made out for clairvoyance of such strength that further investigation is imperatively needed; and I would say the same of many of the alleged supernormal physical phenomena of mediumship". (*Religion and Science of Life*. p. 80) Prof. Hans Driesch, the famous biologist, who has also devoted his valuable time to Psychical Research, writes, "The study of psychical research is on the right path, and is being pursued in a most critical manner" (*Man and the Universe*, p. 93). "We have spontaneous telepathy as a quite certain fundamental phenomenon...... Quite certainly established, further, is thought reading...... To unprejudiced observation clairvoyance certainly appears at first sight to be present...... but perhaps it was nevertheless all due to telepathy. Psychometry is, *prima facie*, a fact. Prophecy is highly probable" (*Psychical Research*). Recent experiments at the Duke University, conducted by an able biologist Dr. Rhine, have established the faculty of "Extra Sensory Perception" beyond doubt. Dr. Rhine writes, "Extra Sensory Perception is an actual demonstrable occurrence" (J. B. Rhine : *Extra Sensory Perception* p. 222). "E. S. P. is not a sensory phenomenon". (*Ibid* p. 223) It is "fundamentally different from sensation" (J. B. Rhine : *New Frontiers of Mind*, p. 144). And "it seems to be a fairly dependable and persistent capacity, when it is given proper conditions for its functioning". (*Extra Sensory Perception*, p. 220). Carrington, another great authority on Psychical Research, says, "There is a strong evidence tending to prove survival (*The Story of Psychic Science*, p. 324.) Such quotations can be indefinitely multiplied. They all convey to us a feeling that there is much more in life and the universe than all our well established sciences and philosophies know.

A serious attempt at comprehensively understanding life and the universe cannot, therefore, afford to neglect the facts discovered by Psychical Research. No philosophy which fails to explain and accommodate these facts is worth the name. The general western outlook on life, which is based on the conclusions of physics, chemistry, biology and psychology, finds it difficult to reconcile with these facts. As Tyrrell has nicely put it, "The scientific examination of psychical phenomena has created an extraordinary situation by introducing a body of well attested facts which will not cohere with the general body of existing knowledge" (*Science and Psychic Phenomena*, p. 152). Carrington, who has devoted his life to the study of these phenomena, also thinks, "If the physico-chemical or mechanistic view of life be true, it is obvious that psychic phenomena of any description can not occur" (*The Story of Psychic Science*, p. 332) "Yet they do exist", "These facts have been established beyond question" (*Ibid*. p. 324). But all these staggering facts fit well in the Indian outlook on life, and are far less strange and astounding than the phenomena which a yogi is said to come across in his upward march of spiritual evolution. But the latter, unfortunately, are generally not investigated experimentally and, therefore, do not possess a scientific certainty for those who have not experienced them. Yet here is a body of facts that have been scientifically established. Hence their great value and importance for philosophy. They not only corroborate and support many doctrines of Indian Philosophy, but also open new vistas of thought before it. Mere *a priori* arguments cannot build a sound philosophy. All *a priori* arguments can be set aside if facts go against them. Scientifically established facts are greatest assets of philosophy, and sciences are the eyes through which all philosophers should learn to see.

To revitalize Indian Philosophy it is thus necessary to bring it in contact with not only the four basic sciences mentioned above but also with such other sciences as anthropology, sociology, philology and astronomy. Indian philosophy will also benefit from a close comparative study of some schools of Contemporary Philosophy based on Modern Science such as Neo-Realism, Logical Positivism, Existentialism, and Semantics. Many of the old notions of Indian Philosophy have thus to be revised in the light of contemporary science and philosophy in order that they may not look obsolete.

On the other hand, there are certain ideas of Indian Philosophy which are of perennial interest, on which scientific investigations should be carried on by scientists in order to test their validity. Some of them are:

1. Yoga or practical methods of widening and perfecting human consciousness.

Indian philosophers have held that by certain moral, psychological, and spiritual discipline and training man can widen and deepen his consciousness and can attain perfection. There is a vast literature on various methods of Yoga, which is supposed to be quite practical. In this age of experimental science, it is very necessary that all the methods of Yoga and their results should be tested properly, and the claims of Yoga, particularly with regard to the attainment of supernormal powers, be properly examined.

2. The four aspects of man, viz., waking, dream, dreamless sleep and *turya* (the fourth state of existence), which is generally called *Samādhi.*

Whereas western philosophy is based on the waking experience of man, Indian philosophy takes into consideration all the types of his experience in formulating the concept of Self and Mind. According to Indian philosophers no concept of human personality, of Self and Mind, can be complete, and therefore correct, without keeping in view all the aspects of human experience, namely, the waking, the dream, the deep sleep and the Samādhi. We have now a well-developed scientific technique to study objectively these experiences; and such a study can help us in understanding man properly.

3. A thorough-going correspondence of principles in man and nature—in *piṇḍa* (microcosm) and *Brahmāṇda* (macrocosm).

Man being a product of Nature, Indian philosophers have held that all the principles, aspects or qualities of nature must be found in man. Whatever exists in the macrocosm (*Brahmāṇda*) must be found in the microcosm (*Piṇda*). It is on account of this belief that Indian philosophers have tried to build a philosophy of the Cosmos on the basis of the understanding of man.

4. The law of Karma.

The law of Karma is a law of cause and effect in the moral and social world. It ought to be objectively studied in social life, in history, and in individual lives in accordance with the scientific methods of observation.

5. The doctrine of Reincarnation.

The doctrine of reincarnation should be tested on the basis of modern psychology and psychical research. There are certain alleged cases of memories of previous births which should be investigated.

LIBRARY
No. . ...
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS.

The Goal of Human Life

Jainath Kaul, M. Sc.

Before we try to discover the goal of human life — what it is and why — and how to reach it, the first question to be answered is : Is there a need to deal with this question at all ? An average person, possessing good health, interested in his professional activity which ensures a comfortable living, and having a loving devoted wife and happy healthy children has neither the time nor the inclination to bother about such abstruse matters. He is satisfied, because his immediate creature needs are met, and finds zest and pleasure in pursuits which bring him well-deserved recognition of his professional skill, a higher social status and greater material comforts. Dabbling in a purely philosophical enquiry like determining the goal of life is to him the luxury of the idle or the pastime of the frustrated — an issue of no practical value.

It is not one or two, but millions who react in this manner. This is because, in their mad and suicidal absorption in the fleeting interests and ephemeral excitements and pleasures of this world, they are in no mood to face the obvious question : what are the conditions which produce lasting satisfaction in life ? Can a healthy man be sure of a permanent freedom from a, fatal and painful disease like cancer ? Can loss of professional skill through an accident, or separation from a deeply loved child through death, be avoided with certainty ? And above all, can any one rule out the possibility of untold suffering in a crippling, dragging and miserably helpless condition in old age leading to a slow wasting away into death ?

None, for we live in uncertainty every moment of our life. Yet, how many there are who try to reflect over these and similar other everyday happenings. Very very few indeed ! This is because of the powerful sway of the divine *māyā* which does not permit men's minds to be drawn towards such fundamental issues. Possibilities of losses of different types, they argue, are a part of the game of life, and there is no need to worry about old age and death because, after all, that is every one's unavoidable destiny, and moreover, one need not bother about it just now in the midst of health and plenty. In any case, since they are to take place in some dim distant future, it is foolish to allow oneself to be robbed of the joys of the present by recalling and making vivid the depressing thoughts of what would otherwise remain a forgotten vague gloomy future. This is the reasoning with which the human mind, working under the spell of His *māyā*, dismisses all earnest reflection over the serious business of human existence.

God is, however, great and, in his *līlā*, he also creates giants — the saints — in His own image, who refuse to act the ostrich which tries to dismiss the danger by burying its head in sand. Protected by His grace, which frees them from the clutches of His *māyā*, they have, from time to time, in different ages, boldly faced these questions, answered them completely and left behind their priceless experiences for the inspiration and guidance of all earnest seekers.

In this article, an attempt will be made to state the problem of life and discuss its different aspects in the light

The Goal of Human Life

JAINATH KAUL, M. SC.

Before we try to discover the goal of human life — what it is and why — and how to reach it, the first question to be answered is : Is there a need to deal with this question at all ? An average person, possessing good health, interested in his professional activity which ensures a comfortable living, and having a loving devoted wife and happy healthy children has neither the time nor the inclination to bother about such abstruse matters. He is satisfied, because his immediate creature needs are met, and finds zest and pleasure in pursuits which bring him well-deserved recognition of his professional skill, a higher social status and greater material comforts. Dabbling in a purely philosophical enquiry like determining the goal of life is to him the luxury of the idle or the pastime of the frustrated — an issue of no practical value.

It is not one or two, but millions who react in this manner. This is because, in their mad and suicidal absorption in the fleeting interests and ephemeral excitements and pleasures of this world, they are in no mood to face the obvious question : what are the conditions which produce lasting satisfaction in life ? Can a healthy man be sure of a permanent freedom from a fatal and painful disease like cancer ? Can loss of professional skill through an accident, or separation from a deeply loved child through death, be avoided with certainty ? And above all, can any one rule out the possibility of untold suffering in a crippling, dragging and miserably helpless condition in old age leading to a slow wasting away into death ?

None, for we live in uncertainty every moment of our life. Yet, how many there are who try to reflect over these and similar other everyday happenings. Very very few indeed ! This is because of the powerful sway of the divine *māyā* which does not permit men's minds to be drawn towards such fundamental issues. Possibilities of losses of different types, they argue, are a part of the game of life, and there is no need to worry about old age and death because, after all, that is every one's unavoidable destiny, and moreover, one need not bother about it just now in the midst of health and plenty. In any case, since they are to take place in some dim distant future, it is foolish to allow oneself to be robbed of the joys of the present by recalling and making vivid the depressing thoughts of what would otherwise remain a forgotten vague gloomy future. This is the reasoning with which the human mind, working under the spell of His *māyā*, dismisses all earnest reflection over the serious business of human existence.

God is, however, great and, in his *līlā*, he also creates giants — the saints — in His own image, who refuse to act the ostrich which tries to dismiss the danger by burying its head in sand. Protected by His grace, which frees them from the clutches of His *māyā*, they have, from time to time, in different ages, boldly faced these questions, answered them completely and left behind their priceless experiences for the inspiration and guidance of all earnest seekers.

In this article, an attempt will be made to state the problem of life and discuss its different aspects in the light of my understanding of the teachings of the great ones, particularly those of our own gracious Divine Mother, Shree Shree Ma Anandamayee, whose unbounded *kripā*, love and protection are the sole refuge of us whom She, in Her infinite mercy, has allowed the unique privilege of discovering themselves as Her own sons and daughters.

The Problem

Now, every one feels the basic urge to get joy out of life. Impelled by this irrepressible need, one resorts, according to one's understanding, to different ways by which joy may be had. The vast majority of people find joy in absorbing and interesting work, in amassing wealth, in having a life partner and chubby loving children. But, as stated above, these things do not produce permanent joy; somewhere, sometime, something does go wrong, and instead of continued joy, one finds oneself in the midst of untold misery. A man may be quite happy by himself. To get joy he gets married. For sometime things may go well, and then, suddenly, he may find one fine morning that his wife has become afflicted with an incurable disease and has to be bed-ridden for the rest of her life. Or, it may be his only son, who had been the source of great joy, but by his sudden and untimely death, the same son is now the cause of irremovable grief. Numerous instances of similar tragedies in life make a mockery of all human attempts to get joy out of life, and yet the seeking of joy continues to be the most dominant urge in each human being.

Again, another basic longing in every human heart is complete freedom from fear. People attempt furiously to avoid fear—fear of poverty, of ill health, of decrepit old age, but no effort seems to lead to a state of permanent fearlessness. And yet, in the heart of hearts, each one of us longs un-interruptedly to be completely rid of fear for all time.

Since the aspiration for unceasing joy and fearlessness is basic to human nature, our intuition tells us that there must be a way by following which these fundamental needs, can be fulfilled. The problem, then, is to find that way which will lead to the attainment of a permanent state of joy and fearlessness — the innate hunger of human spirit.

The Way

Before we try to find the way, we must first attempt to explain why there exists this great contradiction in human affairs, namely that while there is this inherent crying need for lasting satisfaction, all normal attempts at fulfilment only act as palliatives, and never succeed in achieving the goal. From the ordinary experiences of our daily life, we can safely presume that the cause of this grand failure must lie in our ignoring some very important fact of human life. And it is here, when our intellect fails to find the clue, that the really great and revered personalities of all time like Krishna, Buddha, Mahavira, Christ, Mohammad, Shankar, Jallaluddin Rumi, Nanak, Ramakrishna, Ramana and Aurobindo of the past and our own Mother in the present, come to our rescue. They tell us that you cannot achieve freedom from fear and misery without taking into full consideration the fact that man is essentially not just mind and body, but an immortal spirit manifested through a temporary body-mind tenement. And the hunger of which you talk is the hunger of the spirit which can be satisfied of my understanding of the teachings of the great ones, particularly those of our own gracious Divine Mother, Shree Shree Ma Anandamayee, whose unbounded *kripā*, love and protection are the sole refuge of us whom She, in Her infinite mercy, has allowed the unique privilege of discovering themselves as Her own sons and daughters.

The Problem

Now, every one feels the basic urge to get joy out of life. Impelled by this irrepressible need, one resorts, according to one's understanding, to different ways by which joy may be had. The vast majority of people find joy in absorbing and interesting work, in amassing wealth, in having a life partner and chubby loving children. But, as stated above, these things do not produce permanent joy; somewhere, sometime, something does go wrong, and instead of continued joy, one finds oneself in the midst of untold misery. A man may be quite happy by himself. To get joy he gets married. For sometime things may go well, and then, suddenly, he may find one fine morning that his wife has become afflicted with an incurable disease and has to be bed-ridden for the rest of her life. Or, it may be his only son, who had been the source of great joy, but by his sudden and untimely death, the same son is now the cause of irremovable grief. Numerous instances of similar tragedies in life make a mockery of all human attempts to get joy out of life, and yet the seeking of joy continues to be the most dominant urge in each human being.

Again, another basic longing in every human heart is complete freedom from fear. People attempt furiously to avoid fear—fear of poverty, of ill health, of decrepit old age, but no effort seems to lead to a state of permanent fearlessness. And yet, in the heart of hearts, each one of us longs un-interruptedly to be completely rid of fear for all time.

Since the aspiration for unceasing joy and fearlessness is basic to human nature, our intuition tells us that there must be a way by following which these fundamental needs, can be fulfilled. The problem, then, is to find that way which will lead to the attainment of a permanent state of joy and fearlessness — the innate hunger of human spirit.

The Way

Before we try to find the way, we must first attempt to explain why there exists this great contradiction in human affairs, namely that while there is this inherent crying need for lasting satisfaction, all normal attempts at fulfilment only act as palliatives, and never succeed in achieving the goal. From the ordinary experiences of our daily life, we can safely presume that the cause of this grand failure must lie in our ignoring some very important fact of human life. And it is here, when our intellect fails to find the clue, that the really great and revered personalities of all time like Krishna, Buddha, Mahavira, Christ, Mohammad, Shankar, Jallaluddin Rumi, Nanak, Ramakrishna, Ramana and Aurobindo of the past and our own Mother in the present, come to our rescue. They tell us that you cannot achieve freedom from fear and misery without taking into full consideration the fact that man is essentially not just mind and body, but an immortal spirit manifested through a temporary body-mind tenement. And the hunger of which you talk is the hunger of the spirit which can be satisfied and colours — moving as well as static — which no amount of denial by any one, howsoever great, can demolish. We cannot doubt the existence of what is before us, what we are actually experiencing, and accept a statement, which, on the face of it, is not in line with our own direct knowledge. The dilemma we find ourselves in is on the one hand the confident unambiguous declaration of every fully-realized mystic that nothing else exists besides the one un-manifested Reality, and on the other our own everyday actual observation of the clear existence of the manifested multiplicity.

The dilemma can obviously be resolved only if we have the necessary humility to accept the fact that since we do not possess the transcendental experience of illumined souls, we had better put the question to them and decide what to do on hearing their answer. Now, the scriptures as well as the realized saints tell us that what you experience at your level of existence is not the true picture. You, in your present state of development, are an incompetent observer, because your observation is not direct, but through the instruments of the senses and the mind. Just as a man finds the panorama in front of him having the colour of the glasses he is wearing, because his observation is not direct, similarly, the observer, perceiving the outer world through the screen of his senses and mind, and functioning in the context of space, time and causation, is not capable of seeing things as they actually are, and sees an altogether distorted picture, because his observation is not direct.

Now, if this explanation is considered plausible and even satisfactory, it does not help because we cannot get out of what we are, or at least what we feel we are. Our mind and senses are not like spectacles and clothes which we may put on or put off at will. They are an integral part of us — at least that is our actual daily experience. Our first need, therefore, is to be completely convinced that we are, in fact, a separate entity, and our body, senses and mind are actually the instruments through which we get the coloured version of the Ultimate Reality.

The Three States

To understand that this is the truth, the sages ask us to remember that we have three distinct states of known existence, namely the waking, the dream and the dreamless sleep, and it is only when we are awake that we see the phenomenal world. When we are in the dream state, the world ceases, so far as we are concerned, to be the world as we experience it in the waking state. On the other hand, we find that in our dream there is not only an altogether different objective world that has been created, but also a new subject who experiences the dreamy world, and disappears along with it when we return to the waking state.

Now, when we are in the dream state, we are at least not without a world of objects, however fantastic and unreal they may be. But when we glide into the dreamless sleep, even this false temporary phantom of our own creation vanishes, because of the total silencing of the mind's creative functioning. Since we do not know the nature of the mind, we cannot say whether the mind has any separate real existence. It can well be that it has none, and the dreamless state is more representative of the real state of affairs, and that the mind is only a function of the waking and dream states, In any case, what we are immediately concerned with is the location of the individual as separate from his equipment of body, senses and the mind. And we find from our experience of the three states of our existence that though our surroundings and the equipment undergo significant modifications, there is one thing which is ever present and remains unchanged throughout, regardless of the state in which we may be at any particular moment. And that entity can best be expressed by the words "I AM". It is easy enough to feel the existence of this essence of our personality in the waking state. All our experience is possible because there is this witness which notes all our experiences whether they are perceptions of the external phenomenon through our senses — the eyes, ears, nose, tongue and the sense of touch—, or the working of apprehending, imagining mind and the determinative faculty of the intellect.

In the dream state also, this permanent kernel of our being is present amid the false dreamer and the insubstantial vanishing manifestation, for it is this witness and not the dreamer, who actually dreamt the dream and disappeared with the dream, that describes what had happened during that interesting but short interval when the creations of our mind — the dreamy actor and his universe of no existence— had made a furore out of nothing.

An unmistakable evidence of the existence of the fundamental substratum of human beings is further provided by the unique experience we go through during dreamless sleep. In this marvellous condition, we face a strange phenomenon. For hours together, we find that there is nothing: no actor, substantial or insubstantial, and no phenomenal world — neither solid and objective, nor flimsy and subjective.

The senses seem to have ceased functioning and the mind its apprehending activity and creative operations. But, is there really nothing at that time ? Is no one really present then ? If it were so, who would report on waking that there was nothing present during that interval and also report the unforgettable experience of the most delightful and refreshing sleep. No, the witness was not absent. It was there all the time. There is no doubt about it, for, supposing you were present in a lonely spot on a highway at dead of night and found not a soul there, would it be correct for you to report that at that particular moment no one was there. If no one was present, how could this fact that there was not a soul there be known. For this report to be made, it is obvious that the reporter should at least be present. We thus see that throughout the twentyfour hours of our daily life, there is an unbroken continuity of the heart of our existence which has been pithily denoted by 'I AM'.

(To be continued)

Brief Notes

We regret that due to unavoidable reasons the regular feature of this magazine *"Mātri Līlā"* could not be included in this issue. Short details about Mataji's programme between the period April to July are, however, given below.

* * * * *

It was already mentioned in our last issue that Mataji left Calcutta on 31st March and after halting in Varanasi and Rae Bareilly she alighted at Dehradun in the morning of 4th April. The 25th *Sannyāsa Utsava* of Swami Muktananda Giri Maharaj (Didima) was celebrated on 13th April in the Kishenpur Ashram. From April 15 to 22 a *Bhāgavata Saptāha* was held in our Sadhan Ashram at Jakhan at the special request of Sri Rup Chand Sood.

After a stay of about three weeks Mataji left Dehradun on the 24th evening reaching Almora on the 26th morning from Haldwani by car. She had last visited the hill-town of Almora almost exactly ten years before. In 1954 the 58th Birthday anniversary of Mataji was celebrated in our Ashram at Patal Devi, which is situated at a distance of about 2½ miles from the Almora town. This year again the 68th Birthday anniversary was celebrated with much fervour from 2nd to 30th April. A number of well-known *Mahātmās* and more than two hundred devotees from different parts of the country attended the function.

On the 3rd early morning Mataji left with a very small party for our new Ashram at Dhaulchina where she stayed for two nights. The trip to Dhaulchina in a motor bus was a sort of adventure for all, the road being extremely dangerous at certain places. Mataji also had to cover small distances on foot whenever the bus failed to proceed further.

The Ashram land at Dhaulchina measuring about ten acres was taken on lease from the Forest Department in the year 1956. Later on through the initiative of Sri Hari Ram Joshi, a very sincere and old devotee of Mataji, three small *Kutiās* were built on that land for the benefit of *Sādhakas*. This was in fact Mataji's first visit to the Ashram. It must be said that the Ashram is situated in very beautiful surroundings, just on the top of the hill from where an exquisite view of the snow-capped Himalayan peaks is available. The place is the most ideal one for *Sādhanā*. There can be no doubt about it. Sri Vijaiananda, the French *Sādhu*, has been practising *Sādhana* in the Ashram there since a pretty long time.

After a stay of two nights at Dhaulchina Mataji resumed the journey back to Patal Devi Ashram. On her way she halted for one night at Khali, near Binsar, at the special invitation from Sri Navanit Lal Parikh, a devotee from Gujarat. The large estate at Khali, situated in excellent surroundings, previously belonged to Late Ranjit Pandit, the brother-in-law of Pandit Jawaharlal Nehru. Pandit Nehru also had visited the place quite a number of times. Mataji stayed there in a new wooden cottage, which had been specially built for her stay.

On the 6th noon Mataji returned to our Ashram at Patal Devi and stayed there without any break till 30th June.

She left Almora on the 1st by car for Nainital where she went at the repeated requests from Raja Saheb Pratap Singh of Kuchaman (Rajasthan). She stayed there for two nights, motored to Bareilly on the 3rd and took the night train to Dehradun.

Mataji has been staying in her Dehradun Ashram till these notes go to Press. There were a series of functions in the Dehradun Ashram during this period. On the 10th morning an extension of the Kishenpur Ashram building, meant exclusively for the Ashram girls, was formally inaugurated in Mataji's presence. Then again on the 11th two newly-built *Kutiās* inside the Kalyan Van Ashram compound for Mrs G. Ammeraal, a Dutch devotee, and Brahmacharini Atmananda were ceremoniously inaugurated. Another *Bhāgavata Saptāha* was also specially arranged in our Kishenpur Ashram by Sri Gopal Swarup Pathak, the renowned Advocate from Allahabad, from April 11 to 18. Swami Vishnu Ashramji of Sukhtal expounded the *Bhāgavata* in a very lucid manner both in the morning and the evening, while Pandit Agnishwattaji (Batuda) did the original reciting. The whole family af Sri Pathak attended the function.

A new temple of Rama-Sita has been recently constructed in our Kalyan Van Ashram where the installation ceremony was performed on the 15th morning in Mataji's presence.

* * * * *

It is expected that Mataji may continue to stay in Dehradun for some time more even after *Guru Purnimā* which falls on 24th July. If there is no sudden change in the programmes then the next *Durgā Pujā* festival is proposed to be celebrated in our Vrindaban Ashram from 12th to 16th October and also the *Samyam Saptāha Mahāvrat* in the same Ashram from roughly about 12th to 18th November, 1964.

* * *

AN APPEAL

Shree Shree Anandamayee Sangha proposes to set up as early as possible a well-equipped class I charitable hospital in Varanasi worthy to be associated with the name of Mataji. With that end in view we have been making serious efforts to acquire through the help of the Government the vacant plots of land almost adjoining the existing building of the Anandamayee Karuna Charitable Dispensary. A sum of about Rs. 53,000/- has already been paid to the Government as the estimated cost of land.

It is needless to say that hundreds of poor and ailing people of this city have been very eagerly looking forward to the establishment of the proposed hospital under the auspices of the Sangha. Their needs are most pressing and the conditions of most of the existing hospitals in Varanasi are far from satisfactory.

A sub-committee consisting of some top physicians and Surgeons was set up sometime ago to formulate a comprehensive scheme of the proposed hospital, which is almost complete. The hospital will have in the beginning two out-door dispensaries, Allopathic and Homœopathic, along with the Surgical, E. N. T., Orthopedic, X-Ray and a few other departments. There will be also an in-patients department with about 50 beds reserved mostly for poor and ailing children, irrespective of caste and creed.

We fervently appeal to all generous people to lend their unstinted financial help to enable us to complete this noble work. It is expected that the approximate cost of building the double-storied hospital will be about Rs. 3,00,000/-

Anyone is welcome to donate a sum of Rs. 10,000/- for one bed in the proposed hospital in the memory of a departed soul. All donations amounting to Rs. 1000/- or above will be specially mentioned on a marble-plaque in the hospital.

Contributions in cash or cheque may kindly be sent as early as possible to: The General Secretary, Shree Anandamayee Sangha, Bhadaini Varanasi, U. P.

卐

Special Note: All donations to the hospital will be exempt from Income-Tax under section 88 of the I. T. Act, 1961.

URGENT NOTICE

All the subscribers of "Ananda Varta" are requested to note that as a result of constant rise in the cost of paper, block making and printing charges, as well as in the postal rates, we were constrained to enhance our rates of subscription from the beginning of Volume XII (May, 1964 issue)

Inspite of difficulties in procuring good quality of papers at reasonable rates, it has been our constant endeavour to maintain, even at a loss, the existing size and quality of the magazine. We, therefore, sincerely hope that our generous subscribers will not at all mind the nominal increase in its price.

Necessary adjustments in the Subscription Ledgers will be shortly made by us. Inland subscribers, who have already paid their subscriptions in advance, are requested to remit Re. 1/- extra at their earliest convenience.

July 31, 1964.

K. Bose
Managing Editor,
"ANANDA VARTA"

Revised Rates of Annual Subscription :

Inland —Rs. 6·00 (Postage free).
Foreign —Rs. 7.50 or £. 0–15–0 or $. 2.00.
Air Mail —Rs. 17.50 or £. 1–10–0 or $. 4,50.

আনন্দময়ী মা

লেখক—"গঙ্গাসমীরণ"

মহামহোপাধ্যায় পণ্ডিতপ্রবর শ্রীযুক্ত গোপীনাথ কবিরাজ মহাশয়ের ভূমিকাসহ এই পুস্তকখানি দুই খণ্ডে বিভক্ত।

প্রথম খণ্ডে ডায়ারী আকারে বিচিত্র মাতৃপ্রসঙ্গ, গঙ্গাসমীরণের মাতৃদর্শনের অনবদ্য কাহিনী, মহাত্মা 'ভাইজীর' অলৌকিক জ্ঞানোন্মেষ, বৈরাগ্য ও শ্রীশ্রীমায়ের স্বমুখের জীবন-পাবন নানা কথা লইয়া লেখক অতি মনোরম ভাবে এক অপূর্ব্ব মালা গাঁথিয়াছেন যাহার তুলনা হয়না।

দ্বিতীয় খণ্ডে প্রসিদ্ধ সাহিত্যিক শ্রীবিভূপদ কীর্ত্তি দ্বারা রূপায়িত শ্রীশ্রীমায়ের লৌকিক লীলার কয়েকটি লহর। তাহাতে ফুটিয়া উঠিয়াছে মায়ের চিরন্তনী বিশ্বজননীর স্নেহঘন মূর্ত্তি।

শ্রীশ্রীমার দুইখানি চিত্রসহ উত্তম কাগজে মুদ্রিত পুস্তকখানির মূল্য মাত্র আড়াই টাকা। পৃষ্ঠা সংখ্যা একশত নব্বই।

প্রকাশকঃ—

শ্রীশ্রীআনন্দময়ী সংঘ, বারাণসী।

Registered with the Registrar of Newspapers for India under No. RN 4726/87

SHREE SHREE ANANDAMAYEE SANGHA
LIST OF PUBLICATIONS

Hindi

Mātri Darshan—"Bhaiji"	2-50
Sad Vāni "	1-00
Sri Sri Ma Anandamayi—Gurupriya Devi	
Vol. I, III, V and VI	each 2-00
Vol. II and IV	" 3-00
Ma Anandamayi—Dr Pannalal	2-50
Ma Anandamayi Upadeshamrita Sangraha	(Out of print)
Akhanda Mahāyajña—Gurupriya Devi	2-50
Kirtan Rasa Swarūpa	6-00
Sankirtan, Stav, Aratī	0-50

Bengali

Mātri Darshan—"Bhaiji"	2-00
Sad Vāni "	1-00
Mātri Vāni	0-75
Sri Sri Ma Anandamayi—Gurupriya Devi	
Vol. I–IX	each 2-00
Vol. X, XI	each 2-50
Ma Anandamayi Upadeshamrita Sangraha	1-50
Akhanda Mahāyajña " "	2.50
Kirtan Rasa Swarūpa	6 00
Suno Bali Maer Kotha—Sailesh Brahmachari	1 25
Mātri Lila Sankirtan	0-31
Anandamayi Ma—Ganga Samiran	2.50
Namavali— "	0.50

Gujarati

Mātri Darshan—"Bhaiji"	1-50
Ma Anandamayee Ke Sannidhyame, Part I & II—Br. Kantibhai	2-00
Amrit Vani—Br. Dattatreyanand	2-00

English

Mother As Revealed to Me—"Bhaiji"	4.00
Mother As Seen by Devotees (A Symposium)	3-00
Mātri Vāni (Sayings)	1-50 Special edition 2-50
Words of Sri Anandamayi Ma	3-00 Special edition 5-00

Photos etc.

Album of Mother's pictures	1-50
Photos—various sizes ranging from	0-37 to 15.00
Lockets	1-25

4720/87

2-50
1-00
ach 2-00
" 3-00
2-50
of print)
2-50
6-00
0-50

2-00
1-00
0-75

ch 2-00
ch 2-50
1-50
2-50
6 00
1 25
0-31
2.50
0.50

1-50
2-00
2-00

4.00
3-00
n 2-50
n 5-00

1-50
15-00
1-25

Ananda Varta

HINDI & ENGLISH

LIBRARY
No. . . ..
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS.

श्री श्री आनन्दमयी संघ
ॐ मा
मातृ शरणं

Vol. XII November, 1964 No. 3

नया प्रकाशन

श्री श्री माँ आनन्दमयी

सप्तम भाग

लेखिका : ब्रह्मचारिणी गुरुप्रिया

मातृरूपा पूर्णब्रह्म नारायणी श्री श्री माँ सन्तानों के कल्याण के लिए देश-देशान्तरों में घुम-घुमकर भिक्षा माँग रही हैं—"तुम सब सत् हो जाओ, मेरे ऊपर दया करो।" श्री श्री माँ की अविराम जीवन-धारा का इतिहास, हरिद्वार में श्री भोलानाथजी के महाप्रयाण के बाद श्रीमुख नि:स्रित विविध बातें तथा भारत के विभिन्न स्थानों में भ्रमण-लीला और अमूल्य आध्यात्मिक प्रसङ्गों का प्रवाह लेकर इस भाग की रचना हुई है।

ज्येष्ठ, १३४५—कार्तिक, १३४५] [मूल्य—२.५० पैसा

प्रकाशक : श्री श्री आनन्दमई संघ, भादाइनी, वाराणसी।

Ānanda Vārtā

A quarterly journal dealing mainly with the divine life and teaching of Shree Shree Ma Anandamayee and with other religio-philosophical topics

*

BOARD OF EDITORS

Mahamahopadhyaya Sri Gopinath Kaviraj, M. A., D. Litt.
Kumari Lalita Pathak, M. A.
Kumari Padma Misra, M. A., Acharya.
Kumari Bithika Mukerji, M. A., D. Phil.
Brahmacharini Atmananda.
Sri Sailesh Brahmachari.
Sri Amulya Kumar Dutta Gupta, M. A., B. L.
Sri K. Bose—*Managing Editor.*

*

Annual subscription (postage free) India—Rs. 6/- only
Foreign—(By Sea Mail) Rs 7·50 or 15 shillings or $ 2·00
" (By Air-mail)—Rs. 17·50 or £ 1-10-0 or $ 4·50.

ĀNANDA VĀRTĀ

GENERAL RULES

1. (The magazine is published in three separate editions—1) Hindi-English (2) Bengali-English (3) English—in the first weeks of May, August, November and February. The year begins from May.

2. Subscriptions are always payable in advance. Foreign subscriptions may be sent either by International Money orders or Postal orders.

3. Subscriptions to be sent to :—

The General Secretary, Shree Shree Anandamayee Sangha,
Bhadaini, Varanasi, (U. P.)

4. All correspondence regarding 'Ananda Varta' should mention without fail the subscription number and be addressed to :—

The Managing Editor, "Ananda Varta", Shree Shree Ma
Anandamayee Ashram, Bhadaini, Varanasi, (U. P.)

5. Complaints about non-receipt of the magazine should be sent *by the third week of the month of publication.*

6. Any change of address should be intimated to the Managing Editor at the earliest possible opportunity.

7. Subscribers are requested not to dishonour any issue of the magazine sent by V. P. P., as this entails a loss to the Ashram fund. They may kindly inform us *beforehand* if they desire to discontinue subscribing to the magazine.

Published by Shri K. Bose, for
Shree Shree Anandamayee Sangha, Varanasi.
Printed at the Indian Press (Pte.) Ltd , Varanasi-Branch VARANASI,.

LIBRARY
No. . . . . .
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS

CONTENTS

Hindi Section

1. मातृ-वाणी 103

2. डायरी के कुछ पृष्ठ—गुरुप्रिया देवी 105

3. नारदीया भक्ति —अध्यापक डा० नागेन्द्र नाथ उपाध्याय, एम० ए० 112

4. अल्मोड़े में मातृ-सत्सङ्ग 119

5. कैलास-मानसरोवर-प्रदक्षिणा—श्री 'दत्त' 126

6. वेदान्त वार्ता—स्वामी नारायणानन्द तीर्थ 135

7. मातृ-सत्संग—स्वामी भागवतानन्द गिरि 144

CONTENTS

English Section.

1. Matri Vani 105
2. Pages from my Diary—Gurupriya Devi 108
3. The Goal of Human Life—
Jainath Kaul, M. Sc. 116
4. Is Life Worth While ?—Mark Halpern 124
5. The Name is God—Swami Ramdas 126
6. Space and Time—D. S. Mahalanobis 129
7. Old Diary Leaves—Atmananda 139
8. Matri Lila 149

Ānanda Vārtā

"अमर आत्मा—अमर पन्थी स्वयम्—अपनेमें आप।"

VOL. XII] NOVEMBER, 1964 [NO. 3

—मातृ-वाणी—

महान् पथ के यात्रियों का द्रुतगति से लक्ष्य पथ पर चलना।

× × × ×

इच्छामय की इच्छा ही सब कुछ है। सब लोग उस महान् इच्छा के साथी बनकर अपने को प्राप्त करने की ओर लेना, भगवान् की कृपा की प्रार्थना सभी को करणीय है।

× × × ×

जिन्होंने सृष्टि की है, वह सदा सभी अवस्थाओं में हैं। कर्म भी वही हैं, कराते भी वही हैं, करनेवाले भी वही हैं। इस बोध के लिये योगी-ऋषियों के योग तपस्या आदि हैं। नाम रूप में, मन्त्र रूप में स्वयं वही हैं। सदा उन्हीं का संग और स्मरण करणीय है।

× × × ×

तुम लोग सभी सदा ही अच्छे थे। नये ढंग से अच्छे नहीं हुए हो। भीतर अच्छा न रहने से अच्छे का प्रकाश नहीं होता।

× × × ×

उनकी इच्छा के साथ अपनी अपनी इच्छा मिला देने की चेष्टा ही मनुष्य का कर्त्तव्य है। समस्त कर्मों में उन पर निर्भर रहना होता है। कर्म की सुकौशलता—सारी दिशायें वह—उनकी हैं—इस भाव से सम्पूर्ण करने की चेष्टा।

× × × ×

जिनकी सृष्टि वही सब दिशाओं में हैं। उन पर सब विषयों में निर्भर रहना।

× × × ×

शरीर धारण सांसारिक सुख-दुःख भोगने के लिये। जिनकी सुबुद्धि है, जागतिक दुःख सुख के परे जाने के लिये एकमात्र उन्हीं की शरण लेना।

× × × ×

वही महाशक्ति सब घटों, मठों, पटों में—स्वयं वही हैं। केवल उन्हीं को पुकारना। सन्तान के व्याकुल क्रन्दन से महाशक्ति, महामाया का आसन डोलता है। जैसे वह कठिन आघात करते हैं, फिर वही छाती में जकड़कर शान्त भी करते हैं।

× × × ×

सत्यानुसन्धान, सत्याश्रय होने के लिये हर समय प्रस्तुत रहना कर्त्तव्य है। उनकी कृपा हर समय बरस रही है।

डायरी के कुछ पृष्ठ

गुरुप्रिया देवी

१४ सितम्बर १९६१,

माँ दिल्ली के आश्रम में ही हैं। इस बीच में राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू विशेष अस्वस्थ हो गए हैं। किसी प्रकार मृत्यु के मुख से लौट आए हैं। माँ के दर्शन-प्राप्ति के लिए उनकी विशेष प्रार्थना करने पर आज सवेरे ११ बजे माँ को राष्ट्रपति भवन ले जाया गया। माँ के साथ मैं पुष्पा और कमल ब्रह्मचारी था। माँ को सीधा ऊपर ले जाया गया—देखा कि राजेन्द्र बाबू अभी भी बहुत दुर्बल हैं। माँ की उन्होंने खूब श्रद्धा से अभ्यर्थना की। माँ के साथ काफी देर तक अध्यात्म विषयक नाना बातें हुईं। देखा कि वह सब रेकार्ड की जा रही हैं। माँ के निर्देश से पुष्पा ने दो भजन गाकर सबको सुनाए। राजेन्द्र बाबू बड़े प्रसन्न हुए। उनकी आध्यात्मिक विषयों में प्रगाढ़ रुचि है और साधु महात्माओं के ऊपर उनकी श्रद्धा-भक्ति वास्तव में देखने योग्य है। शारीरिक अस्वस्थता और कार्य की अवधि पूरी हो जाने के कारण कुछ महीनों के अन्दर ही वे अवकाश ग्रहण करेंगे। अवसर ग्रहण करके उनकी पटने में शान्तिपूर्वक निवास करने की इच्छा है। इसके पहले भी वे दो-तीन बार माँ को राष्ट्रपति भवन ले जा चुके हैं। एक बार तो माँ के भोग की भी व्यवस्था की थी। गत जून मास में उन्होंने पूना आश्रम में आकर माँ के दर्शन किये थे।

राष्ट्रपति भवन से लौटते समय मैं पंडित नेहरू के यहाँ इन्दिरा जी से मिलने गई। माँ सीधे आश्रम चली गईं। सुना कि आज ही सवेरे पंडित जी रशिया का परिभ्रमण करके दिल्ली लौटे हैं। इन्दिरा जी ने विशेष आग्रह के साथ माँ के भोग के लिए रशिया से लाए हुए अंगूर, सेब और फूट दिये। फूट देखने में बहुत बड़ी थी—एक ढोलक के समान। माँ ने अपने हाथ से सबको रशिया के फल बाँटे। माँ को भी मैंने कुछ खिला दिये।

१२ सितम्बर १९६१,

आज कई लोगों को आश्रम में प्रसाद लेने को कहा गया है। प्रधान-मंत्री के वासभवन से श्रीमती विमला जी भी प्रसाद लेने आई हैं। उन्हें मिठाई इतनी पसन्द आई कि वे जाते समय विशेष आग्रह पूर्वक थोड़ी सी मिठाई इन्दिरा जी और पंडित नेहरू के लिए अपने साथ ले गईं। भद्रमहिला का खूब सरल सहज स्वभाव है।

१६ सितम्बर १९६१,

शाम को रेहाना माई दो-चार जनों के साथ माँ के दर्शन के लिए आईं। उन्हें पंडित नेहरू एवं इन्दिरा जी की शरीर-रक्षा के लिए महामृत्युंजय जप कराने की एक प्रेरणा अपने अन्तर में मिली है। यह प्रेरणा उन्हें स्व० कमला नेहरू से प्राप्त हुई है। रेहाना माई बोलीं, "आप के ऊपर इसका भार देकर मैं खलास हुई। कमला की आप "खास" माँ हैं। आप जो आदेश देंगी, वही होगा।" माँ बोलीं, "यह शरीर तो यदि कोई सत् शुभ अनुष्ठान करना चाहे तो करने को ही कहता है। आदेश का क्या प्रश्न है।" कुछ देर बातचीत करके रेहाना माई ने बिदा ग्रहण की।

यह एक मुसलमान धर्मावलम्बी कृष्ण-साधिका हैं। बचपन से उन्हें जन्मजात कृष्ण-प्रेम है। सुना है कि इनका विवाह पक्का हो गया था। किन्तु मुसलमान होने के कारण उनके भावी पति ने कहा कि उनके यहाँ यह कृष्ण नाम आदि नहीं चलेगा। यह सुनकर रेहाना माई ने विवाह करने से एकदम इन्कार कर दिया। और कभी विवाह का प्रस्ताव नहीं आया। यह बहुत दिन तक महात्मा गांधी के साथ थीं—बहुत लोग इन्हें विशेष श्रद्धा भक्ति करते हैं। इनकी लिखी पुस्तक Heart of a gopi विशेष प्रसिद्ध है। श्रीयुत दिलीप कुमार राय रचित संगीत "सेई वृन्दावनेर लीला अभिराम सखी आजउ मने पड़े"—इसी किताब की गीतछवि है।

१८ सितम्बर १९६१,

आज सवेरे माँ जयपुर आ पहुँचीं। यहाँ के पुराने भक्त श्री मदनमोहन वर्मा की विशेष प्रार्थना के कारण इस बार माँ का जयपुर आना हुआ। वर्मा जी के नए

मकान के उद्घाटन के उपलक्ष्य में गत एप्रिल मास में माँ के आने की बात थी। किन्तु उस समय कविराज महाशय की अस्वस्थता के कारण आना सम्भव नहीं हुआ। इस बीच में वर्म्मा जी का गृहप्रवेश हो गया। इसलिए माँ को पास ही एक दूसरे नए मकान में रखने की व्यवस्था की गई है।

श्रीमती कमला मोहन लाल और आनन्द यहीं हैं। आनन्द आजकल यहाँ राजस्थान गवर्नमेंट में डेपुटी सेक्रेटरी हैं। यह शिशुकाल से ही माँ के पास आते-जाते हैं। मैंने देखा कि कमला ने माँ के लिए सब सुन्दर तरीके से सजा-संभाल रक्खा है।

इस बीच में एक दुर्घटना हो गई। माँ के साथ देहरादून में स्व० परशुराम जी का पुत्र विक्रम भी आया था। लड़के का दिमाग ठीक नहीं है। इसलिए माँ उसे कुछ दिन से साथ ही साथ रख रही हैं। हमारे साथ वर्म्मा जी के मकान तक आया था। उसके बाद उसे कहीं भी ढूँढ़ने पर नहीं पाया गया। पुलिस को खबर दी गई। पर सारी चेष्टा ही विफल हुई। हम सभी का मन बहुत खराब हो गया। माँ के साथ रहकर भी लड़के का ऐसा हो गया।

शाम को आनन्द माँ को थोड़ा घुमाने ले गया। स्थानीय गणेश जी का मन्दिर अति प्रसिद्ध है। माँ को वहाँ भी ले गया। रात का सत्संग वर्म्मा जी के घर पंडाल में हुआ।

१९ सितम्बर १९६१,

आज सबेरे सब लोग माँ के साथ विख्यात गोविन्दजी का मन्दिर देखने गए। माँ गोविन्द जी को देखते ही बोलीं, "प्रथम बार जब अखण्डानन्द के साथ यहाँ आना हुआ था तब देखा गया कि गोविंद जी मानो जमीन पर खड़े हैं। सिंहासन, राधा, सखी आदि कुछ भी उस समय नहीं देखा गया। इस समय जैसे गोविन्द जी राजवेश धारण किए हैं वह भी नहीं। अल्प वस्त्र पहने—जमीन पर खड़े हैं। यही रूप उस बार देखा गया।" गोविन्द जी का मन्दिर देखकर सभी विशेष आनन्दित हुए।

२० सितम्बर १९६१,

विशेष चेष्टा करने पर भी विक्रम की कोई खबर नहीं मिली। माँ को आज महीशूर (माईसोर) की प्रथम महारानी सत्यप्रेम कुमारी (यह यहीं रहती हैं।) अपने घर ले गईं। वहाँ से अचरौल के राजभवन माँ को ले जाया गया। अचरौल के राजा साहब श्रीयुत हरिसिंह सत्यप्रेमकुमारी जी के बहनोई हैं। दोनों जगह ही माँ की विशेष अभ्यर्थना की गई।

आज रात को १ बजे माँ दिल्ली के लए रवाना हुईं।

२४ सितम्बर १९६१,

माँ दिल्ली आश्रम में हैं। सवेरे इन्दिरा जी ने फोन पर कहा कि वे आज आश्रम में आकर प्रसाद लेंगी और माँ से बात करेंगी। १२ बजे इन्दिरा जी अपने पुत्र संजय और और २-३ लोगों के साथ आईं। उन सब ने बड़े आनन्द से प्रसाद ग्रहण किया। बंगाली खाना इन्दिरा जी ने बड़े आदर से खाया। माँ भी घूम-फिरकर उनका खाना देख रही हैं। खाना समाप्त होने पर इन्दिरा जी ने माँ के कमरे में आकर एकान्त में माँ के साथ कुछ बात की।

शाम को जयपुर से फोन पर संवाद मिला कि जयपुर की कैंटीन के पीछे पुलिसवालों ने विक्रम को ढूँढ़ निकाला है। सभी सुन कर विशेष निश्चिन्त हुए। माँ बोलीं, "यह शरीर प्रथम दिन ही गणेश जी से कह आया था। तुम उसकी देख-भाल करो", गोविन्द जी से कहा गया था। और किसके पास उसे रख आती, बोलो? इसी से गणेश जी और गोविन्द जी के ऊपर उसका भार दे आई थी मुन्नी से (विक्रम की बहिन) अभी कहो कि वह गणेश जी को १०१) का भोग दे।"

२८ सितम्बर १९६१,

आज कथा प्रसंग में माँ ने आश्रम के लड़के-लड़कियों से बड़ी सुन्दर २-४ बातें कहीं। "तुम लोग विश्वजय करने के लिए इस मार्ग में आए हो। एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति—एक आत्मा—यही तो तुम्हारा मार्ग। आपस में मनोमालिन्य, क्रोध, वाद-विवाद, वैषम्य भाव न रखना। प्रीति का भाव रखने से शीलता की वृद्धि होती है। अगर किसी की बात से मन खराब हो तो विष की तरह उसे खा

लो। तुम सभी अच्छे, अच्छे, अच्छे। अच्छे होकर (जगत् को) आलोकित करो।"

२ अक्टूबर १९६१,

इन्दिरा जी ने विशेष अनुरोध किया कि माँ कृपा करके एक बार उनके घर पधारें। शाम को विमला जी घर आकर माँ को प्रधान मंत्री के घर ले गईं। साथ में चिन्मयानन्द, पुष्पा, चित्रा और मैं। सुन्दर बगीचे में माँ के बैठने का स्थान ठीक किया गया था। इन्दिरा जी माँ के पहुँचने के कुछ देर बाद आईं। बोलीं उनके छोटे लड़के को अचानक ज्वर हो गया। इससे समय पर नीचे आकर माँ की अभ्यर्थना नहीं कर सकीं— इसके लिए दुःख प्रकट करने लगीं। जरा देर बाद पंडित नेहरू भी आकर माँ के पास बैठे। हम सब थोड़ी दूर हट गए। पंडित जी ने एकान्त में प्रायः आधा घंटा माँ से बात की। हम लोगों को दूर से देखते हुए खूब आनन्द हो रहा था। शान्त वातावरण में माँ बैठी हैं और उन चरणतल में बैठकर भारत के रत्न जवाहरलाल जी शुद्ध भाव से माँ के मुख से निकली बातें सुन रहे हैं। माँ के गले में एक चन्दन की माला थी। माँ ने वह पंडित जी के गले में पहना दी। पंडित जी बात समाप्त होते ही बाहर चले गऐ। उन्हें सारा दिन दम लेने की फुरसत नहीं मिलती। इन्दिरा जी कहती थीं कि सारा दिन उनसे भी बात नहीं हो पाती, ऐसा कहा जा सकता है।

पंडित जी के जाने के बाद माँ ने इन्दिरा जी से थोड़ी बात की। प्रधान मंत्री के घर के अन्यान्य सब कर्मचारियों ने भी एक-एक कर के माँ को प्रणाम किया। माँ के उठने पर इन्दिरा जी ने उन्हें आफिस और हॉल के बीच से ले जाकर गाड़ी पर चढ़ा दिया। मैंने लक्ष्य किया कि इन्दिरा जी नंगे पैर ही माँ के साथ-साथ आई थीं। इन सबकी श्रद्धा, भक्ति और भद्रता बोध वास्तव में विशेष लक्ष्य करने योग्य वस्तु है। सुना आगामी दिन सवेरे पंडित जी के साथ इन्दिरा जी भी मादुरा जा रही हैं।

माँ के साथ पंडित जी की क्या-क्या बात हुई, वह माँ ने प्रकट नहीं की।

फिर भी मैं समझ गई कि बात आध्यात्मिक विषय की थी। माँ ने प्रसन्न होकर कहा, "समझने की खूब क्षमता है।"

८ अक्टूबर १९६१

आज सवेरे माँ दिल्ली से कानपुर आ पहुँचीं। स्टेशन पर सीताराम जैपुरिया जी, काशीप्रसाद, जितेनदा आदि अनेक लोग उपस्थित थे। माँ को सीधा जैपुरिया हाउस ले जाया गया।

इस बार जैपुरियावालों के विशेष आग्रह से माँ की उपस्थिति में दुर्गा पूजा होने की बात है। माँ उसी उपलक्ष्य में आई हैं। माँ के लिए बाग के बीच में एक अत्यन्त सुन्दर फूँस की कुटिया बनाई गई है। उसके साथ सब प्रकार की व्यवस्था की गई है। जैपुरियावालों की त्रुटिहीन व्यवस्था, अतिथिपरायणता एवं सेवा भाव अतुलनीय है। हमें बहुत जगह बहुत बड़े-बड़े लोगों की व्यवस्था देखने का सुयोग हुआ है। किन्तु कानपुर के जैपुरिया की व्यवस्था को अद्वितीय कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

देखा कि मकान के भीतर मानों एक छोटे-मोटे कुम्भ मेले के कैम्प बस गए हैं। बाग में कतार के कतार तम्बू लगे हैं। प्रत्येक तम्बू सजागुजा है। विशाल अतिथिशाला तो हम लोगों के लिए छोड़ ही दी गई है। टेनिस कोर्ट के ऊपर विशाल पंडाल बना है। पाठशाला, भोजनशाला किसी का भी अभाव नहीं। सीताराम और काशीप्रसाद (उनके भाँजे) दोनों ही दिन रात प्रसन्नतापूर्वक परिश्रम करते हैं। काशीप्रसाद जी के समान कार्यकुशल और बुद्धिमान मनुष्य वास्तव में दुर्लभ है। सर्वदा प्रसन्नमुख रहते हैं। प्रत्येक कर्मचारी, यहाँ तक कि दरवान तक इसी भाव में जैसे शिक्षित हैं सबका आदर, कायदा एवं भद्रता बोध वास्तव में देखने योग्य है।

१४ अक्टूबर १९६१,

जैपुरिया के घर नवरात्र की पूजा चल रही है। कल षष्ठी है। महालया के दिन से ही प्रबल वर्षा हो रही है। कानपुर शहर में इतनी वृष्टि, पूरी बरसात में भी कभी नहीं हुई। माँ के कमरे में भी जल आ गया है। तंबू सब जलमय हो

गए। पंडाल के अन्दर भी जल पड़ रहा है। देवी के गात्र पर २-४ छींटा जल नहीं पड़ा, ऐसा नहीं है, माँ की लीला समझना कठिन है। सीताराम जी स्वयं खड़े होकर सारी रात व्यवस्था का निर्देश दे रहे हैं। सभी माँ से एकान्त प्रार्थना कर रहे हैं जिससे इतना सारा आयोजन बिगड़ न जाय।

१९ अक्टूबर १९६१

पंचमी तक मूसलाधार वृष्टि होकर षष्ठी के दिन सवेरे अकस्मात् धूप का मुख देखा गया। पूजा के बाकी चार दिन और पानी नहीं बरसा। सिर्फ सप्तमी के दिन शाम को हठात् एक मिनट के लिए जोर से वृष्टि होकर बन्द हो गई। शहर में उस दिन देर तक प्रचंड वृष्टि हुई थी। परन्तु पूजा के स्थान पर सामान्य वृष्टि एक मिनट से ज्यादा पड़ते न पड़ते बन्द हो गई।

जैपुरियाजी के बगीचे के बीच में एक वटवृक्ष है। माँ इस बीच में एक दिन टहलते-टहलते वहाँ जा खड़ी हुईं और वृक्ष की प्रदक्षिणा सी की ऐसा लगा। पीछे मालूम हुआ कि इस स्थान का कुछ विशेषत्व है। यहाँ पर पूजा की जाती है। माँ अवश्य बाहरी तौर से यह सब नहीं जानती थीं।

आज विजयादशमी है। विराट आडम्बर के साथ माँ की उपस्थिति में पूजा शेष हो गयी। अब बिदा की बारी है।

* * *

नारदीया भक्ति

अध्यापक डा० नागेन्द्र नाथ उपाध्याय, एम० ए०

महर्षि नारद के नाम के साथ प्रसिद्ध होनेवाले ग्रंथोंमें नारद पंचरात्र और नारद भक्तिसूत्र का विशेष स्थान है। ये दोनों ही भक्ति के ग्रंथ हैं। नारद पंचरात्र के नाम से ही प्रकट है कि यह पंचरात्र साहित्य की एक रचना है। जो लोग भागवत संप्रदाय का विकासात्मक अध्ययन करते हैं, उन्हें इस पंचरात्र साहित्य का महत्त्व अच्छी तरह मालूम है। इस ग्रंथ को ज्ञानरूपी अमृत का सार कहा गया है। ज्ञान, योग और भक्ति का समन्वय इस ग्रंथ में मिलता है। आध्यात्मिक ज्ञान वेद का सार है। इसी प्रकार हरिभक्तिप्रद ज्ञान, मुक्तिद ज्ञान, योगयुक्त ज्ञान तथा सिद्धिद ज्ञानों की गणना की गई है। इस तरह ज्ञान के पाँच प्रकार इस ग्रंथ में बताये गये हैं। (नारद पञ्चरात्र-सं० के० एम० बनर्जी, रात्र १, अध्याय ९, श्लोक ६-७, पृ० ६२-६३)। माता और पिता पुत्र के कर्ममूल का निकृन्तन करने में समर्थ नहीं हैं। गुरु शिष्य के कर्ममूलों का निकृन्तन करता है। ज्ञान का उद्गिरण करने के कारण ही व्यक्ति गुरु कहा जाता है। वह ज्ञान तंत्र का और मंत्र का है। किंतु वे ही तंत्र और मंत्र (वास्तविक) हैं जिनसे कृष्णभक्ति उत्पन्न हो। (१.१०. ८-१०)। पाँच संवादों के कारण ही इसे पंचरात्र कहते हैं। इस पंचविध ज्ञान की भी व्याख्या की गई है। इस पंचरात्र को कृष्ण ने ब्रह्मा को, ब्रह्मा ने महादेव को, महादेव ने नारद को, नारद ने व्यास को और व्यास ने अपने पुत्र शुकदेव को यह ज्ञान दिया। (२-१; १२-१५)। केवल एक ईश्वर की ही सत्ता को स्वीकार करते हुए कहा गया है कि निखिल विश्व में एक ही ईश्वर है। सभी उसके कर्म से सिद्ध तथा उसकी माया से मोहित हैं। भक्ति की सिद्धि के लिये भी विधि-निषेध मिलते हैं। भक्तालाप से भक्ति वृक्षनवांकुर उत्पन्न होता है। अभक्त के साथ आलाप तथा संग से यह अंकुर सूख जाता है। इसीलिये संत लोग सत्संगति की कामना करते हैं। इसीलिये वैष्णव को वैष्णव की संगति करनी चाहिये। इस भक्तिसिद्धि के लिये भक्त

को छ प्रकार से भजन करना चाहिये—(१) स्मरण, (२) कीर्तन, (३) वंदन, (४) पादसेवन, (५) पूजन, (६) सतत भक्ति के साथ परा कोटि का स्वात्मनिवेदन। इस ग्रन्थ में उस वैष्णव की महापवित्रता का गायन किया गया है जिसको गुरुमंत्र से कृष्णमंत्र की प्राप्ति हुई है। (२. १. २२, २.२ ४-११, १५)। अहिंसा को परम धर्म कहकर उसे परमनिर्वाणकारण कहा गया है। साथ ही तीर्थस्नान तथा वेदोक्ताचरण को भी निर्वाणकारण कहा गया है। (२, ७, ३८, ४१, ४२)। अहिर्बुध्न्य संहिता की तरह ही इसमें भी योग का उपदेश मिलता है, जिसे महादेव ने नारद को दिया है। इसमें नाड़ियों और चक्रों की विवेचना है। सहस्रदलपद्म में सूक्ष्मरूपेण गुरु को स्थित माना गया है। नर रूप में जो गुरु दिखाई पड़ते हैं, वे, वास्तव में, इस सूक्ष्म गुरु के प्रतिबिम्ब हैं। शिष्य की हितकामना के लिये गुरु रूप में स्वयं कृष्ण ही प्रत्यक्ष होते हैं। गुरुतुष्टि से ही हरि तुष्ट होते हैं। हरि तुष्टि से जगत् तुष्ट रहता है। गुरु ही ब्रह्मा है। विष्णु, देव, महेश्वर है, परब्रह्म है। सबके तुष्ट रहने पर भी यदि गुरु असंतुष्ट रहे तो कोई भी रक्षा नहीं कर सकता। हरि के रुष्ट होने पर गुरु रक्षा करने में समर्थ है। भक्तिज्ञान के संबंध में कहा गया है कि भक्तों का जो ज्ञान है, उसे ही भक्तिज्ञान कहते हैं तथा इसी प्रकार निर्गुण ज्योति का ज्ञान करनेवाले योगियों के ज्ञान को योगज्ञान कहा जाता है। नाड़ियों और चक्रों के योग से उसे परम ज्योति मान कर उसका दर्शन करता है। समय पाकर, सुपक्व योगी भक्तिपूर्वक ध्यान करते हुए वैष्णव हो जाता है। देह की दृढ़ता दास के लिये आवश्यक है। बिना दृढ़ देह के दास्य कैसा ? वैष्णवों का मत ही श्रेष्ठ है। सभी ब्रह्माण्डों में वैष्णव सा श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी नहीं है। (२. ८, पृ० १५६-१५९)।

नारद पञ्चरात्र में अर्चाविधि बड़े विस्तार से बताई गई है जिसमें आवाहन, पाद्य, आचमन, मधुपर्क, पुनराचमन, स्नान, वस्त्र, उत्तरीय, यज्ञोपवीत, आभूषण, जल, गंध, पुष्प, दीप, नैवेद्य को क्रमशः मान्यता दी गई है। पूजा भी पाँच प्रकार की बताई गई है—अभिगमन, उपादान, योग, स्वाध्याय और इज्या। (शंकराचार्य द्वारा वर्णित प्रकारों से यह अभिन्न प्रतीत होती है)। देवस्थान में जाकर वहाँ का मार्जन, उपलेपन, निर्मालक-दूरीकरण आदि की क्रिया अभिगमन में सम्मिलित है।

गंध-पुष्पादि का चयन उपादान है। स्नेह की आत्मत्वेन भावना योग है। स्वाध्यायमें मंत्रार्थ संधानपूर्वक जप, सूक्तस्तोत्रादि का पाठ, हरिसंकीर्तन, तत्त्वादिशास्त्राभ्यास की गणना की गई है। स्वदेव का पूजन ही इज्या है। इन्हीं के क्रम से सार्णि (?), सामीप्य, सालोक्य, सायुज्य और सारूप्य नाम की पाँच स्थितियाँ भी मानी गई हैं। (४. १०. ३-१९, ४. १०. २०-२५)। भक्त के लिये बताया गया है कि कलि में विष्णु का स्मरण, कीर्तन, मंत्रजप तथा दान का आचरण उपास्य की प्रीति के लिये, उसकी प्रसन्नता के लिये करना चाहिये। (४.११.२५)। ज्ञानों में हरिभक्तिप्रद ज्ञान ही ज्ञान है। (२.२.१)

नारद पंचरात्र के भक्ति और ज्ञान सम्बन्धी इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि अहिर्बुध्न्य संहिता और नारद पंचरात्र में बहुत सी समानताएँ लक्षित होती हैं। इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए क्योंकि दोनों ही पांचरात्र साहित्य में अन्तर्गणित हैं।

नारद से संबद्ध और प्रसिद्ध दूसरी महत्त्वपूर्ण रचना भक्तिसूत्र है। शांडिल्य के नाम से एक दूसरा भक्तिसूत्र प्रसिद्ध है। यहाँ नारदकृत भक्तिसूत्र ही विषय है। अपने भक्तिसूत्र में नारद ने भक्तिस्वरूप, भक्तिप्राप्ति, निरोध, कार्य, लक्षण, भक्ति-श्रेष्ठता, भक्तिसाधन, त्याज्य, प्रेमस्वरूप, भेद, प्रमाण, लोकवेद, विधि-निषेध, भक्त, वाद, शस्त्र आदि का विचार किया है। नारद द्वारा निरूपित भक्ति का अर्थ ईश्वर में परम प्रेम है। परम प्रेम ही इस भक्ति का रूप है। यह भक्ति अमृतस्वरूपा है जिसका लाभ कर पुरुष सिद्ध, अमृत और तृप्त हो जाता है। इसे प्राप्त कर वह न किसी वस्तु की इच्छा करता है, न किसी से दुःखी होता है, न किसी से द्वेष करता है, न किसी में रमता है, न किसी वस्तु (के भोग) में उसे उत्साह ही होता है। इस भक्ति (के स्वरूप) के ज्ञान से वह मत्त (मस्त) हो जाता है, स्तब्ध हो जाता है; वह अपने में ही रमण करने लगता है। (सूत्र १६)। इस भक्ति के लाभ, प्राप्ति एवं ज्ञान से किसी अन्य की कामना नहीं रह जाती; यह भक्ति ही अपने प्रभाव से कामना नहीं रहने देती (या कामना नहीं करने देती) क्योंकि यह सब का निरोध करनेवाली है। लौकिक (अहोरात्र चर्या) और वैदिक व्यापारों (नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों) का न्यास (समर्पण / शुद्धिकरण) ही निरोध है। (सूत्र ७-८)। उस ईश्वर के प्रति अनन्यता होनी चाहिये। भगवान् के अतिरिक्त जो अन्य आश्रय कहे

जाते हैं, उनका त्याग ही अनन्यता है। उस भगवान् के अनुकूल जो लौकिक और वैदिक आचार हैं, केवल उन्हीं को करना चाहिये। भगवान् के विरुद्ध जो आचार हैं, उनके प्रति उदासीनता होनी चाहिये। जब तक भगवान् के प्रति भाव में निश्चय की दृढ़ता न आ जाय तब तक ही शास्त्ररक्षण होना चाहिये अन्यथा पतन की आशंका रहती है। जैसे शरीर धारण तक के लिये भोजनादि व्यापार हैं, उसी प्रकार लोकरक्षण या लौकिक कर्मों का रक्षण भी होना चाहिये। कुछ लोग यहाँ शास्त्र की तरह ही लोकरक्षण भी मानते हैं तथा लौकिक कर्मों में शरीरधारण तक के भोजनादि व्यापारों को आवश्यक बताते हैं। नारद के सूत्र का कुछ लोगों ने इसी प्रकार अर्थ किया है। कुछ लोगों ने भिन्न मत का अनुसरण कर बताया है कि निश्चय की दृढ़ता तक लोककर्मरक्षण किन्तु शरीरधारण तक भोजनादि व्यापारों का रक्षण होना चाहिये। (सूत्र ९–१४)।

नारद के अनुसार भगवान् में अखिल आचारों का अर्पण तथा उस भगवान् के विस्मरण में परम व्याकुलता भक्ति के लक्षण हैं। नारद की दृष्टि में यही मत ठीक है क्योंकि ऐसा ही व्रजगोपिकाओं में भी दिखाई पड़ता है। किन्तु व्रजगोपिकाओं में भगवान् के माहात्म्यज्ञान की विस्मृति नहीं थी क्योंकि माहात्म्यज्ञान के विस्मरण से जारों की तरह प्रेम हो जाता है। जैसा जारों के प्रति प्रेम किया जाता है, वैसा प्रेम व्रजगोपिकाओं में नहीं था क्योंकि वे भगवान् के सुख में ही सुखी होती थीं। (सूत्र १५–२४)।

व्रजगोपिकाओं की भक्ति-जैसी यह भक्ति कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग एवं योगमार्ग से भी श्रेष्ठ है क्योंकि भक्ति स्वयं फलस्वरूप है। (कर्म, ज्ञान और योग में अभिमान रहता है और) ईश्वर को अभिमान से द्वेष है तथा दैन्य उन्हें प्रिय है। इनके संबंध के विषय में कई मत हैं। एक मत है कि ज्ञान भक्ति का साधन है। दूसरे लोग मानते हैं कि इन दोनों में अन्योन्याश्रयत्व है। ब्रह्मकुमार मानते हैं कि भक्ति में स्वयंफलरूपता है। राजा, गृह, भोजन आदि में इसी प्रकार देखा जाता है। इनको देखने से राज, परितोष और क्षुधाशान्ति नहीं होती। इसीलिये केवल फलरूपा भक्ति मुमुक्षुओं द्वारा ग्राह्य होनी चाहिये। (सूत्र २५-३३)।

आचार्य लोग ऐसी फलरूपा, ज्ञान एवं कर्म से श्रेष्ठ भक्ति के साधनों का निर्वचन करते हैं। इस भक्ति का साधन विषयत्याग, संगत्याग, अखंड भजन, लोगों के बीच भगवद्गुण-श्रवण-कीर्तन से होता है। मुख्यतया इसका साधन महज्जनों की कृपा से या भगवत्कृपा के लेशमात्र से ही हो जाता है किन्तु महज्जनों का संग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है। इसका भी लाभ ईश्वरकृपा से हो जाता है क्योंकि भगवान् में और उनके प्रिय महज्जनों में अभेद है। इसलिये उस (भगवत्) कृपा का ही साधन करना चाहिये। दुस्संग का सर्वथा त्याग करना चाहिये क्योंकि यह काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश, सर्वनाश का कारण है। ये काम-क्रोधादि तरंगवत् रहते हुए दुस्संग से समुद्र रूप धारण करते हैं। उनसे वे ही पार उतरते हैं जो दुस्संग का त्याग कर देते हैं, महानुभावों का सेवन करते हैं या उनका संग करते हैं, ममतारहित हो जाते हैं। जो लोग एकान्त स्थान का सेवन करते हैं, लौकिक बन्धनों का उन्मूलन करते हैं। सत्त्व-रजस्-तमस् के विकारों से रहित हो जाते हैं, योगक्षेम का त्याग (भगवान् में समर्पण) करते हैं, वे ही पार उतरते हैं। जो कर्मफलों का त्याग (समर्पण) करता है, कर्मों को समर्पित करता है और निर्द्वन्द्व हो जाता है, वेदों (वेदविहित कर्मों) से संन्यास करता है (वेद विहित भगवदनुकूल कर्मों को भी भगवान् में समर्पित कर देता है), केवल अविच्छिन्न अनुराग का लाभ करता है, वही इन समुद्रों से पार उतरता है। वह स्वयं भी पार होता है और दूसरों को भी पार उतारता है। (सूत्र ३४–५०)

जिस प्रेम का संकेत नारद ने द्वितीय सूत्र (सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा) में किया है, उसका स्वरूपनिर्वचन भी आगे किया है। इस प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है। मूक आस्वादन करके जिस प्रकार स्वाद का निर्वचन करने में असमर्थ होता है, उसी प्रकार भक्त भी इस प्रेम का आस्वादन कर उसका निर्वचन नहीं कर पाते। इस प्रेम का प्रकाशन किसी-किसी में ही होता है। यह प्रेम गुणरहित (त्रिगुणरहित) एवं कामनारहित है। इसकी अवस्था में कोई कामना नहीं होती। एक बार प्रकाशित हो जाने पर इसकी प्रतिक्षण वृद्धि होती रहती है। आलंबन से इसका कभी वियोग नहीं होता। यह सूक्ष्मतर है तथा केवल

अनुभवगम्य है। इसकी प्राप्ति हो जाने पर भक्त केवल इसी को सर्वत्र देखता है, केवल प्रेम की ही बात सुनता है, केवल प्रेम का वर्णन करता है, उसी का चिंतन करता है। भक्त के गुण के अनुसार ही कही जानेवाली गौणी भक्ति तीन प्रकार की होती है--सत्त्व, रजस् और तमस् के आधार पर या आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी के आधार पर। बादवाले से पूर्व की (अर्थात् जिज्ञासु से आर्त, राजस् से सात्त्विक) भक्ति श्रेष्ठ है। अन्य (ज्ञान, कर्म, योग) की अपेक्षा भक्ति में अधिक सुलभता है। इस भक्ति के लिये अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं है क्योंकि यह स्वयं प्रमाण है। इसका कारण यह है कि यह शांतिरूप है, परमानंदरूप है। (सूत्र ५१-६०)।

भगवान् में अपने को, लोक (लौकिक कर्म), वेद (वैदिक कर्म) और शील को निवेदित कर देने के कारण लोक-हानि की चिन्ता नहीं करनी चाहिये। भक्ति की सिद्धि न होने तक लोक व्यवहार हेय नहीं है किन्तु भक्ति साधन के रूप में फल (त्याग समर्पण) करना चाहिये। स्त्री, धन, नास्तिक, वैरी (भगवद्भक्ति के शत्रु) के चरित्रों का श्रवण नहीं करना चाहिये। अभिमान, दंभ आदि का भी त्याग करना चाहिये। उस भगवान् में अखिल आचारों को समर्पित करते हुए काम, क्रोध, अभिमान आदि भावों को भी भगवान् के प्रति केन्द्रित रखना चाहिये। त्रिरूप (ईश्वर, भक्त और भक्ति) का भंग करके नित्य दास या कान्ता भाव से भजनात्मक प्रेम करना चाहिये (सूत्र ६१-६६)। एकान्तिन् भक्त ही मुख्य होते हैं। ये भक्त अनन्य होते हैं। ऐसे भक्त कंठावरोध, रोमांच, अश्रु आदि के साथ परस्पर भगवदालाप करते हुए अपने कुल को तथा पृथिवी को पवित्र करते हैं। इस प्रकार के भक्त तीर्थों को तीर्थ करते हैं (वस्तुतः तीर्थत्व प्रदान करते हैं), कर्मों को सुकर्म बनाते हैं, शास्त्रों को सत् शास्त्र बनाते हैं। वे, इस प्रकार, सदैव भगवन्मय रहते हैं। ऐसे भक्तों को देखकर पितृगण प्रसन्न होते हैं, देवता प्रसन्नता से नृत्य कर उठते हैं। यह पृथ्वी भी इन्हीं से सनाथ हो जाती है (पृथ्वी के लोगों को इनमें आश्रय मिलता है)। इन लोगों में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदि के आधार पर कोई भेद नहीं होता, क्योंकि ये सभी भगवान् के

ही हैं। ऐसे प्रेमियों को वाद-विवाद का अवलंबन नहीं करना चाहिये क्योंकि इससे वाद में बाहुल्य का अवकाश रहता है तथा वह भी अनियत रहता है। इसका त्याग कर (उतने समय में) भक्तिशास्त्रों का मनन करना चाहिये तथा भक्ति के उद्बोधक कर्मों को करना चाहिये। सुख, दुःख, इच्छा, लाभ आदि का पूर्ण त्याग होने तक क्षण भर भी व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये। अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिक्य आदि सदाचार का परिपालन करना चाहिये। सर्वथा, सर्वदा एवं सर्वभाव से निश्चिन्त होकर भगवान् का भजन करना चाहिये। इस प्रकार कीर्तित होकर शीघ्र ही भगवान् आविर्भूत होते हैं तथा भक्तों को अपना अनुभव कराते हैं। यह भक्ति तीनों कालों में ही सत्य है, श्रेष्ठ है। यद्यपि यह स्वरूपतः एक ही है किन्तु इसके एकादश प्रकार हैं—गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, कान्तासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति, परमविरहासक्ति। सामान्य जनों की कल्पना की परवाह न करनेवाले, भक्ति के सम्बन्ध में एकमत कुमार, व्यास, शुक, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, बलि, हनुमान, विभीषण आदि भक्ति के आचार्य भक्ति के सम्बन्ध में ऐसा ही कहते हैं।

ऊपर कहा गया है कि नारद के नाम से बहुत से ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। विद्वानों ने इन ग्रन्थों में नारदभक्तिसूत्र, नारदस्मृति, नारदीयशिक्षा, संगीतमकरंद, नारदपरिव्राजकोपनिषद्, नारदीयपुराण, नारदपंचरात्र आदि की गणना की है। महाभारत का नारायणीयोपाख्यान तो सर्वप्रसिद्ध है। इस लेख में नारद के नाम से प्रसिद्ध केवल दो ग्रन्थों की विषयवस्तु का संक्षिप्त परिचय जिज्ञासुओं और भक्तजनों के लिये दिया गया है। ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि नारद-द्वारा उपदिष्ट भक्ति के दो रूप इस समय-उपलब्ध हैं—एक तो योगज्ञान समन्वित भक्ति और दूसरी है परमव्याकुलतामयी, प्रेममयी, सतत स्मरणरूपा, अमृतस्वरूपा भक्ति। नारद का व्यक्तित्व भी विविध रूपात्मक है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन दो प्रकार की भक्तियों के उपदेश में अधिकारी भेद को ध्यान में रखा गया है। समय मिलने पर नारद के भी सम्बन्ध में कुछ लिखने का प्रयास करूँगा।

LIBRARY
No.............
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS.

अल्मोड़े में मातृ-सत्संग

(श्री श्री माँ के ६९वें जन्मोत्सव के समय पर)

श्री योगेश ब्रह्मचारीजी—माई, तुम्हारे मुख से दो बात सुनने के लिए कितने आदमी भूखे यहाँ बैठे हैं।

श्री श्री माँ—उन लोगों का बहुत स्नेह है यह बात है।

श्री श्यामसुन्दर (वृन्दावन वाले)—माँ, हमारे दोष क्यों नहीं छूटे ? गलती क्यों नहीं छूटती ?

श्री श्री माँ—दो—सौ छूटते नहीं—एक सौ नहीं रहते ?

श्री श्यामसुन्दर—एक सौ नहीं रहते—दो सौ ही रहते हैं।

श्री श्री माँ—दो सौ रह जाता है—एक सौ नहीं रहते हैं ? सह-सह-सह—एक सौ होने के लिए—दो सौ नहीं होने के लिए—सह-सह-सह—

श्री योगेशजी—सहन करो—सहन करो—सहन करो, क्या सहो ? क्या सहना—बताओ माँ ?

श्री श्री माँ—दुःख करके जो मानते हैं वह सहो।

श्री योगेशजी—जो दुःख करके मानते हैं वह सहन करें ?

श्री श्री माँ—हाँ,

श्री योगेशजी—दुःख को सहन कर लेना ?

श्री श्री माँ—हाँ जरूर,

श्री योगेशजी—अच्छा, तो दुःख को सहन करने से भगवान् मिलेगा ?

श्री श्री माँ—भगवान् मिलेगा ऐसी बात नहीं, जो आता है सहन करो भगवान् का दान है इस हिसाब से, भगवान् ही इस रूप में आया है, इसी से सहन करो, यह बात है।

श्री योगेशजी—उनका प्रश्न था कि दोष कैसे हटे, तो क्या दुःख के सहन करने से ही दोष हट जायगा ?

श्री श्री माँ—बस भगवान् का दान है यह मानकर सहन करो (थोड़ी देर बाद) दोष—किसका दोष है ? तुम्हारा अपना दोष है ?

श्री श्यामसुन्दर– हाँ माँ ।

श्री श्री माँ—क्या क्या दोष है बोलो ? जो दोष अपने आप पकड़ सकते हैं वह दोष नहीं रहते, शोधन होना शुरू हो जाता है। क्या यह बात ठीक नहीं है ? अपने दोष जो पहिचान सकते हैं तो शोधन होना शुरू हो जाता है।

श्री श्यामसुन्दर—संस्कार के संघ से काम क्रोध सब परेशान करते हैं।

श्री श्री माँ—इसी लिए भगवत् प्रसंग बाबा (श्री हरि बाबाजी) ने रखा है, भगवान् की कथा करें, भगवान् को रटा करें—तो अपने आप वह हट जाता है। बाबा तो सदा ही कहते हैं, बाबा की बात मैंने कह दी। जो सत्संग से दोष चले जाते हैं उसका सत्संग छोड़ो मत।

श्री श्यामसुन्दर—अच्छा संग कैसे पकड़े ?

श्री श्री माँ—छोड़ना पकड़ना हो रहा न, जब छोड़ने पकड़ने का सवाल नहीं आए तब वह बात नहीं रहेगी—छोड़ना पकड़ना जब तक है तब तक तो छोड़ना नहीं—जिससे दोष हमारे मिट जाते हैं वहाँ संग छोड़ना नहीं।

× × ×

श्री योगेश ब्रह्मचारीजी—माँ, तुम्हारे साथ हमारा कौन सम्बन्ध था जिसके लिए हम आज तुम्हारे पीछे इतना आ रहे हैं ? प्रियता री हमापूर्व जन्म की है या हमारे इस जन्म की है ?

श्री श्री माँ—बाबा तुम्हारे साथ तो आत्मिक सम्बन्ध है।

श्री योगेशजी—इस जन्म का या पूर्व जन्म का ?

श्री श्री माँ—आत्मिक सम्बन्ध कोई जन्म जन्म की अपेक्षा नहीं रखता—क्या ठीक है ! (श्री चक्रपाणि जी के प्रति) वह तो आचार्य है न—उसको पूछना चाहिए—(श्री चक्रपाणि जी ने कहा हाँ) आत्मा जो है वह

आपेक्षिक नहीं है क्या पिता जी ? उलटा सीधा हम कह दिया। चक्रपाणिजी ने कहा--नहीं माँ बहुत ही सत्य है।

श्री योगेशजी--आत्मिक सम्बन्ध हो तो आत्मा तो सब जगह है।

श्री श्री माँ--लेकिन जन्म-जन्म जो है आत्मिकता से अलग नहीं है "अलग तो है नहीं लेकिन आपेक्षिक भी नहीं है" जन्म की अपेक्षा आत्मा रखते हैं यह बात नहीं है। आत्मिक सम्बन्ध जो है नित्य सम्बन्ध है, जो जन्म-जन्म कहो तो नित्य-नित्य के साथ संयोग ही है, आत्मा संयोग क्या है--आत्मा ही है एक आत्मा।

श्री योगेशजी--एक आत्मा तुम सब जगह बताओगे तो मुरदा में भी आत्मा है।

श्री श्री माँ--जरूर-जरूर।

श्री योगेश जी--जिन्दा में भी आत्मा है--मुरदा में भी आत्मा है ?

श्री श्री माँ--आत्मा ही है--एक आत्मा ही है--'एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति'--और कुछ जो मान रहा इसी लिये तो इतना महात्मा इतना सुन्दर-सुन्दर अमृत बरसा के अनात्मा जो मान रहा उसको हटाने के लिए इतना प्रसाद तुम लोगों को देते हैं।

श्री योगेशजी--अनात्मा पदार्थ ही नहीं है।

श्री श्री माँ--जहाँ अनात्मा कर के मानते हैं वहाँ है अनात्मा रूप से-कौन हो, तुम्हीं हो--केवल अनात्मा ही रह जाओगे न ? रह जायगा--केवल अनात्मा ही मत मानो, आत्मा मानो तो तुमको सारा समाधान हो जाएगा कि आत्मा किसको कहते हैं और अनात्मा किसको कहते हैं--आत्मा बिना कुछ है ही नहीं।

श्री योगेशजी--आत्मा के सिवाय कुछ न रहे तो जैसे मुरदा में आत्मा है--यह तो हम लोग नहीं कहते हैं कि आत्मा इसमें है।

श्री श्री माँ--हम लोग जब तक रहे--इसमें उसमें जब तक रहे--तुमने जो कहा बिलकुल सही बात है। ऐसा ही होता है।

श्री योगेशजी—इसके ऊपर जाने से तो ये बातचीत कुछ नहीं रहेगी न।

श्री श्री माँ--बातचीत रहेगी कि नहीं—वह सवाल कहाँ है ?

श्री योगेशजी—वह सवाल शून्य के लिये रहा ।

श्री श्री माँ—जो शून्य के लिए वह पूर्ण नहीं है ? शून्य भी तो एक स्थिति है, एक स्थान है ।

श्री योगेशजी—जब तक माँ आत्मा बताते हैं, अनात्मा बताते हैं, तब तक हमारे भाषा है—हम बोलते हैं ।

श्री श्री माँ—जरूर ।

श्री योगेशजी—भाषा के ऊपर—मन के ऊपर जब चले जाते हैं उसको आत्मा कहने का कोई मौका हमारे को नहीं रहा ।

श्री श्री माँ—क्या रहेगा कि नहीं रहेगा—वह सोचने वाला रहे ।

श्री योगेशजी—तब तो कोई रहा नहीं ।

श्री श्री माँ—'नहीं' नहीं रहा—ठीक है ?

श्री योगेशजी—माँ, वहाँ सोचना, बोलना कुछ न रहा तो आत्मा है कि अनात्मा है?

श्री श्री माँ—क्यों—क्या गूँगा है ? गूँगा नहीं है, बोल नहीं सकते यह बात नहीं । आ सकते हैं वहाँ । जो है वही है, उसके सिवाय और कोई नहीं, एक श्री कृष्ण, एक श्री कृष्ण, राम कहो, आत्मा कहो, वही है, वही है, वही है ।

श्री योगेशजी—वही कैसे होते हैं माँ ? राम हुऐ त्रेता में, कृष्ण हुऐ द्वापर में ?

श्री श्री माँ—जरूर, जरूर जो द्वापर में होना चाहिए जरूर होगा, जो त्रेता में होना चाहिये जरूर होगा । हुई है ।

श्री योगेशजी—एक कैसे रहा ?

श्री श्री माँ—एक कैसे रहा हम बताते हैं, तुम किसी का पुत्र है—है कि नहीं ? तुम किसी का पिता है, है कि नहीं ? तुम किसी का पति है, है कि नहीं ? तो बोलो सब एक कैसे हो गया ? (सब लोग जोर से हँस पड़े) प्रत्यक्ष बात है, थ्योरी (theory) नहीं है ।

श्री योगेशजी—माँ, तुम्हारे मन्दिर में तीन मूर्ति की पूजा होती है, त्रेता के रामजी की भी होती है, कृष्ण जी की भी होती है, नारायण जी की भी होती है।

श्री श्री माँ—जरूर जरूर

श्री योगेशजी—एक ही को क्यों नहीं रखती हो तुम ?

श्री श्री माँ—एक ही है (सब लोग फिर जोर से हँस पड़े)

श्री योगेशजी—माँ, तुमने तो तीन मूर्ति रखी हैं फिर भी एक ही कह रहे हो।

श्री श्री माँ—तीन में एक है, एक में तीन है।

श्री योगेशजी—भोग भी अलग-अलग लगाते हो।

श्री श्री माँ—जरूर लगेगा, अलग रहते हुए भी एक हैं, उनका तो चमत्कार वही है—विग्रह रहते हुए भी विग्रह के अतीत हैं और विग्रह से अतीत रहते हुए भी विग्रह-विशेष रूप से ग्रहण करते हैं, जैसा जल और बरफ—बरफ में क्या जल है कि नहीं ? बोलो—सब-तो कैसे रहते हैं बाबा ? भगवान् स्वयं आत्मा है, स्वयं विग्रह रूप से भक्त के पास और अद्वैत वेदान्त रूप से निराकार, जो पानी जिस पात्र में रखोगे वही आकार धारण करेगा, करेंगे, करते हैं।

श्री योगेशजी—माँ उधर से बात लौटाकर एक बात तुमसे पूछूँ ? यह तुम्हारे लिए बात है—अच्छा तुम्हारे जन्मकालीन बादल क्यों आते हैं ? हरसाल बरसा क्यों ? यह वरुण देव से तुम्हारा क्या सम्बन्ध है ?

श्री श्री माँ—पिताजी, जन्म किसका है, तुम्हारा जन्म है, तुम्हारा ही जन्म है, अच्छा तुम ही हो, बादल भी तुम ही हो, तुम अपने को मिलने आप आता है।

श्री योगेशजी—अभी तक समझ में नहीं आया माँ।

श्री श्री माँ—समझ, असमझ, बेसमझ जब तक रहे, तब तक तो ऐसा ही है, अनुभव और प्रत्यक्ष दो बात होती है, अनुभव भी, अनुभव करनेवाला, अनुभव, और जिसको अनुभव करे, वह भी नहीं होता, और प्रत्यक्ष हुआ जो है ही, वह जब तक न हो तब तक तो दूसरी बात नहीं—

श्री योगेशजी—माँ, जब वह आते हैं संसार में तो देवता भी तो साथ-साथ आते हैं।

श्री श्री माँ—उनके साथ कौन नहीं, सभी उनके साथ हैं, जन-जनार्दन ही तो बैठे हैं, जनार्दन ही तो बैठे हैं, हरेक रूप में और क्या, तो वरुण देव क्यों दूर रहे, वह भी इतना सुन्दर सुन्दर सत्सङ्ग होते हैं क्यों नहीं प्यारा संयोग देंगे, वह भी योगदान करने आता है।

श्री योगेशजी—तुम्हारे जन्म-उत्सव में ?

श्री श्री माँ—क्यों, बहुत से लोगों के उत्सव में भी कोई कोई आता है, उनका आने-जाने का स्वभाव है, अगर specially कहो तो, ऐसा कहा जाएगा कि जो बड़े बड़े महात्मा के श्रीमुख से अमृत बरस रहा है, तो वह भी बरसाने आता है, शान्त करने के लिए, ठंडा करने के लिए, हक देने के लिए। यहाँ तो उल्टी-सीधी जो बात है सुनो, शास्त्रीय बात, सुन्दर-सुन्दर भक्त कथा सुनते हैं, ऊटपटांग तुमको अच्छा लगे तो सुनो।

श्री योगेशजी—तुमने पढ़ा नहीं इसलिए ?

श्री श्री माँ—पढ़े तो पूछे, जो पढ़ता नहीं तो पूछना भी नहीं—और जो पास कर लिया होए तो पूछना ही नहीं।

श्री योगेशजी—नहीं माई, ऐसा नहीं, हमारे महाप्रभु जी किसी एक लड़के से हरी नाम कहलाते थे, सो हरी नाम उसके मुख से नहीं निकला, बहुत चेष्टा की तो उन्होंने कहा, कि जंगल के शेर से भी हमने हरी नाम कराया और तुम विद्वान् का लड़का होते हुए भी, हरी नाम नहीं करते हो, इतने में नित्यानन्द जी आये दौड़ के। वह बोले—देखिए महाप्रभु-ऐसा नहीं वह तो इसका इष्ट नाम है वह जो तुम हरी नाम करा रहे, वह तो तुमने उसके मन में कभी पैदा कर दिया, वह तो इसका इष्ट नाम है, इसलिए वह तुम्हारे सामने इष्ट नाम नहीं लेता, तो महाप्रभु बड़े खुश हो गए। अब तुम्हारे सामने आकर इनका (अर्थ यह कि सब लोग जो जमा हैं) जो संशय था, प्रश्न था, सब भूल गया। सचमुच माँ तुम पूछो सब यही जवाब देंगे।

श्री श्री माँ—भूल गया ?

श्री योगेशजी—हाँ माँ, हमको सब बार-बार जा के कहते हैं, आप माँ से कुछ कहलवाइए, यहाँ आके कुछ प्रश्न नहीं रहते हैं, सब भूल गया।

श्री श्री माँ—बहुत अच्छा है, प्रश्न न रहे तो बहुत अच्छा है, प्रश्न उठे तभी तो कष्ट है, प्रश्न में ही कष्ट है, प्रश्न के अतीत चले गए तो और चाहिए क्या ? थोड़ी देर के लिए भी सत्सङ्ग जो हो जाय तब भी वह बहुत लाभवान् हो रहा—यह सब अमृत बरस रहा। यह सब सत्सङ्ग से हो जाय थोड़े टाइम के लिए भी, क्षणभर के लिए भी—सारा सब—तो और चाहिए क्या ? तब तो जीवन धन्य हो जाता है।

श्री योगेशजी—माँ, यह लोग तुमको मन दिया या तुमने मन लिया ?

श्री श्री माँ—कौन ?

श्री योगेशजी—तुम ?

श्री श्री माँ—भगवान् ने उनका मन ले लिया या दे दिया—वह तुम सोचो। देना-लेन उनके हाथ है, देना भी उनको है, लेना भी उनको है।

श्री योगेशजी—तो यह समझ में आता है कि तुमने ले लिया—क्योंकि वह तो मन देने वाले नहीं—मन तो कोई किसी को नहीं दे सकता है।

श्री श्री माँ—हे भगवान्, तुमने ले लिया होगा, तुम्हारी अहेतु कृपा है।

—क्रमशः

कैलास-मानसरोवर-प्रदक्षिणा

श्री 'दत्त'

यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम् ।
निर्विकाराः क्रियाः सर्वाः स तीर्थफलमश्नुते ॥

—स्कन्दपुराण माहे० उमा० २।६

ज्यों-ज्यों हमारी मोटर सुन्दर और स्वच्छ मार्ग तय करती पहाड़ पर चढ़ने लगी, त्यों-त्यों हम लोगों को चक्कर आने के आसार दीख पड़े। इससे बचने के लिए साथ के यात्री सिर झुकाकर सोने का यत्न करने लगे। मैं ड्राइवर के निकट बैठा था, इसलिए मुझ पर औरों से कम चक्कर का प्रभाव पड़ा। उससे बचने के लिए मैंने अपनी दृष्टि चारों ओर के पहाड़ों की सुषमा की ओर मोड़ी। बीच-बीच में वह ऊपर नील गगन की ओर भी आकृष्ट हो जाती। मुझे स्मरण है कि बदरीनाथ और केदारनाथ की यात्रा में जब मोटर इसी तरह के सर्पाकार मार्ग पर दौड़ती पहाड़ों पर चढ़ती-उतरती तो भीतर बैठे अनेक यात्री चक्कर के बुरी तरह शिकार हुए थे। बहुत से सो गये थे तो कितने ही खिड़की के बाहर मुँहकर वमन कर रहे थे। मसूरी, शिमला, उटकमण्ड आदि पार्वत प्रदेशों [hill-stations] में मोटर-बस द्वारा जानेवाले अधिकांश पर्यटकों का यही हाल देखा जाता है। चक्कर से बचने के लिए काली मिर्च और नमक के साथ नींबू चूसना लाभदायक होता है। अथवा नींबू के रस में भीगी अदरख की सुखौनी भी हितावह होती है। अमरनाथ की यात्रा के समय मोटर-बस द्वारा जम्बू से श्रीनगर जाते समय मैंने कुछ नींबू साथ रख लिये थे। मुझे और अन्य कितने ही यात्रियों को उससे बड़ा लाभ पहुँचा। चक्कर से बचने के लिए कुछ यात्री अपने साथ 'एण्टी वोमटिंग टेबलेट' [anti-vomiting tabtets] नामक अंग्रेजी दवा भी रख लेते हैं। मोटर बस द्वारा पहाड़ों की यात्रा के अनुभव से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि जो यात्री ड्राइवर के निकट के स्थान को सुरक्षित [reserve] करा लेते हैं, वे पीछे बैठे

यात्रियों की अपेक्षा चक्कर से कम प्रभावित होते हैं। कारण वहाँ से दीखनेवाले चारों ओर के दूरवर्ती मनोरम दृश्य उनका मन अपनी ओर खींच लेते हैं और इस तरह वे आसानी से चक्कर के दुष्प्रभाव को भुलाने में समर्थ हो जाते हैं।

मोटर तेजी से आगे बढ़ रही थी। भीतर वातावरण शान्त था। प्रायः सभी पर निद्रा का आंचल छा गया था। फिर भी वातावरण की निःस्तब्धता को भंग करते हुए मैंने धीरे से ड्राइवर से पूछा—"भाई, अल्मोड़ा किस दिशा में है?" कुछ क्षण तो वह मौन रहा। मुझे तुरत स्मरण हो आया कि पहाड़ पर जब वाहन अपनी तीव्र गति से चलता हो तो ड्राइवर से बातें करना उसके उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य में विक्षेप लाना है। इससे कई बार ड्राइवर का लक्ष्य विचलित हो जाता और वह वाहन पर से काबू खोकर भारी दुर्घटना कर बैठता है। इसीलिए दुबारा मैं उससे प्रश्न न कर मौन रह गया। मानो मेरा भाव समझ गया हो, इसलिए दृष्टि लक्ष्य पर ही रखते हुए विनम्र भाव से उसने प्रत्युत्तर दिया—"बाबाजी, आपको स्मरण होगा कि काठगोदाम से प्रायः १२ मील तय करने के बाद हमारी मोटर कुछ देर के लिए एक जगह पर धीमी हुई और आगे न जाकर बायें हाथ के मोड़ पर मुड़ गई थी। वहाँ से जो मार्ग सीधा जा रहा था, वही मवाली होकर अल्मोड़ा जाता है। इस मार्ग पर प्रायः १ मील आगे जाने के बाद एक पगडंडी लगती है जिससे होकर यहाँ के पहाड़ी लोग नैनीताल आते-जाते हैं। इस पगडंडी से नैनीताल केवल तीन मील पड़ता है।" मुझे स्मरण हो आया कि जहाँ से हमारी मोटर अल्मोड़ा मार्ग छोड़ नैनीताल-मार्ग की ओर मुड़ी थी उसी मोड़ पर दिशासूचक एक काष्ठस्तम्भ था, जिस पर अल्मोड़ा और नैनीताल मार्गों की दिशाएँ अंकित थीं।

मोटर में पुनः पूर्ववत् शान्ति छा गई। कुछ ही देर बाद मोटर-चालक ने स्वयं ही पुनः बातचीत का क्रम शुरु किया—"सामने के पहाड़ पर दो सुन्दर घर दीख रहे हैं, वे नैनीताल के ही हैं।" सचमुच सामने के हरे-भरे पहाड़ पर स्थित ये सफेद छोटे-बड़े घर बरबस चित्त आकृष्ट कर लेते हैं, मानों कपास के पौधों पर रुई की डोडियाँ लगी हों। कोई-कोई मकान तो पहाड़ के शिखर को छूते

तो कितने ही उसकी तलहटी की ओर एक दूसरे से कुछ अन्तर पर बिछे से दीखते। कितने ही मकान हरे-भरे वृक्षों की ओट में छिप गये होंगे, यह सहज ही अन्दाज लगाया जा सकता था। पहाड़ की हरी-हरी भूमि, ऊपर निरभ्र नील आकाश, प्रेरणाप्रद सूर्य की सुनहरी-धूप, नयनाभिराम दिग्वधुओं का प्राकृतिक सौन्दर्य, मन्द-मन्द प्रवहमान, मधुर, मादक-सुगन्धि समीर--ये और ऐसी-ऐसी विविध प्राकृतिक सुषमाएँ क्या बड़े-बड़े कृत्रिम सौन्दर्य से सजे शहरों को कभी नसीब हो सकती हैं ? ऐसे सुन्दर पार्वतनगर का उल्लासप्रद मूर्तिमन्त चित्र देख लगा कि विश्वस्रष्टा की अतुल शक्ति का कुछ अंश, कुछ क्षणों के लिए मुझसें संचरित हो जाय तो मैं एक दूसरे से एकदम सटकर खड़े घरों वाले विश्व के सभी शहरों को मुट्ठियों में भर-भरकर ऐसे छलकते सौन्दर्य वाले पहाड़ों पर छिटक दूँ और शारीरिक और मानसिक महाव्याधि के विकराल द्रष्टाओं में दबती मानव जाति को उबार लूँ।

कल्याणकारी विचार-कुसुमों की माला गूँथते-गूँथते कितना समय बीत गया, पता ही नहीं चला। जब मोटर रास्ते के एक बाजू धीमी होकर रुकी,तो अकस्मात् विचारतन्द्रा टूटी। मोटर चालक ने बताया—"यह चुंगी-चौकी है।" सुनते ही सहयात्री भी जग पड़े। यहाँ पर नगर-प्रवेश करनेवाले प्रत्येक पर्यटक से नगर-महापालिका द्वारा प्रवेश कर (toll-tax) वसूल किया जाता है। मोटर बस के प्रत्येक यात्री के लिए कर है एक रुपया, तो टैक्सीवालों को प्रति यात्री दो रुपये देने पड़ते हैं। पैदल यात्री के लिए किसी प्रकार का कर नहीं है। नगर में मोटर का प्रवेश निषिद्ध है। कोई विशेष कारणवश उसे नगर में ले जाना चाहे तो १० रुपया अलग से कर देकर रसीद साथ में रखनी पड़ती है। नियमानुसार सब लोगों का और वाहनों का प्रवेश-कर चुकाया गया और गौरव के साथ हम लोग नगर में प्रविष्ट हुए।

हरी रेशमी चादर ओढ़ ध्यानस्थ बैठे दूरवर्ती पहाड़ अब सामने स्पष्ट दीखने लगे। पहाड़ पर ऊँचे-ऊँचे हरे वृक्ष अपनी शाखाएँ ध्वजा-पताकाओं की तरह फहरा कर नव आगन्तुक को सन्देश दे रहे थे कि यही भगवती परामबा नयना देवी

का दरबार है। कितना सुन्दर दृश्य था वह! इतने में हमारी मोटर की आवाज सुनकर वृक्षों की झुरमुट से झाँकते हुए एक सुहावने पक्षी ने बड़ा ही श्रुति-मधुर स्वर अलापा, मानो अतिथि के भावभरे स्वागतार्थ प्रकृतिमाता ने ही उसे प्रेरित किया हो। मुझे लगा कि प्राकृतिक सौन्दर्य से सराबोर इस पुण्यस्थली का मनमोहक जड़ जीव भी जब इतना सभ्य और अतिथिसत्कार की उदात्त भावना से भरा है, तो यहाँ के निवासियों में इन भावों का पूछना ही क्या? नैनीताल के अपने निवास काल में मुझे बाद में इस कल्पना की सत्यता का पूर्ण प्रमाण मिला।

नगर में प्रवेश करते हुए बायीं ओर बहुत-सी मोटर-बसें दिखायी दीं। सहयात्री ने बताया कि यही यहाँ का बस-स्टेशन है। रानीखेत, अलमोड़ा आदि पार्वत प्रदेशों के लिए यहीं से बसें मिलती हैं। पर्यटकों की भीड़ देखते हुए मोटर बसों की कमी स्पष्ट प्रतिभासित हो रही थी। जिस प्रकार दिल्ली से सीधे मसूरी के लिए वातानुकूलित [air-conditioned] बसों की व्यवस्था है, उसी प्रकार नैनीताल के लिए भी व्यवस्था हो जाय, तो पर्यटकों को सवारी की इतनी परेशानी न हो, भारत के विभिन्न स्थानों से अधिक से अधिक पर्यटक इस रम्य पार्वत नगर का पूरा लाभ उठा सकें। कुछ ही दिनों में इस नगर का आकर्षण अन्य पर्वतीय नगरों से कई गुना बढ़ जाय।

हमारी मोटर अब तल्ली-ताल[1] के किनारे-किनारे मल्ली-ताल[2] की ओर आगे बढ़ रही थी। मार्ग अत्यन्त स्वच्छ एवं सुन्दर था। दर्पण सा स्वच्छ चित्ताकर्षक ताल और उसके बीच हंसों की-सी विहार करती कतिपय नौकाएँ तथा गौरव के साथ उन्नतमस्तक तटवर्ती हरे-हरे वृक्ष क्षण भर में यात्राजन्य क्लान्ति को नव उत्साह में परिणत कर देते। यहाँ की प्रेरणाप्रद गुलाबी ठंडी हवा से सहज ही अनुमान किया जा सकता था कि इस स्थान की ऊँचाई कम से कम छः हजार फूट तो होगी ही। सामने तालाब के ऊपरी भाग में एक छोटा-सा मन्दिर दृष्टिगोचर हुआ।

१—यहाँ की पहाड़ी भाषा में ताल के ऊपर के भाग को "तल्ली-ताल" कहते हैं और ताल के नीचे के भाग को 'मल्ली-ताल" कहते हैं।

सहयात्री एक व्यक्ति ने बताया कि यही नगर की अधिष्ठात्री भगवती नयनादेवी का पीठ स्थान है, मन्दिर है। मैंने भावभक्ति से उस दिशा को प्रणाम किया।

सुन्दर मार्ग से आगे बढ़ती हमारी मोटर नगर की एक गली में मुड़ी। इस रास्ते से होकर हमें अपने निवास स्थान पहुँचना था। कुछ आगे बढ़ते ही मोटर-चालक ने सहसा “ब्रेक” दिया और गाड़ी रुक पड़ी। अन्दर बैठे यात्रियों को कुछ झटका तो लगा, किन्तु किसी को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँची। इतने में देखा कि एक बालक दाहिने हाथ की एक गली से दौड़ता आया और हमारी मोटर के सामने से रास्ता पार कर गया। बालक के दौड़ने की आवाज कान में पड़ते ही समझदार ड्राइवर ने एकदम “ब्रेक” लगाया था। यदि वह इतनी सतर्कता न बरतता तो “प्रथमग्रासे मक्षिकापातः” की नौबत आती और यात्रा का सारा रंग ही किरकिरा हो जाता। भगवान् ने भीषण दुर्घटना से हमारी जो रक्षा की, तदर्थ मन ही मन सबने उनके प्रति शतशः श्रद्धा-भक्ति व्यक्त की। अनुभवी सन्त महात्मा कहते हैं कि कैलास दर्शनार्थ जानेवाले यात्रियों की भगवान् शंकर हर प्रकार से रक्षा करते हैं। इसका प्रत्यक्ष, ज्वलन्त, प्रमाण पहली बार यहाँ देखने को मिला। सन्तों ने सच ही कहा है—“जाको राखे साइयाँ, मार न सकिहैं कोय।”

वहाँ से आगे बढ़कर हमारी मोटर एक ऊँचे मार्ग से गुजरती पहाड़ पर के मनोनीत सुन्दर निवासस्थान ‘सेण्ट क्वेण्टाइन’ [दीपक] में सही सलामत प्रविष्ट हुई। पहले से भेजे नौकरों ने मकान अच्छी तरह साफ कर सजा दिया था। आवश्यक वस्तुएँ भी खरीद कर रख ली गई थीं। सुखी-घर के प्रांगण में प्रवेश करते ही नौकर-चाकरों ने सामने आकर सभी का पहाड़ी रीति-रिवाज के अनुसार भावभरा अभिवादन किया। उद्यान में प्रविष्ट होते ही सुन्दर विकसित रंग-बिरंगे फूलों ने चक्षु और घ्राण को साथ-साथ पूर्ण तृप्त कर दिया। उसी में खोया हुआ-सा मैं पास ही अति उन्नत चीड़ वृक्ष के नीचे गोल पटरे पर बैठ गया। चारों ओर हरे-भरे पहाड़ों पर के मोहक छोटे-बड़े घर और वहाँ पहुँचने के लिए सर्पाकार पगडंडी, नीचे की ओर दूर-दूर तक विस्तृत गृह श्रेणियाँ आदि सुन्दर दृश्यों ने

यात्रा का श्रम-परिहार कर दिया। कुछ समय तक विश्राम करने के पश्चात् मैंने प्रभु चिन्तन करते हुए उस सुखी-गृह में प्रवेश किया।

रम्य नगरी नैनीताल का इतिहास बड़ा ही सरस है। इस पार्वत-शहर [उत्तर अक्षांश २९°, २४′ × पूर्व देशान्तर ७९°, २८′, ऊँचाई ६३५० फुट] का नाम क्षेत्र की अधिष्ठात्री भगवती नयना देवी के नाम पर पड़ा है। किन्हीं-किन्हीं विद्वानों के मतानुसार यह 'नारायणी देवी" है, तो कोई इन्हें "नैना देवी" कहते हैं। वे मानते हैं कि यह "नैना देवी" शब्द "नयना देवी" का अपभ्रंश है। यहाँ सती का "नयन" अवयव गिरा था। इसलिये भारतीय शक्तिपीठों में यह भी एक है।[1]

किन्तु वस्तुतः ये दोनों शब्द 'नन्दादेवी' शब्द के अपभ्रंश हैं। देवीभागवत एवं मत्स्यपुराण में कहा है कि अष्टोत्तर शत [१०८] शक्तिपीठों में हिमाचल पर्वत पर "नन्दादेवी" नाम से भगवती का निवास है: "नन्दा हिमवतः पृष्ठे..." [देवी भा० ७-३०-५५-८४; मत्स्यपुराण १३।२६-५६][2]। इस प्रकार इस तालनिवासिनी भगवती "नन्दादेवी" के नाम पर नगर का नाम 'नैनीताल' पड़ा है।

---

[1] १—'तंत्रचूडामणि' में कहा है—' करवीरे त्रिनेत्रे मे देवी महिषमर्दिनी......" अर्थात् महाराष्ट्र के कोल्हापुर क्षेत्र में भगवती सती के तीन नेत्र पड़े थे। इस शक्तिपीठ में भगवती 'महिषमर्दिनी' नाम से और भैरव 'क्रोधेश' नाम से विराजमान हैं।

[2] २— नैनीताल से मीलम होकर "कैलास-मानसरोवर" के यात्री को एक स्थान पर निकटवर्ती नन्दादेवी पर्वत [२५६६१ फुट] के अद्भुत दर्शन होते हैं। इस पर्वत की गोद में एक स्थान पर नन्दादेवी का मन्दिर है, जो शक्तिपीठ माना गया है। महाकवि कालिदास ने कुमारसम्भव महाकाव्य में लिखा है कि नन्दा देवी-निवासिनी नन्दापार्वती की गोद में, नन्दादेवी स्थान पर कुमार [कार्तिकेय] का जन्म हुआ था। लगता है, नैनीताल प्रदेश के शक्ति-उपासक पहाड़ी लोगों ने नन्दादेवी के नाम पर नैनीताल में यह मन्दिर स्थापित किया हो जिससे दूरवर्ती नन्दादेवी पर्वत की शक्तिपीठ की यात्रा में असमर्थ लोगों को भी भगवती की उपासना का लाभ हो सके।

यहाँ पर भाद्र शुक्ल अष्टमी के दिन पर [नन्दाष्टमी के दिन] बड़ा भारी धार्मिक मेला लगता है। इससे भी पता चलता है कि इन भगवती का नाम "नन्दादेवी" है।

कूर्मांचल [कुमाऊँ] क्षेत्र के गर्गांचल नामक पर्वतश्रेणी में यह शहर बसा है। प्राचीन समय में यह पार्वत प्रदेश कुमाऊँ के कत्यूरी-राजवंश के अधीन था। उस समय भी इस प्रदेश के चारों ओर बस्ती थी। कहा जाता है कि ईसवी सन् १८३९ की मार्च में पर्यटन प्रेमी मि० बैटन नामक एक अंग्रेज अपने साले शाहजहाँपुर के व्यापारी मि० बैरन को साथ लेकर शिकार खेलता हुआ भीमताल होता हुआ खेरना के मार्ग से नैनीताल पहुँचा। यहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य ने उन्हें मुग्ध कर दिया। उन्होंने किसी पहाड़ी से सुन रक्खा था कि यहाँ तालाब के समीप भगवती नयनादेवी का मन्दिर भी है। अतएव उन्होंने यहाँ वालों के समक्ष उक्त मन्दिर देखने की इच्छा व्यक्त की। किन्तु धर्मप्रिय पहाड़ी लोगों ने ऐसे शिकारी विधर्मी को देवी के पवित्र स्थान में ले जाना पसन्द नहीं किया और उस स्थान के विषय में अपनी अनभिज्ञता व्यक्त की। कहते हैं, कि दुबारा वे इस क्षेत्र में आये थे और अन्य एक पहाड़ी के सहयोग से उन्होंने मन्दिर देखा।

ईसवी सन् १८४१ में कलकत्ते के "इंगलिशमैन" [Englishman] नामक अखबार ने सर्वप्रथम नैनीताल के अद्भुत पर्वतीय स्थान के बारे में जानकारी दी। उसके बाद "आगरा न्यूज" [Agranews] में मि० बैरन ने 'पिलग्रीम [Pilgrim] नाम से नैनीताल के विषय में एक रोचक लेखमाला शुरू की, जिसे पढ़कर सैकड़ों लोगों को इस पर्वतीय स्थान के पर्यटन की उत्सुकता जाग उठी। यद्यपि सर्वप्रथम कुमाऊँ प्रदेश के प्रथम कमिश्नर मि० ट्रेल ने नैनीताल नामक रम्य पार्वत-प्रदेश के अस्तित्व का उल्लेख किया था, किन्तु लोगों ने जाने क्यों, इस ओर ध्यान नहीं दिया। मि० ट्रेल के परवर्ती कुमाऊँ प्रदेश के कमिश्नर मि० लुशिंगटन ने अपने लिए नैनीताल में एक काष्ठगृह बनवाया। मि० बैरन ने भी यहाँ अपना एक मकान "पिलग्रिमलॉज" [Pilgrim lodge] नाम से बनवाया था। इसके बाद धीरे-धीरे नैनीताल का विकास होता गया।

भारत के ग्रीष्मकालीन पार्वत-नगरों में नैनीताल को मुकुटमणि कहा जा सकता है। यहाँ के मौसम के महीने हैं, अप्रैल, मई, जून, और सितम्बर तथा अक्टूबर। मैंने देखा कि मौसम के आरंभ में ही भारत के विभिन्न स्थानों से धनी-

मानी, सरकारी अधिकारी, लेखक, कवि, चित्रकार पर्यटक आदि आने लगे थे। मौसम में इस नगर की शोभा और ही हो जाती है। नगर तरह-तरह के नागरिकों से सज जाता है और विविध भाषाओं से गूंज उठता है। यहाँ का तापमान ३२° से ८५° तक रहता है। जलवायु में यह चमत्कार है कि कुछ दिन रहने पर शुष्क चेहरा सेब-सा हो उठता है।

नगर में छोटे-बड़े अनेक होटल, धर्मशाला, डाक, तार, टेलीफोन आदि, विजलीघर, स्कूल, कालेज, लाइब्रेरी, अस्पताल, सिनेमाघर आदि हैं। खेलकूद के लिए पोलो, फुटबाल, हाकी, वालीबाल, गोल्फ, क्रिकेट आदि खेलों के मैदान, जिमखाना, क्रिकेटकल्ब, बोट कल्ब आदि हैं। ताल में नाव पर बैठकर "झिझरी" नामक खेल खेलने की तथा घोड़े पर बैठकर निकटवर्ती पहाड़ों में सैर करने की सुविधा है।

पहले उत्तर प्रदेश की राजधानी ग्रीष्म के चार महीने के लिए यहाँ स्थानान्तरित की जाती थी। किन्तु अब यह प्रथा बन्द हो गई है। कहा जाता है कि इस रम्य नगरी में पहुचते ही कर्मचारी आरामतलब हो जाते थे, और उससे काम भी अपेक्षाकृत कम होता था। सरकार को अपना कार्यालय लाने ले-जाने में अधिक खर्च पड़ता था।

प्रायः सायंकाल के समय मैं और राजा साहब निकटवर्ती हरे-भरे मोहक पहाड़ों की सैर करने निकल पड़ते। हमारे निवास के पीछे ही एक ऊँचा पहाड़ था जिसके शिखर पर बैठ हमलोग नैनीताल और दूर-दूर के अनेक स्वाभाविक, प्राकृतिक सौन्दर्य में अपने को खो देते थे। ये प्राकृतिक दृश्य "कैमरे" [camera] की आँखों देखने की अपेक्षा अपनी सारग्राही आँखों से देखना अधिक आनन्दकर होता है। कभी-कभी हमलोग शहर में भी घूमने जाते और मल्लीताल के किनारे पर स्थित भगवती पराम्बा नयनादेवी के दर्शन भी करते। दो-तीन बार हमलोगों ने नौका-विहार का भी आनन्द लिया। ताल में प्रतिबिम्बित चारों ओर के हरे-भरे पहाड़ एवं निकटवर्ती उन्नत वृक्ष श्रीमद् आद्यशंकराचार्य के "विश्वं दर्पण दृश्यमान नगरी" श्लोक की स्मृति ताजी करते थे। एक बार तो नौका बिहार के समय सहसा वर्षा शुरू हो गई और आँधी तूफान के भी लक्षण दीख पड़े। आनन्द

भय में परिणत हो गया। नौका शीघ्र ही सही सलामत किनारे लग जाय, यही अन्तर से भगवती के श्रीचरणों में हमलोग बार-बार प्रार्थना कर रहे थे। जब नौका किनारे लगी तभी हमलोगों ने छुटकारा पाया। अन्तर में विचार उठा कि जीवन-रूपी नौका के विषय में भी ऐसे ही भयभीत कातर प्रार्थना मानव करे, तो निःसन्देह उसकी नौका किनारे लग जाय।

(क्रमशः)

वेदान्त वार्ता*

स्वामी नारायणानन्द तीर्थ

प्रस्तावना—

गत अनुमान तेरह वर्ष से परमाराध्या विश्वजननी श्री श्री माता आनन्दमयी जी की परम पवित्र उपस्थिति में "संयम सप्ताह" भारत के विभिन्न स्थानों में अनुष्ठित हो रहा है। माताजी की विशेष आकर्षण-शक्ति से प्रभावित होकर भारत के नाना स्थानों से विशिष्ट-विशिष्ट महात्मागण तथा साधु, सन्त, संन्यासी, ब्रह्मचारी, पण्डित और मातृ-सन्तान समूह इस अनुष्ठान में सम्मिलित होकर इसको साफल्य-मण्डित कर रहे हैं। ब्राह्म-मुहूर्त से रात्रि के दस बजे तक सारा समय लगातार कीर्तन, भजन, जप, ध्यान, मौन, पाठ तथा भाषणादि द्वारा व्रतचारियों का किस तरह से सुन्दर सत् चिन्ता और परम आनन्द से बीतता है, वह वर्णनातीत है। इस पवित्र अनुष्ठान में प्रसिद्ध-प्रसिद्ध मण्डलेश्वरगण और संन्यासीवृन्द अद्वैत-वेदान्त पर अतिशय सारगर्भित भाषणादि प्रदान कर जनता को मन्त्रमुग्धवत् कर देते हैं। उन सब मर्मस्पर्शी आलोचनाओं के विषय-सूत्र का अवलम्बन करके ही "वेदान्त-वार्ता" लिखने का संकल्प मेरे मन में उदित हुआ है। यह प्रकाशन के लिए नहीं

---

*इस लेख को लिखते समय निम्नलिखित चन्द पुस्तकों की सहायता ली गई है—

१—परमहंस परिव्राजकाचार्य दण्डी स्वामी श्रीमत् मधुसूदन सरस्वतीकृत अद्वैत सिद्धि का श्री राजेन्द्रनाथ घोष कृत वंगानुवाद।

२— श्रीमत् स्वामी गम्भीरानन्द सम्पादित उपनिषत् ग्रन्थावली।

३—श्रीमत् स्वामी अनिर्वाण प्रणीत दिव्य जीवन प्रसंग।

४—श्रीयुत् दुर्गाचरण चट्टोपाध्याय कृत पंचदशीका वंगानुवाद।

५—योगवाशिष्ठ रामायण का हिन्दी अनुवाद।

बल्कि मेरे अपने मनन के लिए है। आनन्द-वार्ता के सम्पादक महोदय के कहने से यह प्रकाशन के लिए दिया जा रहा है।

सनातन धर्मावलम्बी आर्य-ऋषिसन्तान हिन्दुओं का सर्वप्रधान धर्मग्रन्थ वेद है। इस वेद के ऊपर भित्ति-स्थापन करके ही सनातन हिन्दु-धर्म सुप्रतिष्ठित है। धर्म-शासन में यह वेद ही केवलमात्र सक्षम है। धर्मशास्त्र, स्मृति, पुराणादि विभिन्न धर्म-पुस्तकों के द्वारा भी धर्म शासित अवश्य ही हो रहा है, इसमें कोई भी संशय की बात नहीं है, परन्तु वें तब तक ही प्रामाण्य हैं जब तक वेदों का अनुसरण करते हैं। वेद को श्रुति भी कहा जाता है; क्योंकि विभिन्न कालों में अति सूक्ष्म शक्ति द्वारा आर्य ऋषियों ने इसको श्रवण किया था। महात्माओं ने अपनी अतीन्द्रिय दिव्यशक्ति के द्वारा इसे श्रवण किया है, इसीलिए इसका नाम श्रुति पड़ा है। अभी भी शक्तिमान मनीषिगण वेद-श्रवण करते हैं। उनकी भावावस्था में वेद स्तोत्राकार में निर्गत वा उच्चारित होता है। ऋषियों ने वेद-रचना नहीं की है; वे लोग तो वेदमन्त्रों के द्रष्टामात्र हैं। उक्ति भी है, "ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो न तु वेदस्य कर्तारः"। साधारण इन्द्रियग्राह्य शक्ति के द्वारा यह जाना नहीं जा सकता। वह अतीन्द्रिय, असामान्य शक्ति जिन-जिन मानवों में उद्भूत होती है केवल मात्र वे ही ऋषि नाम से अभिहित हो सकते हैं। तथा जो सत्य वे लोग उपलब्ध करते हैं वह ही वास्तव में "वेद" पदवाच्य है। यह वेद हमलोगों की बहुत ही श्रद्धा और आदर की वस्तु है, क्योंकि यह वेद अनन्त विराट् पुरुष की वाङ्मयी मूर्ति है। यह अतीन्द्रिय ज्ञानराशि सदा के लिए विद्यमान है। इसका आदि भी नहीं है तथा अन्त भी नहीं है। इसी कारण वेद अनादि और अनन्त कहाता है।

इसे शब्द-ब्रह्म भी कहते हैं; क्योंकि कमलयोनि पितामह ब्रह्माजी जिस समय योगासन में समासीन होकर आत्म-चिन्ता की समाधि में लीन रहते हैं उस समय आपके हृदयपद्म से स्वतः ही अनाहतनाद ध्वनि होती रहती है। वह अनादि नाद ही प्रणव वा ॐ कार है। इस शब्द-ब्रह्म वा प्रणव का आश्रय करके ही सृष्टिकर्ता ब्रह्मा जी ने इस सृष्टि की रचना की है। इस परिदृश्यमान जगत् का मूल कारण ॐ कार ही है। सृष्टि के पहिले भी यह अनादि वेद था और उसके बाद भी यह

रहेगा। यह नित्य और शाश्वत वस्तु है। वेद का ही दूसरा नाम श्रुति है; क्योंकि यह गुरुशिष्य परम्परा से श्रुत होकर समाज में प्रवर्तित वा प्रचलित है और यज्ञादि धर्मानुष्ठान में उसका प्रयोग होता आ रहा है। परवर्ती समय में यह ग्रन्थाकार में लिपिबद्ध किया गया है।

सृष्टि का आदि नहीं है; इसलिए वेदों का भी आदि नहीं है। इसलिए वेद को अनादि कहा गया है। यह किसी पुरुष विशेष के द्वारा रचित नहीं है, इसलिए वेद को अपौरुषेय कहते हैं। "यथापूर्वमकल्पयत्" के अनुसार प्रत्येक कल्प के प्रारंभ में भगवान् आदिपुरुष ब्रह्माजी वेदों का प्रचार करते आये हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में श्री श्रुति भगवती बोल रही हैं, "वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्" उपनिषदों में वर्णित परम पुरुषार्थरूप अति गुह्य तत्त्व पूर्व कल्पमें उपदिष्ट हुआ था।

आदि शब्द प्रणव वा ओंकार से ही सब वर्ण-राशि प्रकट हुई है। इन सब वर्णों की सहायता से ही पितामह ब्रह्माजी ने जिस शब्द समूह का उच्चारण किया वे ही "वेद" हैं। ये सब शब्द-राशियाँ प्रयत्न वा चेष्टा से उच्चारित नहीं हुई हैं, अपि तु "यस्य निःश्वसितं वेदाः" पुरुष के निःश्वास के साथ ये अनायास ही परमेश्वर की वाणी-रूप में प्रकट हुई हैं और उनका ही मन्त्र-द्रष्टा महान् ऋषियों ने अपनी अतीन्द्रिय सूक्ष्म-शक्ति के द्वारा अनुभव वा श्रवण किया है।

यह वेद-समूह जब विभिन्न समय में विभिन्न ऋषियों द्वारा लिपिबद्ध किया गया तब यह एक विराट् और विशाल आकार में परिणत हुआ। जनता की सुविधा के लिए दया करके पराशरनंदन परम कारुणिक महर्षि श्रीकृष्ण द्वैपायन ने वेद को चार भागों में विभक्त किया। ये ही वर्तमान समय के ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के नाम से अभिहित हैं। वेद को विभक्त करने के कारण ही आप "वेदव्यास" कहे जाते हैं। "व्यास" शब्द का अभिधानिक अर्थ है विभाग अथवा विस्तार।

हर एक वेद को फिर दो भागों में विभाजित किया है, यथा "मंत्र भाग" और "ब्राह्मण भाग"। मन्त्र भाग का ही दूसरा नाम "संहिता" है। वैदिक याग यज्ञादि में संहिता का उपयोग होता है। ब्राह्मण भाग में प्रधानतः विधि,

निषेध, उपासना और ब्रह्मविद्या सन्निविष्ट किये गये हैं। इस ब्राह्मण भाग के ही अंश विशेष को "आरण्यक" नाम दिया गया है। यह आरण्यक वनवासी ऋषि-मुनियों के द्वारा अरण्य वा वन में अधीत हुआ करता था, इसी कारण से इसका नाम "आरण्यक" पड़ा। वनवासियों के लिए यागयज्ञ अनुष्ठान करना सहज-साध्य था, और आत्म-ज्ञान के लिए उन लोगों के हृदय व्याकुल होने से वे लोग जप, ध्यान, होमादि तथा उपासनादि बहुत ही चाव और श्रद्धापूर्वक करते थे। उपासना तथा आत्मतत्त्व की बात वेद के जिस अंश में है उसे "उपनिषत्" कहते हैं। कोई कोई इसका उल्लेख "संहितोपनिषत्" अथवा "ब्राह्मणोपनिषत्" नाम से भी करते हैं। यह अंश वा भाग वेद के अंत में निबद्ध होने के कारण इस उपनिषत् प्रतिपादित विद्या को "वेदान्त" कहा है। यह वेद का सार, निर्यास अथवा निचोड़ होने से भी कोई कोई ने इस उपनिषत् को वेदान्त नाम दिया है।

समग्र वेद को कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड इन दो भागों में भी विभक्त किया जाता है। संहिता और ब्राह्मण समूह प्रधानतः कर्मकाण्ड के ही अंतर्गत हैं। इसका कारण यह है कि मुख्यतः याग यज्ञादि कार्य में ही उनका प्रयोग किया जाता है। आरण्यक और उपनिषत् समूह उपासना अथवा ब्रह्मविद्या का ही प्रतिपादन करता है। कर्मकाण्ड जीव को होमादि वा यज्ञादि के द्वारा स्वर्गादि सुख और जागतिक पुत्र, कलत्र, मित्र, पशु, देह, गेह तथा धनादि लौकिक पदार्थ समूह का ही अधिकारी वनाता है। कर्मकाण्ड के द्वारा उत्तरोत्तर (एक के बाद एक) कामना अथवा वासना की वृद्धि ही होती जाती है, उसका ह्रास कभी नहीं होता है*। इससे दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती है तथा परम शान्ति भी नहीं मिलती है। भेला (डूंड़) के द्वारा जैसे कोई समुद्र पार नहीं कर सकता है, उसी प्रकार कर्म के द्वारा कभी भी कोई संसार के दुःखों का अतिक्रम नहीं कर सकता है। कर्म से मानव का परम कल्याण किसी भी अवस्था में नहीं हो सकता। इसी कारण से कर्मकाण्ड की अपेक्षा ज्ञानकाण्ड श्रेष्ठ है। श्री भगवान् आद्य शंकराचार्य

---

*हाँ, कर्मकाण्ड अर्थात् याग यज्ञादि निष्काम भाव से करने से चित्तशुद्धि अवश्य ही होती है।

जी ने गीता की भाष्य-रचना करते समय कहा है "न केवलेभ्यः न कर्मभ्यः न च ज्ञानकर्मभ्यांसमुच्चिताभ्यां निःश्रेयसप्राप्तिरिति...'। केवल कर्म से मोक्ष नहीं मिलता। ज्ञान ओर कर्म के मिश्रित होने से भी वे मोक्ष के साधन नहीं बनते। ज्ञानकाण्ड जीवोंकी चित्तशुद्धि कर उनको चरम और परमगति मुक्ति के फलभागी बना देता है। विवेक चूड़ामणि नामक ग्रंथ में आपने यही बात कही है।

> "चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये।
> वस्तुसिद्धिर्विचारेण न किञ्चित् कर्मकोटिभिः ॥"

कर्म केवल चित्तशुद्धि के लिए ही है, वस्तूपलब्धि वा तत्त्वदृष्टि के लिए नहीं। कोटि कोटि कर्म से तनिक भी वस्तुसिद्धि नहीं हो सकती। वह तो केवल विचार के द्वारा ही हो सकती है।

वेद शब्द ज्ञानार्थक वा ज्ञानवाच्य शब्द है। यह संस्कृत के "विद" धातु से बना है। संस्कृत भाषा में विद् धातु का अर्थ जानना अर्थात् ज्ञान है। वेदांत को उपनिषत् भी कहते हैं। "उपनिषत्" शब्द "सद" धातु में क्विप् प्रत्यय द्वारा "उप' और "नि" अव्ययों के जुड़ने से बना है। "उप" शब्द का अर्थ है सामीप्य अथवा निकटता, जैसे "उपवास" से भगवान् के समीप अथवा निकट में वास समझा जाता है। "नि' अव्यय वाचक शब्द है। यह निश्चयार्थक शब्द है, और सद् धातु का अर्थ है शिथिल अथवा ढीला करना। इसलिए "उपनिषत्" शब्द का धातुगत अर्थ होता है जिसके समीप वा निकट पहुँचने पर निश्चय रूप से संसार-बंधन शिथिल वा ढीला हो जाता है। अथवा यों कहा जा सकता है कि जिस विद्या वा ज्ञान के द्वारा सत्वर निश्चित रूप से आत्मा के पास पहुँचा जाता है वह है शुद्ध विद्या वा ब्रह्मविद्या। मुण्डकोपनिषत् कह रहा है "येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्'। १।२।१३। जिस विद्या की सहायता से परमार्थ स्वरूप अक्षर पुरुष जाना जाता है, वही ब्रह्मविद्या है। इसे रहस्य विद्या भी कहते हैं, क्योंकि यह विद्या (विशेषका अथवा विशेष विद्या) का सारांश है। इस रहस्य विद्या को ही गीता में श्री भगवान् ने राजविद्या नाम दिया है "राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्। प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्" गीता ९।२। यह ज्ञान सब विद्याओं में राजा

है अर्थात् श्रेष्ठ है, और सब गोपनीयों में भी प्रधान गोपनीय है। यह अति पवित्र, उत्तम, प्रत्यक्ष अनुभव-गम्य और धर्मयुक्त है। इसका साधन भी अतिशय सुगम है अर्थात् इसका आचरण करने में किसी तरह का कष्ट नहीं करना पड़ता है और फल भी अविनाशी है। कहने का तात्पर्य या सारांश यह है कि वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय है ब्रह्म अथवा जीव और ब्रह्म की अभिन्नता। यह सब शास्त्रों का सार अथवा निचोड़ हैं और यही सब ज्ञानों का सार ज्ञान है।

यह ब्रह्मविद्या साधारण विद्या की नाईं निर्विचार से जहाँ तहाँ अथवा जिसके तिसके पास प्रकाशित नहीं की जाती थी। सम्पूर्ण पृथ्वी तथा राज्यदान करने पर भी, अतिप्रिय शिष्य अथवा ज्येष्ठ पुत्र को छोड़, किसी को यह नहीं दी जाती थी। यह बहुत ही गुह्य वस्तु थी। श्वेताश्वतरोपनिषद् में श्रुति भगवती घोषणा कर रही है,

"वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः" ॥ ६।२२

मुण्डकोपनिषद् में भी यही बात कही गई है—

"स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्
अथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह" ॥ १।१।१

शिवावतार जगत् गुरु श्री भगवान् आदि शंकराचार्य जी ने वेदान्त की व्याख्या करते समय कहा है—

"श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥"

अर्थात् जो बात कोटि कोटि ग्रंथों में कही गई है, वही बात मैं अर्ध श्लोक में कह रहा हूँ, यथा, ब्रह्म ही एक मात्र सत्य वस्तु है, जगत् मिथ्या है; जीव ब्रह्म ही है कोई अन्य पदार्थ नहीं। ब्रह्म और जीव दो भिन्न वस्तुएँ हैं; इस भ्रान्ति को मिटाना ही मुक्ति है। मुक्ति और कोई पृथक् वस्तु नहीं है। यह प्रतिपादन अर्थात् सिद्ध करना ही अद्वैत-सिद्धि का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। आत्मा और ब्रह्म की स्वतः सिद्ध

एकता को जानकर अविद्या को मिटा देना ही वेदान्त का मुख्य उद्देश्य है। विश्व प्रपंच मिथ्या तथा एकमात्र अद्वैत ब्रह्म ही सत्य, यह प्रतिपन्न या प्रमाणित करना ही अद्वैत सिद्ध करना है। मिथ्या किसे कहा जाता है इसको साफ-साफ बतलाने तथा साबित करने में ही अद्वैत-सिद्धि का अधिक कृतित्व है, और किसी बात में इतनी प्रशंसा तथा महत्त्व नहीं है। जो सत् वा सत्य है वह तीनों कालों में वर्तमान है और उसके प्रकाश से ही विश्व की सब वस्तुएँ प्रकाशमान हैं। जो असत् है वह किसी भी काल में नहीं है, तथा उसकी प्रतीति वा उपलब्धि भी कभी नहीं होती है। इन दोनों के बीच में जो है उसी को मिथ्या कहा जाता है, अर्थात् वह किसी भी काल में नहीं है परन्तु तिस पर भी उसकी प्रतीति वा उपलब्धि होती है। यह प्रतीति वा उपलब्धि भी हमेशा के लिये रहेगी, ऐसी बात नहीं है।

इन चन्द बातों को ही साफ-साफ समझने के लिये ऊपर लिखे हुए श्लोक के कुछ शब्दों पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है; यथा, ब्रह्म, सत्य वा सत्, असत्, मिथ्या, जीव इत्यादि।

पहिले हमें विचार करना होगा कि ब्रह्म किसे कहा जाता है। ब्रह्म शब्द से विराट्, महान्, असीम, विभु तथा भूमा को समझना चाहिये। यही बात अगर संक्षेप में कही जाय तो कहना पड़ेगा कि जिससे बड़ा और व्यापक और कुछ भी नहीं है, वही “ब्रह्म” है। यही बात कुछ अधिक सुस्पष्ट रूप से इस प्रकार कही जा सकती है कि जो सब देशों में, सब कालों में, सब वस्तुओं में तथा सर्वावस्थाओं में समभाव में सदा विराजमान है, वही “ब्रह्म” है। सब देशों में अर्थात् भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक, सत्यलोक, अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल, पाताल, जल, स्थल, अन्तरीक्ष प्रभृति चतुर्दश भुवनों में जो सब समय में व्यापक होकर वर्तमान है, वही “ब्रह्म” है। इन सब देशों के अतिरिक्त यदि और कोई भी देश अथवा स्थान की कल्पना हो सके तो वहाँ भी आप (ब्रह्म) एक ही भाव से विद्यमान हैं। फिर भी आप देशातीत होकर भी विराजमान हैं। पुरुष सूक्त के एक मन्त्र में कहा गया है—

"एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पुरुषः ।
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" ।।

आपकी महिमा एतादृश है। परन्तु आप इसकी अपेक्षा भी बृहत्तर हैं। विश्व तथा जीवसमूह आपके पादमात्र हैं। आकाश में अमरांश आपके तीन पाद हैं। ऐसे जो हैं वे ही केवलमात्र ब्रह्म शब्द से कहे जाते हैं। सर्वकाल कहने से भूतकाल में जिस तरह से आप थे, वर्तमान काल में भी आप ठीक उसी तरह से हैं और भविष्य काल में भी आप समभाव से ही विद्यमान रहेंगे। भूत, भविष्य तथा वर्तमान काल व्यतीत यदि अन्य किसी काल की धारणा करना सम्भव हो तो उस काल में तथा लोक धारणा के अतीत काल में अर्थात् कालातीत में भी जो ठीक एक ही अवस्था में विराजमान है वही "ब्रह्म" है। विश्व ब्रह्माण्ड की हर एक वस्तु में आप ठीक एक ही रूप में वर्तमान हैं। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, आकाश, वायु, पर्वत, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, देवता, गन्धर्व, यक्ष, रक्ष, किन्नर, वृक्ष, लता, गुल्म, नद, नदी, कहाँ तक नाम लिया ज़ाय, प्रत्येक धूलिकण वा त्रसरेणु के अन्दर भी आप (ब्रह्म) ओतप्रोत होकर विराज रहे हैं। बोलने का तात्पर्य यह है कि आब्रह्म स्तम्ब पर्यन्त अर्थात् आदिपुरुष ब्रह्मा से लेकर हरएक तृण तक सर्व वस्तुओं में आप समान रूप में अर्थात् अपरिवर्तित अवस्था में मौजूद हैं। कहीं अधिक और कहीं कम इस तरह से आप नहीं हैं। पर्वतराज हिमालय अथवा विशाल सुमेरु पर्वत में जैसे आप पूर्ण रूप से हैं, ठीक उसी तरह विश्व के प्रति अणु परमाणु में भी आप पूर्णरूप से विद्यमान हैं। इसी बात का समर्थन करती हुई भगवती श्रुति कठोपनिषद् में घोषणा कर रही हैं, "अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्माऽस्यजन्तोर्निहितो गुहायाम्"। १।२।२०। आप सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तथा विशाल से विशालतर हैं। यह आत्मा वा ब्रह्म हरएक जीव की हृदयगुफा में अवस्थित है। ऐसा जो है वही केवल मात्र "ब्रह्म" पद वाच्य है। आप में कहीं भी—ह्रास, वृद्धि नहीं है। आप अणु में भी जैसे हैं, बृहत् से बृहत् में भी आप ठीक उसी तरह से हैं। श्रुति भगवती कठोपनिषद् में और भी कह रही हैं—

"यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।
तं देवाः सर्वे अर्पितास्तदु नान्येति कश्चन ॥" एतद्वैतत् २।१।९

जिससे सूर्य उदित होते हैं एवं जिसमें अस्त होते हैं, उसी में सब देवतावृन्द प्रविष्ट हैं । आप इतने विराट्, इतने असीम और इतने महान् हैं । आपको कोई भी अतिक्रम नहीं कर सकता । आप ही सर्वात्मक ब्रह्म हैं ।

अवस्था तीन हैं; यथा, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति । इन तीनों अवस्थाओं में जो समभाव से विराजमान हैं वे ही "ब्रह्म" कहे जाते हैं । इसके पश्चात् इस विषय को लेकर विशद रूप से आलोचना करने की चेष्टा की जायगी ।

यह सर्वात्मक ब्रह्म सदा ही समभाव से सर्वत्र विराजमान है । किसी देश में, किसी काल में, किसी वस्तु में तथा किसी भी अवस्था में उसमें विकार नहीं है । सर्वत्र, सब समय, सर्वावस्था तथा सब वस्तुओं में ही आप अविकारी भाव से अर्थात् एक ही तरह विराज रहे हैं । कहीं अधिक और कहीं कम नहीं है । ऐसा भी नहीं है कि आप कहीं एक तरह से हैं और कहीं दूसरी तरह से ।

—क्रमशः

॥ ॐ माँ ॥

मातृ-सत्संग

स्वामी भागवतानन्द गिरि

(२)

ता० ५-१२-१९४७

प्र०—माताजी, आपने कहा था कि मृत्यु के बाद वासना रहने से फिर पुनर्जन्म होता है। तो जब छोटा बच्चा मर जाता है तो उसको वासना कहाँ से आई ? क्या उसका भी पुनर्जन्म होता है ?

माँ—सिर्फ जन्म पूर्ण करने के लिये बच्चा जन्मता है। जिसकी गोद में वह जन्मता है उसका भोग भी इससे पूर्ण हो जाता है। पिता-माता को भी बच्चे की मृत्यु से कष्ट भोगने का लिखा रहता है। मूल में तो अज्ञान ही दुःख है। बिना कारण किसी का भी जन्म नहीं होता है। जन्म मृत्यु का भी क्रम रहता है। क्रम के अनुसार जन्म-मृत्यु होता रहता है।

प्र०—बच्चा मर गया, बस उसका कर्म खत्म हो गया। फिर उसका जन्म कैसे ?

माँ—एक घर में से कर्म पूरा करके दूसरे घर में कर्म भोगने जाता है। जितना कर्म जिस घर में होता है उतना पूरा करता है। एक दफे यह शरीर तारापीठ में गया था। वहाँ एक स्त्री अपनी छोटी लड़की को लेकर इस शरीर के पास आई थी। मैंने उस लड़की को एक शंख की माला पहना दी और जप करने को कहा। उसकी माँ ने कहा—"माताजी, उसको माला मत दो। शायद जप करे न करे।" इस शरीर ने कहा—"कोई बात नहीं है। माला उस लड़की के पास रहने दो। चाहे वह जप करे न करे कोई बात नहीं है।"...इस घटना के बाद वह लड़की बड़ी होने लगी। वह रोज नियमित रूप से जप करती थी। जप में उसका मन खूब लग गया।

जब ११ वर्ष की उमर हुई तब उसकी मृत्यु हो गई। मृत्यु के अन्तिम समय तक उसने जप नहीं छोड़ा। लड़की की मृत्यु से उसकी माँ को अत्यन्त शोक हो गया और खूब रोने लग गई। इस घटना के कुछ वर्षों के बाद जब यह शरीर फिर से तारापीठ में गया तो उस लड़की की माँ मेरे पास आईं और उन्होंने मुझसे कहा, "माताजी, मैंने एक दिन स्वप्न में देखा कि मेरी लड़की बहुत सुन्दर-सुन्दर सुगन्धित दिव्य फूलों से सुशोभित हो रही है। उसके केशों में भी फूल झूल रहे थे। उस समय ऐसा मालूम हुआ कि मैं अपनी लड़की को पकड़कर गोद में ले लूँ और कभी छोड़ूँ नहीं, कुछ क्षणों के बाद मेरी लड़की चलने लगी। मैंने भी उसके पीछे-पीछे चलना शुरू किया। बहुत दूर जाने के बाद एक सुन्दर उपवन देखा। उस उपवन में बड़े-बड़े जटाधारी महात्मा मण्डल बैठा हुआ था। उनके बीच में जाकर लड़की बैठ गई।...इसके बाद मुझको मेरे इष्टदेव के दर्शन हुए। उन्होंने मुझको स्पर्श किया। इसके बाद मैं जग गई।" उनकी बात सुनकर इस शरीर ने कहा,—"लड़की ने जो जप किया था इससे उसकी ऊर्ध्वगति हुई है। और तुमको भी अपने इष्टदेव का दर्शन और स्पर्श मिला है स्वप्न सुन्दर है। ईश्वर का अनुभव करने के लिये तुम ध्यान किया करो।"

फिर कई वर्षों के बाद तारापीठ में जाना हुआ। उस समय उस स्त्री ने एक ११ महीने की लड़की को इस शरीर के सामने रख दिया और कहा—"माताजी इस लड़की के पिता ने एक दिन स्वप्न में देखा कि वह लड़की जो पहले मर चुकी थी—उनसे कहा कि पिताजी! मुझ से यहाँ रहा नहीं जा रहा है कारण मेरी माँ खूब रो रही है। चलो! मैं तुम्हारे साथ आ जाऊँ?" इस स्वप्न के बाद इस लड़की का जन्म हुआ है। इसलिये यह शरीर कहता है कि, "उस लड़की को उसके माँ के आकर्षण से फिर से जन्म लेना पड़ा। इसलिये सबसे अच्छा तो यही है कि किसी की मृत्यु हो जाये तो उसकी ऊर्ध्वगति के लिये प्रार्थना करना चाहिए। एक दूसरी बात का भी ख्याल आ गया। एक पति पत्नी थे। पति भक्त था। उसके एक एक करके छः लड़कों की मृत्यु हो गई। पत्नी को खूब दुःख होता था। खूब रोती थी। लेकिन पतिदेव स्थिर, धीर और शान्त रहकर अपने पूजा पाठ,

ध्यान जप में मस्त रहते थे। उनकी पत्नी ने जाकर कहा--"हम लोगों के छ जवान लड़के मर गये तब भी तुम को जरा भी दुःख क्यों नहीं लगता है ?" पति ने कहा--"मेरे अनंत जन्मों में कितने पुत्र हुए, कितने मरे--किस किस का मैं शोक करूँ ? जब सत्य दृष्टि खुल जाती है तब रोना नहीं आता। जब आत्म स्थिति हो जाती है तब शोक नहीं होता है।" "तरति शोकं आत्मवित्"। परिवर्तन ही तो मृत्यु है। छोटा बच्चा किशोर हुआ, फिर युवक बन गया फिर वृद्ध हो गया...इसलिये क्षण क्षण में मृत्यु हो रही है। मृत्यु से रोना क्यों है ? सृष्टि, स्थिति और लय तो हर समय हो रहा है। गति में स्थिति कहाँ है ? जन्म माने सृष्टि, यौवन माने स्थिति और मृत्यु माने लय। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा है। स्थितिकर्ता विष्णु है और लयकर्ता रुद्र है। काली भी संहार करनेवाली है। काली माने काल का विनाश करनेवाली है। काल माने समय। कहते हैं कि जब समय होता है तब समझ आता है। काल ही परिवर्तन करता है। समय आने पर काल भगवान् स्वाहा कर जाते हैं। प्रियजन की स्मृति भी काल से नष्ट हो जाती है। काल विनाशक है इसलिये काली माँ के एक हाथ में खड्ग रखा है। दूसरे हाथ में मुण्ड रखा है। एक हाथ से आशीर्वाद देती हैं--अभय देती हैं--शत्रुओं का विनाश करती हैं और दूसरे हाथ से ज्ञान करू आप या खड्ग के द्वारा अज्ञान का खंडन करती हैं।

प्र०—आत्मा क्या बिना शरीर से भी रह सकता है ?

माँ--शरीर बिना भी रह सकता है। आत्मा तो मुक्त है। वह तो सदा मुक्त है।

प्र०--माँ ! यदि आत्मा मुक्त है तो पीछे भूत प्रेत यह सब क्या है ?

माँ—जैसे बँधे पानी में दुर्गन्ध पैदा होता है वैसे ही आत्मा भी जब आवरणों से आवृत्त हो जाता है तब उसका पतन होता है और वह प्रेतयोनि में जाता है। जैसे गंदे जल में भी 'जल' तो है ही वैसे ही—पतित आत्माओं में भी 'आत्मतत्त्व' तो है ही।

प्र०—माँ ! प्रेतादि शरीरों में आत्मा कैसे प्रवेश करता है ?

माँ—भगवान् की लीला भी भिन्न भिन्न है। फूल की गंध कैसे फैल जाती है!

खुशबू कैसे पकड़ी जाती है। वैसे ही प्रेतादि भी शरीर धारण कर लेते हैं। जगत् में सब रूपों में भावना ही मुख्य है। सब भावनामय है। तुम लोग इस शरीर की बातें कैसे सुन रहे हो—क्योंकि तुम लोग इस छोटी सी बच्ची से स्नेह करते हो इसलिये सुन रहे हो। जगत् में जितने नाम और रूप हैं सब भगवान् के ही नाम और रूप हैं। जितने गुण हैं यह सब भगवान् के ही गुण हैं। जिनके भाव हैं वह भी सब भगवान् के ही भाव हैं।

बिन्दु में जो है सिन्धु में भी वही है। बिन्दु में से सृष्टि उत्पन्न होती है। तुम में से ही तुम्हारा पुत्र उत्पन्न होता है। पूर्ण में से ही पूर्ण उत्पन्न होता है। पूर्ण में भी शून्य है और शून्य में भी पूर्ण है। बिन्दु में सिन्धु है और सिन्धु में बिन्दु है। वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष। प्रत्येक भाव में उस भावना के अनुसार उसकी मूर्ति होती है। किसी पर भूत का आवेश आ जाने से वह ऊटपटाँग बोलने लगता है क्योंकि उसके शरीर में प्रेत ने प्रवेश किया है। प्रत्येक रोग की भी एक मूर्ति होती है।

प्र०—भगवान् के स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन हो सकता है क्या ?

माँ—जो लोग साधन भजन करते हैं उनमें से किसी किसी के भाग्य से भगवत् दर्शन भी होता है। योगेश घोष (माँ का ढाका में एक पुराना भक्त था) ने इस शरीर को एक अपने जीवन की सत्य घटना सुनाई थी। एक दफे वह अपनी मोटर में जंगली रास्तों से जा रहे थे। इतने में रास्ता भूल गया। बहुत कोशिश करने पर भी रास्ते का कोई पता नहीं मिल रहा था। अब क्या करें ? मन में बड़ा डर लग गया कि अब क्या होगा ? इतने में उन्होंने देखा कि एक छोटा सा बालक दौड़ता-दौड़ता आया और कहा,—“चलो, मैं रास्ता दिखा देता हूँ।” ऐसा करके ठीक रास्ते पर पहुँचा दिया। योगेश के मन में हुआ कि उस लड़के को खूब पैसा बखशीश दे दूँ—बस जेब में से पैसा निकालने के लिये हाथ डाला इतने में वह बालक अदृश्य हो गया ! ! ऐसे भगवान् कभी-कभी बचा लेते हैं। भगवान् तो सर्व शक्तिशाली हैं।

प्र०—मनुष्य में भी क्या ऐसी शक्ति आ सकती है ?

माँ—मनुष्य भी भगवान् के जैसा बन सकता है यदि उसको कोई असाधारण प्रेरणा मिले तो सच्ची दिव्य प्रेरणा स्वयं स्फुरित होती है। प्रेरणा भी मनका एक भाव है। मन की प्रेरणा से सब बातें फलीभूत नहीं होती। सच्ची भगवत् प्रेरणा से असली प्रकाश मिल जाता है। मन की प्रेरणा में छंद, संशय रह जाता है। और सच्ची प्रेरणा निःसंशय स्थिर ज्योति की तरह प्रकाशित होती है।

प्र०—संशय क्यों आता है ?

माँ—संग से संशय जागता है। तुम जिस अवस्था में हो वहाँ संशय जागने का स्थान है। आग के पास रहोगे और गरमी न लगे यह कैसे होगा ? सिर्फ भगवत्-प्राप्ति से ही संशय मिटता है। बस हरि कथा ही कथा और सब व्यथा और वृथा है।

प्र०—मनुष्य पर अच्छे-बुरे ग्रहों का असर पड़ता है तो क्या दृढ़ मन के द्वारा उस असर को नष्ट किया जा सकता है ?

माँ—जैसे अग्नि से जल सूख जाता है वैसे ही तुम भी भगवत्-शक्ति के द्वारा उस ग्रह के असर को मिटा सकते हो। सिर्फ भगवान् पर भरोसा रखो तो ग्रह तुम्हारा कुछ नहीं कर सकता। भगवत्-शक्ति के बिना उसका निग्रह नहीं हो सकता।

प्र० – माँ, साधना की शक्ति के बारे में आप कुछ कहो।

माँ—एक बात का ख्याल आ गया। एक साधक था। साधन करते-करते बहुत बरस चले गये लेकिन अनुभूति नहीं मिली। इससे दुःखी होकरके वह अपने घर जाने के लिये चल पड़ा। रास्ते में एक महात्मा मिल गया। महात्मा ने पूछा—"तुम कहाँ जा रहे हो ?" साधक ने जगह का नाम बतलाया। महात्मा भी उसके साथ जाने के लिये तैयार हो गया। दोनों साथ चलते-चलते एक नगर में आये। एक सेठ के पास गये। सेठजी बड़ भक्तिमान थे इसलिये उन्होंने सुन्दर स्वागत किया और दोनों महात्माओं को सुवर्ण के बरतनों में परस दिया। भोजन के बाद थोड़ा आराम करके जब साधक चलने लगा तो उस महात्मा ने चुपके से एक सुवर्ण का बर्तन अपने झोले में रख लिया। साधक को बड़ा आश्चर्य हुआ और पूछा—"महात्मा जी,

आपने यह क्या किया ? सेठजी का सुवर्ण का बर्तन चुरा लिया—क्यों ?" महात्मा ने कहा—"तुम्हारा काम तुम करो और मेरा काम मुझको करने दो ।"

साधक चुप रह गया । दूसरे दिन फिर आगे चलते-चलते रात्रि में एक गाँव में पहुँचे । दोनों ने गाँव में रहने का विचार किया । लेकिन किसी ने भी आश्रय नहीं दिया । फिर घूमते-घूमते नदी के किनारे एक गौशाला में गये । उन्होंने भी बड़ी मुश्किल से गौशाला में जगह कर दी । रात्रि में विश्राम किया । अब दूसरे दिन सुबह जाते समय उस महात्मा ने सुवर्ण का पात्र इस गौशाला में छोड़ दिया । साधक ने पूछा—"महात्माजी, आप क्या कर रहे हैं ? वहाँ से चोरी करके सुवर्ण का पात्र क्यों लाये, फिर उसको यहाँ क्यों छोड़ रहे हैं ?" महात्माजी ने कहा—"भैया, तुम्हारा काम तुम करो और मेरा काम मुझको करने दो ! तीसरे दिन चलते-चलते एक गाँव में पहुँचे । वहाँ एक रामभक्त ने दोनों महात्माओं का स्वागत किया । भिक्षा दिया...आराम करके चलते समय उस महात्मा ने इस राम भक्त के एकमात्र पुत्र जो सो रहा था उसका गला दबा के मार डाला । महात्माजी का ऐसा दुष्कृत्य देख कर साधक को बड़ा दुःख हुआ और कहा—"महाराज, आप कौन हो ? ऐसे राक्षस के साथ मैं नहीं जाऊँगा ?" महात्मा ने कहा—"तुम्हारा काम तुम करो और मेरा काम मुझको करने दो ।"

साधक अकेला ही आगे चल पड़ा लेकिन महात्माजी भी साथ साथ चल पड़े । साधक चुपचाप चला जा रहा है । चलते-चलते एक नदी आ गई । देखा कि उस नदी में एक लड़का हाथ में चिट्ठी लेकर नदी पार हो रहा है । उसको देखते ही वह महात्माजी उठ पड़े और उस लड़के को पकड़ कर नदी में डुबो दिया । इस दृश्य को देखकर साधक जी को बड़ा दुःख हुआ । और कहा—"महात्माजी, तुम कौन हो ? ऐसे क्रूर कर्म क्यों कर रहे हो ?" महात्माजी ने उत्तर दिया—"अब तक मैंने जो कुछ किया है, सोच समझ कर किया है । अब मैं तुमको सारा रहस्य बताऊँगा । सबसे पहले मैंने सुवर्ण के पात्र की चोरी की क्योंकि उस सेठ ने साधुओं को सुवर्ण के पात्र में खाने को दिया था और साधु-सन्तों का द्रव्य से आदर करता था । साधु-संतों को कंचन के मोह से दूर रखना चाहिये इसलिये मैंने सुवर्ण

पात्र की चोरी की जिससे भविष्य में किसी महात्मा का अधःपतन न करें। फिर दूसरे दिन गौशाला में सुवर्ण पात्र इसलिये रख दिया कि उस गाँव में साधु महात्मा का आदर नहीं था इसलिये वह सोचेगा कि साधु-सेवा से सुवर्ण पात्र मिल गया। इससे गाँव में साधु भक्ति बढ़ेगी। उस रामभक्त सेठ के पुत्र की हत्या इसलिये करनी पड़ी क्योंकि पुत्र जन्म के पहले दोनों पति पत्नी राम के बड़े भक्त थे—जब से पुत्र का जन्म हुआ तब से भगवद्भक्ति कुछ शिथिल हो गई है इसलिये उन लोगों को पुनः भगवान् की तरफ लाने के लिये पुत्र की हत्या की। अब इस नदी में जिस लड़के को मैंने मार दिया उसका कारण भी सुनो। जिस लड़के को मैंने मार दिया वह एक राज्य का मन्त्री पुत्र था। षडयन्त्र करके वहाँ के राजा और राजदूत को मारकर मंत्री महोदय राजा बनना चाहते थे। इससे राज्य में अनाचार, अत्याचार बढ़ जाता। इसलिये मैंने लोककल्याण के लिये उस लड़के की हत्या की। एक को मारकर बहुत लोगों की रक्षा की।" ऐसी बात बोलकर महात्माजी अदृश्य हो गये।

उस साधक के विचार करने से पता लगा कि वह महात्मा दूसरा कोई देहधारी महात्मा नहीं था लेकिन उसकी आज तक की हुई साधना की शक्ति ने ही ऐसा शरीर धारण करके उसके साथ आकर दृष्टान्त के साथ उपदेश दिया। की हुई साधना कभी निष्फल नहीं होती है। साधना की शक्ति साधक के साथ हर समय रहती है।

एक साधुः—"नहि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति"

(क्रमशः)

The Self, self-contained,
calling to Itself for its own Revelation—
this is happiness.

MATRI VANI

God is the Fountain of Goodness. By what device he draws anyone to Himself is incomprehensible to the ordinary person. Everything that He does, who is All-Goodness, is for the best. Without the contemplation of God there can never, never be happiness or peace. What the various frustrations in life lead to is also infinite. If one allows oneself to remain tied up and entangled in their realm, it is but natural that one should reap restlessness, weariness and barrenness as the fruit of one's life. Therefore do not keep your thought on all this, rather let your mind soar to a high ideal, to your sublime Goal, which is far beyond the ken of human understanding. Who can tell by what event or blow of fate His call comes ? Do not be cowed down. You are real, pure, enlightened, free, eternal. In order to advance in that direction it is your duty to gather your own strength and proceed with the momentum gained by a new attitude towards life. Truly, God dwells within you also as knowledge and discrimination. Therefore you must use this expedient on your pilgrimage towards the revelation of Truth. Time glides away. The Supreme Father, Mother, Friend, Beloved, Lord—all are He in one person. His Lotus Feet alone are worthy of contemplation.

* * *

That there is an infinite variety of *āsanas* (yogic postures) must be perceived by direct perception. When the divine mood awakens of which, a particular *āsana* is the expression, then the *āsana* has borne its fruit. In the material world also one feels at ease and contented when taking up the posture that corresponds to one's state of mind at the moment. It has to be understood that man must of necessity always be in some posture or other. What exists at the root of things thus finds expression in the physical. When that root of things is touched, each *āsana* will take shape in its own precise peculiarity : This is called the spontaneous formation of an *āsana*.

Look, in everyday life also, don't you automatically take up various postures, according to the nature of your thought at the time ? These postures form of themselves as expressions of your mood. In this material world one becomes within oneself completely engrossed in the particular idea or form that attracts one, so much so that someone may even be ready to die for it. All this happens in various ways in the physical world, because one is prepared to live in the realm of the fleeting in a transient body, that is to say one wishes to turn outward—into darkness. Where man is ever pure, enlightened, free, eternal, there again all God's numberless names, forms, attributes are eternally real. There, the nature of the name, the nature of form and the diverse waves of divine moods, inspirations and raptures stand revealed. In Him should one become engrossed, lost, affixed, immersed, stripped of everything, and then this whole world will be seen as the outer expression of the inner Reality, as the One Himself—the field of His creative activity. He alone as creative action, the one-with-action and action-less, as form, quality, idea, mode of being, in the world and beyond—He and no other is ever enthroned in the posture of *Mahā-yoga*, the Supreme Yoga. The One who is seated—Himself the *āsana*. To realize Him in the world and beyond the world—this is the death of death, there death is conquered, time quelled. To direct his course towards this, and this alone, should be the aim of every human being.

LIBRARY
No...........
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS.

Pages from my Diary

GURUPRIYA DEVI

(Translated from Bengali)

New Delhi, *14th September*, 1961.

The President of the Indian Republic, Sri Rajendra Prasadji, has recently been very ill. After facing death, he has fortunately somehow been restored to health. At his special request for Mataji's *darśana* Mataji was taken to Rashtrapati Bhawan at 11. A. M. this morning. Pushpa, Kamal Brahmachari and myself accompanied her. Mataji was led straight upstairs. Sri Rajendra Prasadji looks still very frail. He welcomed Ma with deep respect and reverence. For quite a long while he had a conversation on spiritual topics with Mataji. I noticed that everything was being recorded on a tape-recorder. Mataji asked Pushpa to sing two *bhajans*; Sri Rajendra Prasadji was quite delighted with her singing. He is deeply interested in the spiritual path and approaches great *sādhus* and *mahātmās* with genuine devotion and veneration. Since his health is not yet up to the mark and since also his term of office has been completed, he is going to retire in a few months and wishes to spend the rest of his life peacefully inPatna. At his invitation Mataji had been to Rashtrapati Bhawan already twice before; once she was even offered *bhoga* there. Last June Sri Rajendra Prasadji came to have Mataji's *darśana* at Poona.

On the way back from Rastrapati Bhawan I went to see Srimati Indiraji in Pandit Nehru's house, while Ma proceeded straight to the Ashram. I found that Panditji had returned to-day from Russia. With much love and respect Indiraji sent to Mataji some fruits that Panditji had brought from there : grapes, apples, and a melon. The melon was enormous—as big as a drum. Mataji distributed with her own hands to everybody the Russian fruits and I also fed her a little of each fruit.

12*th September* 1961.

To-day a few people had been invited to take *prasād* in the Ashram. Srimati Vimlaji also came from the Prime Minister's house. She liked the sweet dish (*khir*) so much that she took some of it for Panditji and Indiraji. Vimlaji is a very fine and sincere person.

16*th September*, 1961.

This evening Srimati Rehana Tayabji came with a few people for Mataji's *darśana.* She felt an inner urge to arrange for the *japa* of the *Mahā Mrityunjaya Mantra* for the health of Pandit Nehru and Indiraji. She had received the inspiration as it were from the late Srimati Kamala Nehru. Rehana Ma said : "If I put the responsibility for this on you, Mataji, I feel released. You are Kamala's real Mother, whatever you command will be done." Mataji replied : "If anyone desires to engage in some spiritual practice for a good and auspicious cause, this body always encourages this. There is no question of commanding." After talking to Mataji for some time Rehana Ma took leave.

Srimati Rehana Tayabji, although a Mohammedan by birth is a devotee of Sri Krishna. Since her early childhood she has spontaneously felt deep love for Sri Krishna. I was told that her marriage had been arranged, but her prospective husband objected to her worship of Sri Krishna saying that in his house she would not be allowed to carry on her devotions. On hearing this she refused to marry him and there after the question of marriage was not raised again. She had spent quite a long time of her life near Mahatma Gandhi. Many have great faith in her. Her book "The Heart of a Gopi" is very well known. Sri Dilip Kumar Roy's song—"Even today an abiding lover of the *Līlā of Brindavan*" is a poetic paraphrase of that book.

Jaipur, 18*th September*, 1961.

Mataji arrived here today. She has come in response to the repeated requests of Sri Madan Mohan Varma, a devotee of many years' standing. Mataji was to have come here last April to be present at the opening ceremony of Sri Varmaji's new house, but due to Sri Gopinath Kaviraj's severe illness her visit had to be postponed. Sri Varma's house had in the meanwhile been inaugurated and he therefore arranged for Mataji to stay in a new house in the close vicinity.

Srimati Kamala Mohanlal and her son Anand live now in Jaipur, Anand having become the Deputy Secretary to the Rajasthan Government. He has been coming to Mataji since his childhood. Kamala has decorated everything beautifully to welcome Mataji.

Something very disagreeable has happened : Vikram, the son of the late Sri Parasram Dhammi of Dehra Dun has been travelling with Ma recently. He is in a mentally disturbed condition and so Mataji asked him to remain near her for some time. He reached the house of Sri Varma together with us, but after that he was nowhere to be found. The police has been informed, however all efforts to find him have proved futile so far. Even while with Ma the young man remains unbalanced.

This evening Anand Mohanlal took Mataji for sight seeing. Ma was also shown the famous temple dedicated to Ganeshji. The *satsang* at night was held in a pandal at Varmaji's residence.

19th September, 1961.

This morning our whole party was taken with Mataji to the celebrated temple of Govindaji. Mataji said about Govindaji: "When this body had His *darśana* for the first time together with Swami Akhandananda, Govindaji seemed to stand on the floor. No throne, no Radha, no attendants were to be seen, neither the royal dress which He is wearing now. He was dressed scantily and standing on the ground. This is how we saw Him then." All enjoyed greatly their visit to Govindaji's temple.

20th September, 1961.

In spite of all the trouble we have taken there is no news of Vikram. Today Maharani Satyaprem Kumari of Mysore who lives here has taken Mataji to her residence. From there Mataji drove to the palace of the Raja of Achrol. Raja Hari Singh of Achrol is Satyaprem Kumari's brother-in-law. In both places Mataji was received with the utmost reverence.

New Delhi, *24th September*, 1961.

This morning Indiraji phoned, asking whether she could come and take *prasād* in the Ashram at midday and have a talk with Mataji afterwards. At noon she arrived together with her son Sanjay and two or three other people. They all ate their lunch with great delight. Indiraji is very fond of Bengali food. Mataji was herself supervising the serving. When the meal was over, Indiraji went to Mataji's room and had a private talk with her.

In the evening there was a phone call from Jaipur to inform us that Vikram had been found by the police behind the canteen at Jaipur Railway Station. Everyone felt much relieved at this news. Mataji remarked: "Well, this body had told Ganeshji on the very first day : 'Do please look after Vikram.' Govindaji also was requested to take care of him. To whom else should the boy have been entrusted ? That is why this body put the responsibility on Them. Write to Mohini (Vikram's sister) to present offerings of Rs 101/- to Ganeshji."

28th September 1961.

In the course of today's conversation, Mataji said something very beautiful to the boys and girls of our ashram: "By entering on this path you have overcome the world. There is only one *Brahman*—without-a-second, One *Atma*—towards that should you strive. Let there be no ill-feeling, no angry or excited talk, no quarrelling, no distinctions among you. If you foster a spirit of friendship, your tolerance and courtesy towards all will increase. Whenever you feel hurt by anything that has been said, you should eject the matter like poison. You all are very, very good. By good ness kindle the Light."

2nd October 1961.

Indiraji made a special request that Mataji should once grace their house with her presence. In the evening Vimlaji came to take Mataji to the Prime Minister's residence. Ma was accompanied by Chinmayananda, Pushpa, Chitra and myself. In the midst of a lovely garden arrangements had been made to receive Mataji. Indiraji came a little after Mataji reached there. Her younger son had suddenly developed fever and therefore she had been prevented from welcoming Mataji at her arrival. She expressed her sincere regret at being thus delayed. A few minutes later Pandit Nehru also came and sat down near Mataji. We all stood at some distance while Panditji had a private talk with Mataji for about half an hour. It was a treat to watch Mataji sitting in those calm and beautiful surroundings with the jewel of India, Jawaharlalji at her feet listening to Mataji's words with rapt attention. Mataji was wearing a garland of sandal wood beads, which she put round Panditji's neck. Immediately after the talk Panditji had to leave. He is so busy all day long that he hardly has time to breathe. Indiraji was also saying that she scarcely had the chance to see him during the day.

As soon as Panditji had gone Mataji spoke to Indiraji for some time. The entire staff of the Prime Minister's house came one by one to offer obeisance to Mataji. When Mataji got up to go, Indiraji took her through the office to the hall and from there accompanied her to the car. I noticed that Indiraji walked barefoot while with Mataji. The faith, devotion and gentility of the whole family is really remarkable. I heard that the next morning Indiraji was due to leave for Madura together with her father.

What conversation Mataji had with Panditji was not disclosed, all the same I was given to understand that the topic was spiritual.

Kanpur, 8th October 1961.

This morning Mataji alighted here and was received at the Railway station by Sri Sitaram Jaipuria, Sri Kashi Prasad, Jiten Da and others. Mataji was taken straight to Jaipuria House.

At the special and persistent requests of the Jaipuria family, Durga Pūja is to be celebrated here in Mataji's presence this year. An extremely charming thatched hut has been erected in the garden for Mataji's use. Every comfort has been provided. The excellent arrangements of the Jaipurias, their outstanding hospitality and spirit of service are unequalled. We have had the good fortune of seeing arrangements made by very rich people in many different places, but it will be no exaggeration to call the thoughtfulness of the Jaipurias unique.

The whole compound resembled a miniature Kumbh Mela camp. In the garden rows and rows of tents had been put up and everyone of them was well furnished and beautifully decorated. A huge guest-house had been vacated for our use, and an enormous pandal erected on the tennis court. A large kitchen, a dining-hall— no detail was missing. Sitaramji and Kashi Prasad (his brother-in-law) were both toiling day and night with ever cheerful faces. Kashi Prasad's judgement, efficiency and intelligence are realy very rare. He always has a smiling face. Every single worker down to the watchman has been trained in the same way: their courtesy, discipline end respectful behaviour are something worth experiencing.

14th October 1961.

Durga Puja has begun at Jaipuria House. To-morrow will be *Shashthi* (the sixth day of the Puja). It has been pouring with rain since *Mahālayā* (the day before the *Pūjā* commences). Kanpur probably never had so much rain even during the monsoon. Mataji's hut also began to leak, the tents were flooded and water seeped through the pandal roof and a few drops also fell on the images of the deities.

Ma's *Līlā* is difficult to understand. Sitaramji himself stayed up all night giving instructions trying to cope with the situation created by the inclemency of the elements, and everyone was fervently praying to Mataji that all the elaborate preparations and arrangements should not go invain.

19th October 1961.

Up to *Panchami* it was pouring cats and dogs but on Shastri all of a sudden the sun showed its face. During the four days of the *Pūjā* there was no rain except in the evening of *Saptami* when it suddenly began to pour hard but stopped after a minute, while in other parts of the city there was heavy rain for the major part of the day.

In the garden of the Jaipuria House there is a very old banyan-tree. One day Ma was walking about in the garden and on reaching the tree stood still and then circumambulated round it as it were. Afterwards we were told that this was a special place, that *pūjā* was being performed there almost daily. Ma had not been informed of all this. To-day is *Vijayā Dashami* day. With extreme splendour this *Pūjā* has been completed in Mataji's presence. Now we are sorry to say good-bye.

The Goal of Human Life

II

JAINATH KAUL, M. Sc.

The One Amid the Many

There exists, thus, amid the changing, perishing spectacle of multiple manifestation a changeless eternal single conciousness. In the dreamless state, this consciousness alone is present, although the experience of the living awareness of its sole existence is not there at that time. In the dream state this consciousness is no longer grossly static but functions, though in an erratic manner, by creating a phantom observer and a variegated world of nothing. It is important to remember that both the subject and the object of the dream-world appear and disappear simultaneously, and they are both very real so long as the dream lasts, the insubstantial nature of dream existence being revealed only when we enter the waking state. Similar, the illumined sages tell us, is the experience in the waking state. The ego, which is the false observer, and the outside world of objects and creatures are both created simultaneously in the waking state. Neither the ego nor the world, in fact, exist, as in the dream world neither the dreamer nor his dream have any real existence. But, as in dream, the fact that the dreamer and the dream-world have no real existence is known only on waking from the dream state, similarly the fact that the phenomenal world of subjects and objects has no permanent real existence, but is only an appearance, cannot be known until super-awakening into the transcendental environment takes place. It is only those firmly established in the Ultimate Reality that have the privilege to see things as they are, and their common experience is that there exists nothing other than one unlimited co-ordinated calm of existence, consciousness and bliss, the ever present witness of the three states of waking, dreaming and dreamless sleep.

From what has been stated so far, it is clear that it is only the essence of our being, the life of our life, whom the devout call God, their Lord, Master and Beloved, and which the scriptures call *Brahman* or *Ātman* that has an eternal existence. Apart from it, everything else is a mere appearance, insubstantial and presenting an objective reality so long as its other false counterpart, the perceiving, feeling and thinking ego is present. When the realization of the Atman takes place on the transcendental plane, the objective phenomenal world of nothing disappears along with the ego—the waking dreamer, just as the dream-world and the dreamer disappear on waking.

The Test

Now all this would only be just a beautiful theory were it not possible to demonstrate it as a living experience. And, it is here that true religion has an unshakably firm foundation. Not one or two, but hundreds of earnest seekers from times immemorial in different lands, and specially in our great land of Bharatvarsha, have actually realized the living truth of what has been stated above. It is because nothing else really does exist beside the ONE, that it is possible for everything other than the ONE to actually melt away and evaporate into thin air. The many appearances are there because of ignorance, which is lack of living awareness of the

Ultimate Reality. And, as soon as enlightenment takes place, the phantoms disappear. If, on the other hand, the objective world did have a real objective existence, then it would not be possible for it to disappear, enlightenment or no enlightenment.

That the phenomenal world does disappear when *Jñāna* (enlightenment) supervenes, just like the dream vanishes on waking, has been vividly stated by the well-known realized saint Goswami Tulsidas in his immortal scripture *Rāma-charita Mānas.* He says:

झूठेहु सत्य जाहि बिनु जाने।
जिमि भुजङ्ग बिनु रजु पहिचाने॥
जेहि जाने जग जाई हेराई।
जागे जिमि स्वपन भ्रम जाई॥

"Without knowledge, this false world appears to have a solid real existence although it is unreal, just as a string appears to be a snake without correct knowledge. But when enlightenment takes place, the world disappears just as the illusion of the dream vanishes on waking."

The Way to Self-Realization

We now come to the final and most important phase of our enquiry, namely how to reach the goal of human life, which is to get established firmly and finally for all time, while yet functioning in this mortal body, in that glorious universal eternally stable kernel of consciousness. Common-sense tells us that in every endeavour, and particularly in the effort to get at what is definitely known as attainable, the only thing to do is to discover the obstacle in the way, and to remove it with all the strength at our command. Now what is the obstacle in the way of self-realization ? The question is best answered by considering the other question, namely : when, in fact, it is only the Ultimate Reality which exists, and nothing else, why do we not experience it here and now ? The sages tell us that this is due to *avidyā* (ignorance). It is because of *avidyā* that we see multiplicity in unity and are subjected to the illusion of separateness. It is *avidyā* that creates the ego which appropriates to itself an unjustified, arbitrary role of a real separate existence. The ego is an imposter, and the strangest thing is that it is composed of nothing ! While this is most amusing, it is also most welcome. For, what can be easier than removing that which, in fact, has no existence. However, when we actually get to grips with the problem seriously, we find that the task is not at all as easy as it appears in discussing it.

The ego is the creation of the divine *māyā* and cannot be killed without divine grace. Says Lord Krishna in the Gita :

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

"My *māyā* of the 3 *gunas—satva, rajas* and *tamas*—is divine and very difficult to cross. However, those who surrender unto me, are able to overcome it." This utterance of the Lord gives us the final answer. The way lies through self-surrender. The only question which now remains is to find practical ways by which the ego may be surrendered to our own Atman, the sole ruler and master of everything in this universe. There are several ways of doing this, but we who are householders and thus debarred by the teachings of the Gita from running away from the field of action may find the following as a helpful proposition.

The Practice of Self-Surrender

When we are convinced that only He exists and nothing else, we should begin to put this conviction into actual practice continually and in every little detail of our life. For instance, each one of us can try to recall, at the time of, say eating anything, that the Lord within me, is the real enjoyer, and I His mean servant, whose welfare lies only in utter humility which makes my presence increasingly less felt every day. Again, when we are working, the same attitude, if adopted, would mean that the Lord in my body is doing the work as a *līlā* (play) and I am an insignificant attendant privileged to be in His presence. When this becomes the attitude, we shall neither take credit for any achievements in our work, nor worry about any discredit through unavoidable delay, or deplore other unwelcome results. At the same time, our efficiency in our work will be the maximum, because the Lord is perfect and when He is functioning, there can be no mistakes or oversights, and the best that is possible is done.

God-consciousness need not and should not be restricted to emphasizing His presence only within our own selves. His presence should be recognized with all reverence outside ourselves. When, for instance a visitor comes to our house, we should look upon him as the Lord Himself. In our day to day life, everyone whom we meet, whether at home among the dear and near ones, or among our superiors, colleagues or juniors in our place of work, we should consistently endeavour to feel His presence and look upon all forms as

His manifestations. This does not mean that in our outward dealings we should depart from the recognized code of behaviour and start falling, for instance, at the feet of passers by and begin to call them our master and beloved. It is not the external ostentatious behaviour that is required—in fact, all such attempts are hindrances as they disturb the natural serenity—but the correct constant remembrance of His sole existence in all forms of living. This consciousness, which should be active, alert, and living, will automatically affect our outward behaviour. We shall be conducting ourselves with a gracious humility, unchanging serenity, poise and that delightfully endearing love and charity towards all that brings satisfaction to the individual and spreads joy and pleasure all around.

Goswami Tulsidas lays down beautifully what our attitude should be towards our surroundings. He says:

सो अनन्य जाके असि मति न टरई हनुमन्त ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त ॥

On being asked by Hanumanji as to what constitutes perfect devotion, Sri Ram says:

"Oh Hanumaṇ, the perfect devotee is one whose permanent mental attitude towards one and all is that he is the servant, and everything—moving and unmoving—is the image of his Lord, the master of the universe."

The application of this attitude of mind can be illustrated in numerous ways. So long as the resolve to find God is strong, so long as the urge is burning and incessant, one will go on discovering different ways by which the awareness of His permanent and sole existence may be increasingly felt day by day.

A word of caution may perhaps be helpful. Dependance on our own efforts with a strong will-power, if not properly done, will not bring the results, because our unqualified efforts are the efforts of the ego, and the more we depend on it, the more we emphasize its presence, getting a result which is just the opposite. A constant prayer to the Master to reveal Himself and reduce our ego to a silent vanishing spectator is, therefore, the right road to self-surrender. The prayer may be : "O Lord, please come and occupy your rightful place as the Lord and Master and as the Sole Existence everywhere and drive away the illusion of separateness. Make me feel more and more your supreme presence all the time and everywhere."

This practice will, in course of time, lead, as those advanced in this path tell us, to the weakening of the ego, and as the ego weakens, our ability to meditate will increase. If, therefore, we find that we are able to meditate more and more, we should feel assured that we are progressing. Meditation is the sine-quanon for the highest experience of God-realization. Without meditation, culminating in *Samādhi* or Super-consciousness, the actual direct experience of the undifferentiated Supreme Reality does not take place.

The goal of human life, then, is reached only in *Samādhi*, which we should all patiently and perseveringly endeavour to experience before the end comes to our mortal frame in this present birth. No one can, of course, command this result which is in Mother's hands. All that we can do is to pray to her to give us the necessary strength, inspiration, urge and guidance, and make full use of whatever we get through her grace.

I should like to conclude this article with what Mother once said at Poona during a conversation, as reported in the May 1964 issue of Ananda Varta :

"All is His, All is He. Whatever work you do in your home, always carry it out as a service to him. In every shape and form is He alone, and therefore everything can be done as His service. The important thing is to be ever aware of Him, and to think of Him in everything one does."

Let us all pray to Mother to give us the '*subuddhi*' (wisdom) to always follow this advice.

* * *

Is Life Worth While ?

Mark Halpern

Is life worth while ? so many ask,
Dismayed at what they see.
Corruption sneers behind its mask
And bleeds humanity.

While prejudice and hate and greed,
Intolerance and pride,
Plant everywhere their poisoned seed,
And virtue seems to hide.

Is life worth while for little man
On tiny speck of earth ?
So briefly meager his life span,
The toy of death from birth...

Dear friends, 'tis but the negative
Of life you do perceive.
Forget your fears, be radiant, live !
Just listen, and believe :

Life is worth while throughout your days,
If you think not of self.
But let your heart in Service blaze,
For no reward or pelf.

For when we've dedicated all
To serve humanity,
We're ready for the final call;
We're selfless and we're free!

In endless life we've conquered death,
We're ready with a smile.
Rise free of self with every breath;
And know that life's worth while...

—

The Name Is God

SWAMI RAMDAS

God and His Name are not distinct from one another. The Name is God Himself. The moment we think of the Name our mind is filled with the presence of God. There is no easier way of focussing our thought upon God than taking constantly His Name. When we repeat the Name aloud, we feel our heart flooded with the ecstasy of love, because the sound of the Divine Name awakens the heart to the bliss and love of God.

2. Although the mental repetition of the Name is held to be far more efficacious than the verbal repetition, still, the rare experience of the sweetness and joy derived by uttering the Name aloud is incomparable. When the entire being of the devotee thrills with rapture to the music of the Name, he realizes that the Name is BRAHMAN.

3. God is both manifest and unmanifest. The Name stands for such a God. Here the unmanifest is the all-pervading, infinite, immutable, tranquil, static spirit of God. The manifest is the entire universe of name, form and movement, with all its beings, creatures, and things. The Name stands for this all-inclusive and all-transcendent Godhead, who is both personal and impersonal.

4. The Divine is thus the beginningless source of all creation and the creation itself; God, the absolute, is the nameless Name.

5. The Name can free the Soul from bondage. The Name can take it to the highest consummation of spiritual life. The Name can grant a blind soul Divine sight. The Name can bless an individual with a universal vision full of sublimity. The Name can lift the soul to inconceivable heights of God-realization.

6. The power of the Name is invincible. A mind that is deemed unconquerable, by the soothing influence of the Name becomes docile, yielding and submissive. The mind itself is transformed into God by the power of the Name. He who takes refuge in the Name can work wonders. Death itself will stand in awe of him. He can command all the forces of nature and direct them to bring about a spiritual awakening in the hearts of men. The Name can make a human mind an embodiment of eternal love and joy. The Name can convert an individual into a cosmic reality—an ignorant soul into a very God.

7. The Name is all-sufficient. The utterance of it is itself meditation. The ecstasy born of it is itself *Samādhi*. The Name is love, light, power and joy.

8. The writer can vouch for it from his own experience that the Name by itself without any other *sādhanā* can grant one the fullest vision of God everywhere and may merge him in an ocean of never-ending love and joy.

9. There is no *sādhanā* that can be universally adopted by all people and is at the same time as simple for realizing God as the Divine Name. It is perfectly true in the words of a saint that he who has God's Name always on his tongue is a *Jivan Mukta*, or a liberated Soul.

10. So dear friends, to whatever race, caste, creed or colour you may belong, take up the Name of God and feel the sweet communion with it, and you may depend upon it. Your soul through constant bathing in the nectar of the Name will not only be purified but will also be illumined by the omnipresent and omniscient light and love of God. This practice of taking the Name will lead the unyielding spirit of man to complete surrender to the omnipotent power and will of God. In the early stages, if the Name is repeated with earnestness, faith and concentration, the face and body of the devotee will shine with a peculiar lustre, his mind will be filled with wisdom and his heart with love. This is due to the predominance of *satwa guna* in the devotee. Later, if the repetition is continued with the same zeal, he will behold the universe before him as the very expression of God. He will have the Vision of God everywhere—VERILY THE NAME IS GOD HIMSELF.

* * *

Space and Time

D. S. MAHALANOBIS

Space and time, according to the Sankhya Sutra,[1] are mental constructs resulting from our perception of *ākāsa* and other categories of matter. Space as an empty receptacle of things, and time as a vacant container of states of being or becoming, have no existance in reality. They are mere unrealizable concepts of non-entities. A vacant interval of time (or space) is a concept of empty conception[2]. It involves discontinuity in the time continuum, which is uni-dimensional.

Nevertheless, a vague sense of space, as of time, is inherent in us. It begins at birth and grows definitive with our ageing in relation to the objective realities around us. We cannot think of anything without positing it in space, and necessarily in time at the same time. If we keep out all external impressions from our mind and cease to think for a while, we begin to be conscious of our mental sky, i. e., space,...an extended something, dark, perhaps tinted or variegated, amorphous. That is the crude sense of spatiality innate in us. The time-sense, however, is primarily a sense of duration of our flow of consciousness, that is, aliveness.

But, what is this aliveness? Aliveness is a state no doubt. True, it has no dimension, or has a time-along one perhaps. Nevertheless, it is an event, necessarily in space, just as the dimensionless point is a position in space. Aliveness cannot be dissociated from the thought that the subject exists, or 'I exist', where 'I' is not intuited as an isolated entity apart from its encasing, existing nowhere. It must be somewhere at any rate, and this somewhere really is cognized as an amorphous space, be it even in the mind. And mind, in Hindu psychology, is a substantive frame though not independent, of rarefied stuff. Whatever we may think of, space cannot be eliminated from it, even though we may not actively be thinking of space as it is. Hence, our fundamental sense of duration and spatiality is the crude sense of space-time inherent in us. It is an inseparable bi-unity.

---

[1] दिक्कालावाकाशादिभ्यः । ...Sankhya Sutra

[2] सखल्वयं कालो वस्तुशून्यो बुद्धिनिर्माणः शब्दज्ञानानुपाती लौकिकानां व्युत्थितदर्शनानां वस्तुस्वरूपेवावभासते । ...Vyāsabhāsya of Pātanjal.

These are conceptual space and time. The ancients did not recognize this kind of amorphous emptiness as existing anywhere in the external world. Even what is regarded as a cosmic space is viewed as a substance. Our physical space evolved out of this primordial *ākāsa*, space-stuff, known to us as *Avyakta*, unmanifested. The *Avyakta* is in a state of quiescence, a condition of equilibrium which cannot be intuited to a perceiving mind. This primal stuff is a continuum of undifferentiated manifold, indeterminate, infinite and mother of all creation. Our cosmic *ākāsa*, the primeval space, is an energized expanse in this vast deep keyed up by a force known as *parispanda*, a characteristically circular high-velocity cosmic motion. The term *parispanda* etymologically signifies 'weirling or rotary motion'.[1] This is the beginning of creative evolution. It means in effect that the atomicity of ether-space is initiated by *parispanda* as the efficient cause.

---

[1] Dr. B. N. Seal. Cf. "It is one of the fundamental dogmas of Esoteric Cosmogony, that during the Kalpas (or aeons) of life, MOTION..... assumes an ever-growing tendency from its first awakening of Kosmos to a new 'Day', to circular movement." —Blavatsky in "The Secret Doctrine."

Our notion of physical space, then, according to the ancient concept, is reducible to the notion of an ether continuum of infinitesimals. And our sense of objective time is intrinsically a sense of motion......change, succession. Since *parispanda* is inseparable from infinitesimal or atomic ether, time can have no intrinsic meaning apart from space, and *vice versa*. If all motion ceases, *time stops*, and ether reverts to its absolute state, which is uncognizable to us, i. e., the ether particles resolve back into amorphous existence at absolute rest. And the world comes to an end. Space and time, we thus can see, are Siamese twins born together out of *parispanda* in acosmic *ākāsa*.[1] They can never be in dissociation. We arbitrarily separate them in our pragmatic formulation when, deceived by Ego[2], we suppose motion to be one thing and its energy a different thing. Objectively, they are the bimodal expressions of the same energy, space-time.

Now, what is the nature of this inherent original motion in ether ? It has been designated as *parispanda*, which means whirling or rotary motion, as has already been described. We must trace the atomicity of ether to this motion-source. It can be inferred that the original ether particles represent irreducible units both of energy and motion, i. e., 'action.' What has been described by the scientists as the probable atoms of action in nature could perhaps be accounted for by these ether units. Can they be Planck's constants? The problem is too intricate, and it is for the physicists and mathematicians to find out. It can be assumed that Planck's constant is not a mathematical abstraction. It must represent a physical entity, an invariant infinitesimal quantity of something real. The ether particle suggests itself from a number of considerations. It is the fundamental universal unit in all material existence, and it may come up to what the 'constant' stands for. And if it (ether-particle) can represent a space-time unit, a tangible space-time becomes the agency of atomic action. Nevertheless, ether is as elusive as space-time to the perceptive mind. And mind too, is of the same subtle stuff. Hence, neither mind nor ether nor space-time can ever be as tangible as objective space and time separately. This identification of atomic action, if possible, may give us clues to the transformation of the ether system into 'tactile energy', 'tactile energy' into 'luminiferous energy', 'luminiferous energy' into 'differential energy', and 'differential energy' into material atoms.[1] In that way the meaning of the 'United field' may attain a lucid significance for us all, since gravitation, electricity and other forces will come in.

---

[1] That is the reason why the Sankhya traces the origin of space & time to *ākāsa*, *vide* foot-note 1, page 130.

[2] Ego is the 'division-principle.'...Sri Aurobindo.
Ego=*Ahamkara*; a sense of selfhood.

The Material ether particles are of a kind not comparable to anything we know of. They are infinitesimals, more of a non-material kind than material, and cannot be experimentally detected at present. Mathematical investigation may reveal that this ether is the same that Einstein needed to formulate his metrical field of space-time. This is not to suggest that the ancient cosmogonists had discovered all that we know in modern science. Far from it. They never had these discoveries in view. They unravelled many of the mysteries of the world, but not in the way of the present-day science. Their aim, in the main, was to gain an access to the hidden world beyond the fading borders of our universe. And their methods, understandably, were different. We may take it that they did not know whether space was Riemannian, Lobatchewskian, or Cliffordian. Since they were remarkably familiar with geometry of the Euclidean type, they took space, generally, to be of the Euclidean variety perhaps. Overcoming this Euclidean frame they had ascended into regions that, from descriptions available[1], we find difficult to conceive, since it needed a knowledge of higher dimensions and lastly, of the dimensionless reality and the Absolute.

---

[1] These terms have been explained elsewhere and cannot be discussed here in the brief scope of this article.

The objective space and time of the ancients, they knew, were modes of a single continuum that could be turned into matter[2] of five categories. This continuum, in different concentrations, is the container and the content both. Ether, energy and molar matter are gradations in the grand plenum, evolving as they did from the simplest form to degrade into the most complex. Our senses do not detect all the grades. The highly rarefied stuff at one end is aromic ether, pervaded with a cosmic ether, and is called space. Time is an insepa-

---

1. The different layers of extra-cosmic regions bear such names as Bindu (point continuum), Ardhachandra (Crescent), Rodhini (Resistant), Nāda (Sonic), Nādāndta (Silent), Sakti (Power-charged), Vyāpini (Expanding), Samanā (Mind-dimensional), Unmanā (Supramental).
2. There is no basic difference between matter and energy. Matter is bound energy.

rable component of it. They, space and time, may be loosely called aspects of energy and its motion. Ether particles are endowed with rudiments of space-time, at least conceptually, and the structures organized by these micro-particles, to be gradually moulded into gross matter, can be nothing if not metrical fields at different levels of materialization and complexity. Knit together, they are a united field. It is true, the ancients did not call this field space-time, though they perceived the unity of all matter, rarefied and gross. Whether this commonsense field can keep its ground in Relativity, only the scientists can say. Max Planck's remarks are an incentive in this direction : "We have seen that the study of physics, which a generation ago was one of the oldest and most mature of natural sciences, has today entered upon a period of storm and stress which promises to be the most interesting of all. There can be little doubt that in passing through this period we shall be led, not only to the discovery of new natural phenomena, but also to new insight into the secrets of the theory of knowledge. It may be that in the letter field many surprises await us, and that certain views, eclipsed at the moment, may revive and acquire a new significance. For this reason a careful study of the view and ideas of our great philosophers might prove extremely valuable in this direction."

The problem of measurements of space and time in the abstract, seems to offer a solution, as can be seen in the ancient analysis, which was quite rigorous. An irreducible absolute unit of time has been called a *kshana*, an instant, that is preceded by the departing instant and followed by the coming instant. All changes occur instant by instant in a time ward flow. A unit of space is an infinitesimal extensive quantity inherent in the *akasa* i, e., an irreducible ether particle. Objectively, space and time centre round rotating ether particle. An ether particle, then, represents units of both energy and duration, a space-point and a time-point. Since ether particles are supposed to be charged with motion, *parispanda*, which is primarily a rotary motion, the time taken by a complete rotary cycle will represent a unit of time, the time taken by a complete rotary cycle will represent a unit of time. The energy part of it is a space-point and represents a unit of space. If the rotation ceases, time and space are annihilated simultaneously, for the units then revert to uncognizable ether. They are absolutes. Their magnitudes can only be mathematically investigated. It is probable that Planck's constant will suggest some clues to these magnitudes. And from them other magnitudes may be deduced. Scientists may be able to compute the maximum speed of an ether particle, rotary and circular, and thus find some relation, if it exists, between these and the velocity of light. It is unthinkable that nature should fix the velocity of light, without a reason behind it, at 186,000 miles per second. The velocity of light, absolute in Relativity, may not, after all, be the maximum velocity[1] attainable even by rarefied matter; nor perhaps may it be the only velocity of its kind, if we can take into account other data not experimentally known as yet. For instance, the velocity of 'tactile energy' in isolation, and of mental ether carrying telepathic messages, may have to be reckoned with in future.

---

[1] **Hoyle Narlikar Theory of Gravitation, recently reported, has suggested that the gâlaxies in distant parts of the universe can, theoretically, hurtle away into outer space at a higher velocity than that of light.**

It may be noted in this connection, that ether particles of the ancient physicists are the extreme upper limit of material existence. Hence, if ether is to be further reduced, it can only be reverted to its formless status infinity. This may explain why a material body, if it equals or exceeds the velocity of light, attains infinite magnitude, for it is first resolved into non-atomic ether and then into primordial space, i. e., infinity. The maximum velocity then perhaps is the velocity of atomic ether, which out of *parispanda* evolves the velocity of 'tactile energy' and imparts a similar velocity to light.

The velocity of light *in vacuo* taken as a constant in Relativity, has made it a unique theory, and most surprising results have been obtained in many fields on the basis of this theory. Nobody can gainsay it. And yet, as Max Planck has warned, new surprises are always possible in this realm. Further advancement in the micro-world of science may require more refinements in methodology akin to those now being evolved in the occult sphere, for example, in spiritualism. This is not to deny the honour due to the greatest scientists of our age.

Space-time structure is a profound conception and an equally profound problem. It is a problem of forms—geometry and psychophysics. As to the latter, our present-day explorers have yet to catch up with ancient psychologists in their special fields. It is impossible to know forms without reference to our mental frame of space-time as adjusted by empiric experiences; the mind itself is constituted of space-time in the guise of ether. It is a form-making frame of mental ether. And form can know only form or structure, not the formless nor the Absolute. It does not by itself give us an accurate sense of space-time, or space and time, but the notion of space and time, crude though they fundamentally are, is imposed by it in our perception of objective space-time. And empiric experience teaches us how to adjust, just as a child teaches itself to adapt to its surroundings. What is ether then, the starting point in evolution? We now know, on ancient authority, that it is in all its ramifications, firstly, a continuum of motion-points, later, a set-up, in it, of complicated point-patterns, evolved to configurate as the phenomenal world. These structures proceed from. *ākāsa*, first acosmic, then cosmic, which is the substance behind space-time. The objective space-time, like our mental space-time, is then a frame, a form-making frame of the Cosmic Mind, which is the agency that initiates structural dynamism. Thus, "All phenomenal existence resolves itself into Force, into movement of energy that assumes more or less material, more or less gross or subtle forms for self-presentation to its own experience. In the ancient images by which human thought attempted to make this origin and law of being intelligible and real to itself, this infinite existence of Force was figured as a sea, initially at rest and therefore free from forms, but the first disturbance, the first initiation of movement necessitates the creation of forms and is the seed of a universe."[1] Our form-conscious minds keep us back from its subtle and deeper understanding.

How to get over this form-concious personal *samskāras* and resolve the mystery of noumena does not concern us at present. To know the true story of our present and past lives, taking any lesson we can get from them, is the cardinal aim of every conscious existence, in order to live a balanced conscious life in peace, plenty and harmony as useful units in an integral existence in the Universal Frame.

---

[1] Sri Aurobindo.

It may be noted, in this connection, that *yogins* in India had discovered methods to overcome space and time and to live like immortals.[1] The time-effect in these cases is somewhat analogous in result to that of the oft-quoted example of twin brothers in Relativity, one of whom returning from a long high-velocity space voyage, finds himself surprisingly younger than his brother on earth. This may seem as fantastic as the Theory of Relativity on its first appearance. But, we must remember that we live in a world of slow-motion, in which, by its side, tremendous velocities, such as that of light, exist, and our senses fail to keep pace with them, giving us a faulty impression of everything. That is the way science accounts for our failure to perceive the world of space-time in place of the world of separate space and time. Were our senses to become exceptionally sharp, it says, we would detect a different physical world nearer to actuality, either for good or for worse, for the present set-up.

———

---

[1] One of the methods used by the *yogins* was to slow down personal time by stopping or retarding the physiological and metabolic processes, for example in *samādhi*.

Old Diary Leaves

ATMANANDA

II

The following was noted from conversations with Mataji and appeared in 'Ananda Varta' as 'Diary Leaves' and 'New Diary Leaves', scattered over the last 10 years. It has now been arranged under various headings for the benefit of our readers. It seems appropriate to call this' "Old Diary Leaves,"

On Prayer and Meditation.

Question : What is the difference between prayer and meditation, provided one does not pray for anything in particular ?

Mataji : When praying one asks for the fulfilment of one's desire, even though it be the desire to become one with God or to serve Him or realize Him. Whereas meditation (*dhyāna*) means to be absorbed in the contemplation of Him. In this there is no room for desire.

Question : How can one attain to such meditation ?

Mataji : It comes spontaneously. At first you remember Him and ponder over Him and then contemplation sets in of itself. Just as while sitting here, the remembrance, the thought of your home and children comes to you unasked and you cannot help pondering over them. Similarly the contemplation of the Beloved comes naturally, of its own accord.

* * *

Question : Is prayer effective ?

Mataji : Yes. Prayer invariably has a result, not necessarily the result you pray for, but since prayer connects you with God, it is always beneficial. Suppose you pray for the recovery of your sick child and the child dies. Your prayer has not been granted, yet it will help your child in some way. You do not know what is for your real good. Suppose you pray for employment and secure it, but get ill; or for money, but a dacoit waylays and kills you for the sake of it. God alone knows your real need. At times, just as a child is given a biscuit to make it stop crying, you may not get what you desire, but something else.

Question : Why should one pray to God at all ? He in any case does all that is necessary.

Mataji : Yes, this also is true on one level. But prayer is good, for to pray means turning one's thoughts to God.

There are various kinds of prayer. At first man prays for material things like wealth, health, family, position, etc. On that level, if he did not pray for these and similar boons, he would not remember God at all. To be reminded of Him, no matter from what motive, is beneficial.

Then there is a stage, especially in the line of *bhakti*, when prayer spontaneously flows from one's heart. One yearns and pines for God and cannot help praying: "I cannot bear to be without Thee. Reveal Thyself ! When wilt Thou bless me with Thy vision ?" It is like a fever that cannot be allayed by anything but union with Him. The first type of prayer is of the ego; the second is still of the ego, but of an ego that is about to disintegrate; when its prayer has been fulfilled, there will be no other prayer.

There is another state when one prays: "Do what Thou wilt with me. I am a tool in Thy hand, only vouchsafe me the strength to endure whatever Thou mayest require of me."

There is a further state when one does not pray at all. One feels: "God does all that is necessary, so for what am I to pray ?" Then, in the firm belief that He provides for all needs of His creatures, one becomes free from worry and remains absorbed in deep meditation.

* * *

Question : You often advice devotees to take recourse to periods of silence (refraining from speech). Does this help spiritual progress ?

Mataji : By refraining from speech energy is preserved. To keep silence (*mouna*) means that the mind has reversed its outward course, in other words has turned towards God.

Question : Is it right to pray to God for all kinds of things ?

Mataji : The most excellent prayer is for God Himself.

* * *

Question : How should one meditate ? Is it better to concentrate on some object, say a flower or the like, or should one try to make the mind blank ?

Mataji : There are various methods : one is to concentrate on a deity, such as *Śiva*, *Kāli*, *Durgā*, *Krishna*, *Rāma*, and so forth. This is meant for those who feel attracted to any particular aspect of God. Another procedure is to empty the mind and stand back as a witness. It depends on the temperament and inclination of the person who meditates. However, to keep the mind empty is extremely difficult for the great majority of aspirants. Therefore one may concentrate on the inner light, the light by which all outer objects are also perceived. Even a blind man sees an inner light. Yet another method is to sit absolutely still and watch the movement of one's breathing. This will steady the mind.

* * *

A European Lady : I have read in a book on meditation that it is good for a beginner to concentrate on some concrete object or on a symbol, such as the cross, a chalice, or the light of a candle, since to concentrate on the Supreme is very difficult.

Mataji : Is this all that the book suggests ? Why not concentrate on Jesus Christ ?

The Questioner : I have not got the courage to do this. The Christ is too holy, too sublime. I could only go wrong in trying, I do not feel pure enough to attenpt this.

Mataji : All that you perceive, you behold because there is light. Without light nothing can be seen. There is only one light. Whatever anyone perceives, be he a man or an animal, is seen by that same light. The outer light originates from the inner light, even a blind person is aware of an inner light. The Light of the Self is present everywhere and in all. Whether you worship *Christ*, *Krishna*, *Kāli*, or *Āllāh* you actually worship the one Light that is also in you, since it pervades all things. Everything originates from Light, everything in its essence is Light.

* * *

Question : When waking in the morning I feel near God; but by the time I have got up and sat down for meditation this mood has evaporated to a certain extent. Is it all right to meditate lying down ?

Mataji : When you learn something by heart it is irrelevant in what position you do so. Some people learn better while sitting, others while lying down. If you find it easy to keep your mind on God while lying, you may do so, lying straight. But the best position for meditation is to sit straight and absolutely still in the posture which is most comfortable for any particular person.

* * *

Question : How does the state of *ajapā** come ?

Mataji : First of all you yourself must do *japa*.

Question : How is it that *japa* continues during sleep ? Does this not indicate that one is in the state of '*a japa*' ?

Mataji : How do you know that you are doing *japa* during sleep ? By waking up with it ? But are you ever awake ? You are asleep even now ! First put your whole "I-ness", your effort, your entire strength and capacity into practices like *japa* and *dhyāna*, etc. and then the state of *ajapā* will emerge of itself. Some people say: 'What is the good of such a state ? Simply to go on spontaneously doing *japa* day and night ?' Oh no, not so, you will then become *japātīta*, that is to say, you will transcend *japa*, go beyond it, and then the *Swarūpa*, the essence of things, will be revealed.

---

* *Ajapā* signifies a state in which *japa* goes on continuously and effortlessly in rhythm with the movement of the breath.

When practising *japa* in rhythm with one's breath, the *japa*, in the case of some *sādhakas* mingles, as it were, with the breath, becomes associated with it so indissolubly that breathing without it is impossible and thus it continues throughout the twenty-four hours. This is called *ajapā*.

* * *

Question : We often hear you say : 'Think of God.' But surely, God is unthinkable and formless. What can be thought of must have name and form and therefore cannot be God.

Mataji : Yes, without a doubt, He is beyond thought, form and description, and yet I say 'Think of him !' Why? Since you are identified with the ego, since you think you are the doer, since you say : 'I can do this and that, and since you get angry, greedy, and so forth, therefore you have to apply your 'I-ness' to the thought of Him. True, He is formless, nameless, immutable, unfathomable. All the same He has come to you in the form of *Shabda Brahman*[*] and of *Avatāra Shabda*.[**] These also are He Himself and consequently, if you abide by His name and contemplate His form, the veil which is your 'I' will wear off and then He who is beyond form and thought will shine forth.

You think that *you* are engaging in *sādhanā*, but actually it is *He* who does everything, without Him nothing can be done. And if you imagine that you receive according to what you do, it is not correct either, for God is not a merchant, with Him there is no bargaining.

* * *

---

[*] ***Shabda Brahman***, the eternal sound that is the first manifestation of the Supreme Reality and lies at the root of all subsequent creation.

[**] Descent of God in the form of the word.

Question : If a person lives alone and therefore feels that he or she should keep a pet dog or cat, will it be a help, since every creature is essentially God in one shape, or will on the contrary one's affection be directed outwards instead of turning towards God ?

Mataji : If someone has to live alone and wishes to keep a watchdog, there is no harm, for he is not likely to get attached to the animal. But if he keeps it as a pet and is all the time busy looking after it, it will disturb his meditation. What one thinks about, that one becomes. Already you are bound to attend to your own physical needs, by taking on a pet you will only multiply your material duties.

This reminds me of a story, although, it is not quite to the point : A *sādhaka* complained to his *guru* that he was quite incapable of concentrating on his meditation. The *guru* tried in vain all sorts of devices. Finally he asked the disciple : "Whom do you love most ?" 'My buffalo, 'was the reply. 'Very well', said the *guru*, 'sit down and concentrate on your buffalo.' The disciple arranged for the animal's food and drink and then locked himself into his own room. To engage himself in the contemplation of his beloved buffalo was easy enough for him and he continued to do so until he forgot everything else and became absorbed in *dhyāna*. The next day the *guru* came to see how the disciple was faring, but could not find him anywhere. He called his name several times but the disciple did not hear. After much calling and knocking he was at last roused from his meditation. 'Open the door and come outside', shouted the *guru*. 'How am I to get out', replied the disciple, 'my horns won't go through the door !' You see, what you think about, that you become. This is why it is said that one should meditate on the Self (*ātmā*) rather than on any form. Nevertheless, if there is no other means of concentrating, this also may be a way. The disciple, having learnt one-pointed concentration, later was able to go beyond the form of the buffalo and finally attained to real Union.

Another incident was reported to this body some years ago. A European lady had been deserted by her husband whom she loved dearly. She found it impossible to get over the loss of him and in a state of acute mental distress approached a saint with the request to teach her how to forget her sorrow. The saint advised her to sit before her husband's photo and contemplate it with the idea that it was an image of God. The lady did as had been suggested to her and derived much solace from her meditation, as she felt closer and closer united with her husband's soul, while the physical separation seemed to matter less and less. After a few years her husband repented of his behaviour and returned to her. But the woman refused to live with him and asked him to leave her again. She had contacted something real that remained with her always and consequently had lost her attachment to the physical form which comes and goes.

Question : I still don't know whether to take on a pet animal or not ?

Mataji : Practise meditation for some time and see how you feel. Rather than caring for a dog or cat turn your thoughts to the Divine.

* * *

Question : You often say we should constantly think of God, be immersed in Him. But when attempting to do this one's daily duties in the home will be neglected. Suppose a child comes and asks for something—one will attend to it hurriedly; or guests arrive and one does not look after them with the care they deserve. What then is one to do while living a householder's life ?

Mataji : If you are immersed in God, why bother about the world ? Let happen what may, you are absorbed in God.

The Questioner : But my people find fault with me, they say that I am half here and half there and therefore not successful in any line.

Mataji : Oh no, you are not half 'there', very much less than half, and with that little bit of other-worldliness you can attend to your household duties very well indeed, even better than you could otherwise. Keep some hours reserved for meditation, and for the rest do your work as a service to God. If you think of God all the time and look on everyone as a form of Him, your work will be done excellently and satisfy everyone. When a man is intent on accumulating wealth, he hides what little he has, and even when his treasure grows, it has to be kept carefully concealed. Similarly foster in your heart what little inner wealth you have gained, and outwardly occupy yourself with the service of your family. There is no need to make a show of the little you have acquired. But when you become really immersed in the One, so that it is impossible for you to attend to your work, then nobody will find fault with you. On the contrary, people will feel the divine Presence in you and be only too eager to serve you. Even if guests are not looked after they will not mind it for they will be happy to be in your company. But that state is quite different from what you know now—the world will then no longer exist for you.

———

"God is all pervading—in every form, in every sect and religion is He alone".

—Ma Anandamyi.

Matri Lila

(July 1st—Oct. 15th, 1964)

From July 4th to September 5th Mataji remained in Dehradun. After spending the first day and night at Raipur, she proceeded to Kishenpur on July 5th. A great number of functions followed one another throughout her stay. We have already mentioned the *Bhāgavata Saptāh* (11th-18th July) and the house opening ceremonies on July 10th and 11th. From July 13th to 15th the consecration of a new temple dedicated to Rama, Sita, Lakshman and Hanuman took place in Kalyanvan, which is a large garden belonging to the Sangha, nearly half a mile further up Mussoorie Road than the Kishenpur Ashram. It is a very special place. We have on several occasions written about it at length. This time also Mataji related how, years ago, she once saw the whole garden populated with deities, *Rishis, Mahātmās*—great beings without number. Amongst them was also young Sri Ramachandra riding on a horse.

The Assistant Secretary of the Dehradun Ashrams, Sri Nawal Kishore, had for several years, at Mataji's advice, reading portions of the *Ramāyana* on Sunday afternoons in the Ashrams in turns and also organised the reading of the entire *Ramāyana* almost every full moon. He was largely instrumental in building the new Rama temple. Mataji appeared to take great interest in the rites and functions in connexion with the final consecration of the images on July 15th. These images (like those of all the temples of our Ashrams) strike everyone as extraordinarily beautiful and alive. A word might here be said about the peculiar way in which they were acquired. Mrs. Kamala Mohanlal and her son Anand, an official at Jaipur, had been entrusted with the task of procuring the images, as Jaipur is famous in this respect. After searching in vain the whole of the city, they were about to return home tired and disappointed, when a half-grown boy approached them in the street, offering to take them to see some good images. At first they paid no attention to him, but when he insisted they finally gave in and followed him. Lo and behold, they found exactly what they had been looking for. During Mataji's stay a number of functions took place on the veranda of the temple, the audience being accommodated on the large platform in front of the Rama and Sita shrines.

On July 24th *Gurupurnimā* was celebrated. As every year, devotees gathered from far and near, and Mataji was especially gracious, remaining among us almost continuously from early morning until late at night, blessing abundantly every single person who approached her.

Gurupurnimā marks the beginning of a period called *chaturmāsa* and a shorter one called *chaturpaksha*, which has since Vedic times been considered as specially suitable for *tapasyā* and concentrated *sādhanā* by *sādhus* and *sannyāsis*. *Chaturmāsa* signifies the four months of the rainy season and *chaturpaksha* means the four phases of the moon upto September full moon. *Sādhus* usually select some holy place for their abode during that period, making strict rules for themselves as regards food, sleep, practice of *sādhanā* and so forth. This time Mataji suggested a number of special rules also for the Ashram girls, who are now occupying their rooms in the newly built upper story above the Ashram kitchen and dining hall. At *darsana* time Mataji referred to this, requesting everyone to utilise to the best of their ability this opportunity for the practice of *Samyam* in their homes. People might for instance try to rise early morning and yet not sleep during the day, they might also fix one day a week on which to eat only one main meal and take milk and fruit at night and also keep a weekly saltless day. Mataji never tires of urging people to cultivate *satsang* whenever possible.

Gurupurnimā was succeeded by a spell of greater quiet, at least regarding functions and festivals. On August 12th Mataji motored to Kankhal to be present at the opening ceremony of a new room on the top floor of our Ashram there, named 'Shantiniketan.' In the early morning of the 13th she was back at Kishenpur, where *Akhanda Rāmāyana* started that very day in the new *Rāma Mandir* and was successfully completed in Mataji's presence at noon the next day. From 15th to 22nd August another *Bhāgavata Saptāha* was held, with Pd. Srinath Sastri of Vrindaban officiating as the reader of the Sanskrit original every morning and also explaining in Hindi every afternoon for about four hours.

From July 18th to 22nd the *Jhulan* festival was celebrated every evening after the discourse on the Bhāgavata was over. *Pūjā* and *Kīrtana* were performed in front of a profusely decorated swing on which several images of Krishna and Radha were placed. As usual, the Ashram girls were in charge of the decorations, that were different every evening and always beautiful and artistic. *Jhulan Purnimā* marks the culmination of the festival. Mataji delighted everyone by singing for quite a while that evening. The hall was packed even during the midnight meditation (11-45 p.m. –12-15 a.m.) that was preceded and followed by very beautiful bhajans until 1 a. m. This constituted the yearly anniversary of the memorable night in 1922 when Mataji gave herself *dīkṣā* (initiation) as it were. This came about spontaneously, just like all the countless *sādhanās* she went through at incredible speed during the few years that followed.

On the day after *Purnimā* falls the festival of *Rakshā Bandhan.* Already during the preceding night and the whole of the next day devotees came, eager to tie silken bracelets round Mataji's wrist, and Mataji in turn also presented bracelets to everyone of them. Many of those who are unable to come in person send bracelets by post. This year as well as last year some specially beautiful ones were received from a devotee in Los Angeles who makes them with her own hands. On the 23rd morning Mataji went to the temples at Kalyanvan to present bracelets to Rama, Sita, Lakshman, Hanuman and Sivaji. This was a new, very charming informal little ceremony with only a handful of people present.

On August 24th Mataji moved to *Sādhan Ashram,* Jakhan, (about ½ mile's distance from Kishenpur). That day she also paid a visit to the Civil Hospital to bless an aged *sādhu* of our Raipur Ashram who was to undergo an operation there. On this occasion Mataji went to see all the other patients as well and distributed fruits to them. The next day fruit was again sent to the hospital on Mataji's behalf. In *Sādhan Ashram* Mataji could enjoy comparative quiet for about three days. Her room there has been built on the roof of the house and commands an exquisite view over the mountains and the Doon Valley.

On August 29th Mataji shifted to the Raipur Ashram where *Janmāstami*, Sri Krishna's birthday was celebrated on the 30th night and *Nandotsava* (the joy of the cowherds over the birth of Sri Krishna) the following morning. Raipur is one of our oldest Ashrams situated in really picturesque surroundings. The place has been hallowed by Mataji's sojourn there for a whole year in 1932 together with Bholanath and Bhaiji, and has an atmosphere of its own. But the hall is far too small to hold the multitude that now-a-days flocks to Mataji, especially on festive occasions such as *Janmāstami*, although the place is not easily accessible from Dehradun. The celebration continued until about 2 a. m. when Mataji supervised herself the distribution of *prasāda* to all. Many had fasted without a drop of water throughout the day, as customary for worshippers of Sri Krishna. No sooner was *Nandotsava* over by ten o'clock the following morning, than a bus and several cars arrived to take Mataji and her party to Gita Bhavan and three other places in Dehradun. Only late that afternoon Mataji returned to Kishenpur.

During Mataji's stay in Dehradun, a group of 30 boy scouts from Jullundur arrived one day. They had quite a long discussion with Mataji, who called them her friends and enjoined on them to cultivate the remembrance of God· Some of them seemed keenly interested and asked for details regarding meditation. After a trip to Mussoorie they came to say good-bye to Mataji. When Mataji got up to retire to her room, they began to repeat in chorus like a slogan : "Ma Jullundur *ao* ! Ma Jullundur *ao* !" (Ma, come to Jullundur.)

"Ma is in Jullundur and Ma is travelling with you to Jullundur," Mataji could be heard to exclaim above their voices.

As usual, a number of people hailing from abroad came for long and short periods for Mataji's *darsana*. Two very short visits of foreigners seem worth mentioning in some detail. One morning a lady from Michigan arrived, probably a journalist. She had reached Delhi only the day before by plane, took the night train to Dehradun and wanted to leave again by the afternoon bus. She had obviously not yet adapted her American speed to Indian condition. With considerable impatience she waited for Mataji to emerge from her room, when she at once got busy with her camera, taking photos from all sides. She was later granted a short interview. Armed with notebook and pencil, she was eager to jot down every word Mataji uttered. "What is your message to the American people," she began, "I want to write an article about you." Mataji smiled: "Well, this body has no particular message. However, what this body always says is :

(1) *Hari kathā hi kathā aur sab vrithā, vyāthā* (Of Thee alone must be the spoken word, all else is but futility and pain.)

(2) Where *Rāma* is, there is *ārāma* (rest and ease); where Rama is not—*vyārāma* (discomfort and disease.)

(3) For man there is only one thing: to search and find Himself."

The lady wanted to know, where *Rāma* was not. "In the world of sense objects with its pairs of opposites, *Rāma* cannot be found. He is where pleasure and pain are not. *Rāma* means *Ānanda*, the bliss that is not of this world."

"When are you coming to America? Paramahansa Yogananda said that the U. S. A. was badly in need of a woman saint."

"This little child *is* in America. Try to see her there", was the surprising answer. The visitor, highly pleased with Mataji's reply, promised to follow her advice. She also took Mataji's assurance that 'she was always with her,' verbally in a material sense, for when someone asked her whether she intended to come again, she promptly said: "There is no need, since Mataji is always with me."

The other incident was the visit of a group of 10 people from Paris, who had come on a pilgrimage to India's holy places, guided by their South Indian Guru, who teaches *hatha yoga* in France. They had travelled for two nights in order to have Mataji's *darsana* and were leaving Dehradun the same night. In the morning they accompanied Mataji to Kalyanvan. Then Mataji sat in the hall with them for quite sometime. We were amazed to see them *pranāma* to Mataji in the Indian way with sincere and deep reverence. They were eager to take with them not only photos of Mataji, but also especially of her feet! At 5 p. m. Mataji received them again, this time in her own room. They sat in complete silence for about 50 minutes. Fourteen Europeans and a few Ashramites were present. The French pilgrims, who hardly knew any English, were evidently profoundly moved. On taking leave, some wished to express their gratitude to Mataji, but Mataji interrupted: "One thanks another, not one's own self." When after a pause she added: "On the contrary, this little child must thank you for having come from such a great distance to give *darsana* to her", many of them had tears in their eyes. They declared that, although they had had no talk with Mataji, all their questions had been replied in silence.

During her sojourn at Kishenpur, *sannyāsis* belonging to the Divine Life Society at Rishikesh had come to see her several times. The present head of the organisation Swami Chidanandaji also came in person and had a private talk with Mataji. On September 8th Mataji and her companions followed his invitation to visit their Ashram. It was the anniversary of the birthday of their Guru Sri Swami Sivanandaji. Mataji was received with extreme reverence and joy and given a tremendous ovation. She was first taken to the Eye Hospital and then shown round the entire Ashram, climbing right up to the Siva Temple. *Prasāda* was offered to her and distributed to everyone in lavish quantities. We all felt deeply moved by the spirit of the Ashramites and by the enthusiasm with which Mataji was welcomed by one and all.

After a few days at Kankhal, Mataji shifted to Baghat House, Hardwar, from where she left for Vrindaban on September 19th. On the 22nd Mataji paid a short visit to Delhi, Vrindaban again on the 24th, accompanied by returning to Sri Gurupriya Devi and others who had been in the Delhi Ashram.

Mataji is expected to remain in Vrindaban for the Durga Puja, Lakshmi Puja, Kali Puja (Diwali) and also the 15th Samyam Saptah Mahavrata that is to be observed from 12th–18th November.

Registered with the Registrar of Newspapers for India under No. RN 4726/57

SHREE SHREE ANANDAMAYEE SANGHA
LIST OF PUBLICATIONS

Hindi

Mātri Darshan—"Bhaiji"	2-50
Sad Vāni "	1-00
Sri Sri Ma Anandamayi—Gurupriya Devi Vol. I to VII	16-50
Ma Anandamayi—Dr. Pannalal	2-50
Ma Anandamayi Upadeshamrita Sangraha	(Out of print)
Akhanda Mahāyajña—Gurupriya Devi	2-50
Kirtan Rasa Swarūpa	6-00
Sankirtan, Stav, Aratī	0-50

Bengali

Mātri Darshan—"Bhaiji"	2-00
Sad Vāni "	1-00
Mātri Vāni	0-75
Sri Sri Ma Anandamayi—Gurupriya Devi Vol. I–XII	29-00
Ma Anandamayi Upadeshamrita Sangraha	1-50
Akhanda Mahāyajña " "	2-50
Kirtan Rasa Swarūpa	6 00
Suno Bali Maer Kotha—Sailesh Brahmachari	1-25
Mātri Lila Sankirtan	0-31
Anandamayi Ma—Ganga Samiran	2.50
Namavali— "	0.50

Gujarati

Mātri Darshan—"Bhaiji"	1-50
Ma Anandamayee Ke Sannidhyame, Part I & II—Br. Kantibhai	2-00
Amrit Vani—Br. Dattatreyanand	2-00

English

Mother As Revealed to Me—"Bhaiji"		4.00
Mother As Seen by Devotees (A Symposium)		3-00
Mātri Vāni (Sayings)	1-50 Special edition	2-50
Words of Sri Anandamayi Ma	3-00 Special edition	5-00

Photos etc.

Album of Mother's pictures	1-50
Photos—various sizes	0-40 to 15-00
Lockets	1-25

Ananda Varta

HINDI & ENGLISH

श्री श्री आनन्दमयी संघ
ॐ माँ
मातृ शरणं

. XII

February, 1965

No. 4

MATRI VANI

REVISED AND ENLARGED EDITION.

This small book contains a rare selection from the sayings of Mata Anandamayee, pearls of wisdom that were uttered in reply to letters from various people at different times.

They come from a great depth far beyond the dividing barriers of sect and creed and have a universal appeal to all human beings. They are sure to bring solace to the afflicted and sorrow-stricken and throw light on the razor's edge path of the seeker after Truth.

The revised and enlarged edition has just been printed on very good paper with two new pictures of Mataji. Special care has been taken to make the binding and cover also more decent.

Price : Cheap edition—Rs. 1.50
Board bound—Rs. 2.50
Publishers : Shree Shree Anandamayee Sangha
Bhadaini, Varanasi.

Ānanda Vārtā

A quarterly journal dealing mainly with the divine life and teaching of Shree Shree Ma Anandamayee and with other religio-philosophical topics

*

BOARD OF EDITORS

Mahamahopadhyaya Sri Gopinath Kaviraj, M. A., D. Litt.
Kumari Lalita Pathak, M. A.
Kumari Padma Misra, M. A., Acharya.
Kumari Bithika Mukerji, M. A., D. Phil.
Brahmacharini Atmananda.
Sri Sailesh Brahmachari.
Sri Amulya Kumar Dutta Gupta, M. A. B. L,
Sri K. Bose—*Managing Editor.*

*

Annual subscription (postage free) India—Rs 6/- only
Foreign—(By Sea Mail) Rs 7·50 for 15 shillings or $ 2·00
" (By Airmail)—Rs. 17·50 or £1-10-0 or $4.50

CONTENTS

English Section

1. Matri Vani 157
2. Pages from my Diary—Gurupriya Devi ... 159
3. Viraha Mala—Gauridasi ... 167
4. A new light on Plato—D.S. Mahalanobis ... 174
5. Religion in the New Age—Mark Halpern ... 187
6. Replies to question from our Readers 194
7. Mother Kali—Saroj ... 199
8. Matri Lila ... 200

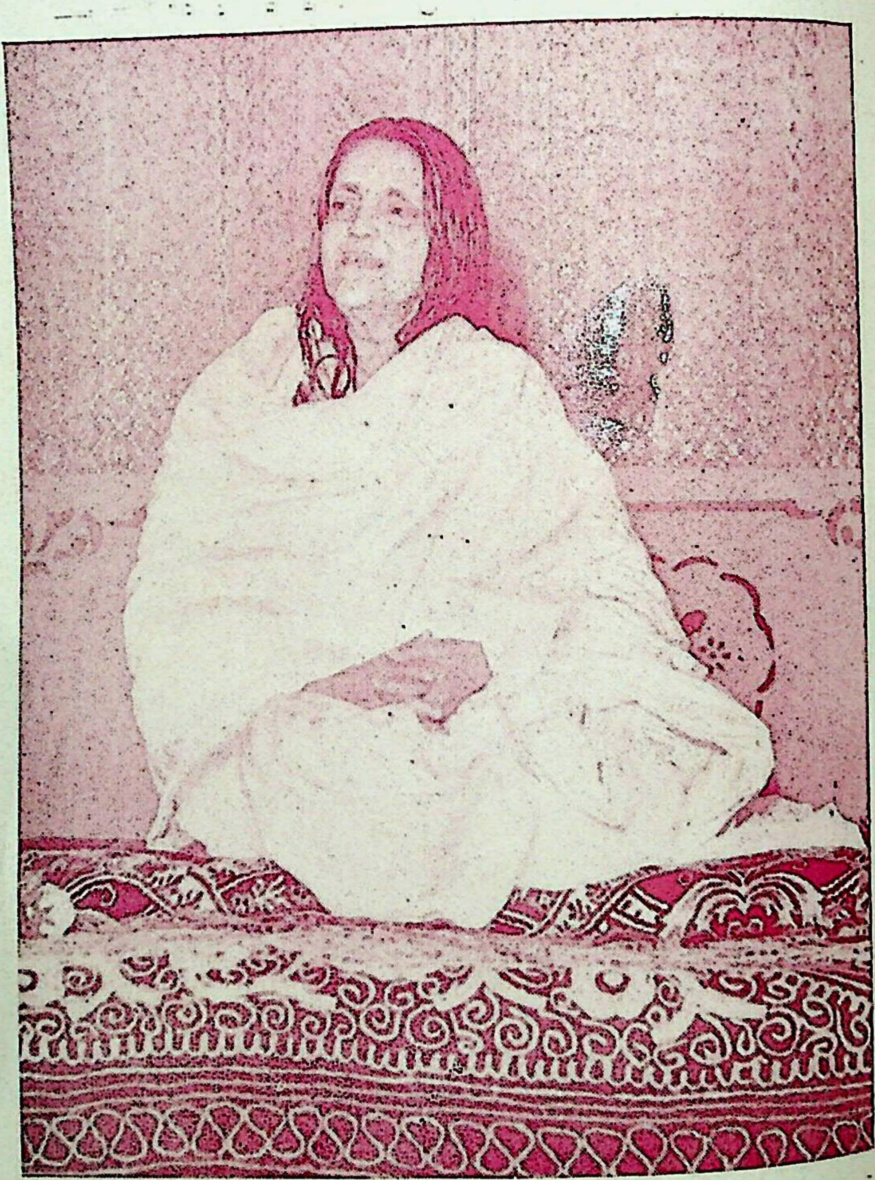

Ānanda Vārtā

"अमर आत्मा—अमर पन्थी स्वयम्—अपनेमें आप।"

VOL. XII] FEBRUARY, 1965 [NO. 4

—मातृ-वाणी—

अमृत-भोजी बनो तुम लोग—अमर-भोजी। अमर पथ पर चलो—जहाँ मृत्यु नहीं है; व्याधि नहीं है।

× × × ×

भगवत् क्रिया ही क्रिया है—अन्य सब अक्रिया—मृत्यु पथ की क्रिया है? स्वक्रिया में स्थित होना ही तो मनुष्यमात्र का कर्तव्य है।

× × × ×

मनुष्य तो अभाव रूप से ही प्रकाशित है। अभाव की ही चिन्ता करता है—अभाव ही प्राप्त होता है। स्वभाव की चिन्ता करनी चाहिए। नहीं तो अभाव—अक्रिय–अगति–दुर्गति–मृत्यु!

× × × ×

केवल तुमहीं—तुमहीं—तुमहीं हो! सबमें तुम्हीं हो। फिर तुम्हीं तो स्वयं ही। अनन्त केवल वे ही हैं—केवल मैं ही हूँ।

× × × ×

वहाँ भी पेन्शन मिलती है। यहाँ की पेन्शन तो केवल शरीर के ही साथ है किन्तु उस पेन्शन का अन्त नहीं होता। उनकी किस कृपा से पेन्शन हो जाती है वह बात कही नहीं जा सकती। जो कुछ माँगना हो उसी कृपा को ही माँगना होता है।

× × × ×

उन्हें पुकारना व्यर्थ नहीं जाता। जब तक उधर से उत्तर नहीं मिलता तब तक पुकारते चलो। स्वयं को ही तो पुकारना है—स्वयं ही अपने को प्राप्त करना है। अखण्ड को पुकारने से तो अखण्ड को ही पाना होता है। अपनी आत्मा—प्राणों के प्राण—उस प्रिय को ही तो पुकारना है। न जाने कितने समय से भोग को पुकार-पुकारकर भोग करते आये हो! जिन्हें पुकारने से पुकारने-बुलाने का द्वन्द्व ही मिट जाता है उस पुकार को ही प्रिय मानना चाहिए।

———

श्री श्री माँ आनन्दमयी प्रसंग

चतुर्थ खंड

श्रीअमूल्यकुमार दत्त-गुप्त, एम्० ए०, बी० एल० (पूर्व्वानुवृत्ति)

(४)

३ चैत्र १७-३-४३—आज सवेरे श्रीयुत मनोरंजन राय और मैंने आश्रम में जाकर सुना कि कल रात माँ सिद्धेश्वरी गईं। हम भी उधर चले। वहाँ विदेश से आए हुए भक्तों को देखा, एक-एक करके ढाका के भी बहुत से भक्त वहाँ आकर उपस्थित हुए। श्री श्री माँ तबतक शय्या से उठी नहीं थीं। लगभग ८ बजे माँ उठीं। इधर माँ को रमणा आश्रम ले जाने के लिए गाड़ी तैयार थी। माँ सबको साथ लेकर एक बार पुजारी के घर गईं। उस स्थान के वैशिष्ट्य को खुकुनी दीदी बाहर से आए हुए भक्तों को बताने लगीं—वहाँ कुछ देर ठहर कर माँ रमणा आश्रम लौट आईं। रमणा आश्रम में भी तबतक बहुत लोग आ गए थे।

माँ सबों से कुशल प्रश्न आदि करने लगीं, कन्ट्रेक्टर श्रीयुत शचीन्द्र चन्द्र घोष भी मिलने आए थे। श्री श्री माँ ने उनकी लड़कियों की कुशल पूछी। इस तरह लगभग १२-३० बज गए। हम लोग प्रणाम करने के लिए माँ के पास जाकर खड़े हुए। शचीन बाबू के पैर में खाज देखकर माँ बोलीं, "बाबा, तुम्हारे पैर में क्या हुआ है ?" शचीन बाबू ने रोग की बात बताई। माँ ने फिर पूछा, "कोई दवा नहीं लगाते हो ?"

शचीन बाबू—माँ, कोई यन्त्रणा नहीं होती।

माँ—अभी यन्त्रणा न होने पर भी, ज्यादा दिन हो जाने से असुविधा होगी। मैं जब वर्धा गई थी, एक आदमी ने सिर पड़कर खाज की एक दवा मुझे बताई थी। उसने यह भी कहा था कि वह खाज की अव्यर्थ औषधि है। परन्तु बहुत दिनों तक देनी पड़ती है—जितने दिन का रोग, प्रायः उतने ही दिन उसे लगाना पड़ता है।

औषधि इस प्रकार तैयार करनी होती है—एक पाव के अन्दाज सरसों का तेल आग पर उबाल कर उसमें अन्दाज से एक छटाँक आक का कस डाल कर उबालना पड़ता है—आग के ऊपर रखकर यह कस डालने से सम्भव है वह आग पकड़ ले। इसलिए कढ़ाई नीचे उतारकर धीरे धीरे कस डालना पड़ता है और बीच-बीच में कढ़ाई को आग पर चढ़ाकर तेल गरम करना पड़ता है। अन्त में हल्दी का या कच्ची हल्दी का रस डालकर सबको उबाल कर, घना (गाढ़ा) करके उतारना होता है। इस औषधि के व्यवहार से खाज नहीं रहता। यह सब बात सुनकर शचीन बाबू और मैं घर चले आए।

एक सिद्धा माँ

शाम को आश्रम में जाकर देखा कि माँ मैदान में बैठी हैं और लड़कियाँ चारों ओर घेरकर बैठी हैं। सन्ध्या के कुछ पूर्व एक सिद्धा माँ अपने कई भक्तों के साथ श्री श्री माँ के पास आईं। सुना कि वे लोग सिद्धेश्वरी काली बाड़ी से आए हैं। उन माँ के भक्तों में से एक ने कहा, “माँ (अर्थात् सिद्धा माँ) को आदेश मिला है कि एक बुधवार उन्हें सिद्धेश्वरी जाना होगा। इसी से आज उनका सिद्धेश्वरी बाड़ी आना हुआ। वहाँ श्री काली की पूजा ठीक से नहीं होती, माँ ने आकर पुजारी से वह बात कही और कैसी पूजा करनी चाहिए बता दिया।”

सिद्धा माँ को श्री श्री माँ के आसन के निकट ही आसन दिया गया था। सिद्धा माँ के आसन ग्रहण करने पर श्री श्री माँ उन्हें “माँ, माँ” कह कर, आदर करने लगीं। सिर के कपड़े के नीचे जटा देख कर, उसे हाथ से स्पर्श करके बोलीं, “यह भी क्या हो गई है? ऐसी कितनी जटा हुई हैं?” सिद्धा माँ निरुत्तर रहीं। भूपति बाबू ने जो कुछ सिद्धा माँ से उनकी अवस्था के सम्बन्ध में सुना था, माँ को सुनाया। उन्होंने कहा, “पहले इनके घर दक्षिणा काली की पूजा होती थी और उस समय इन लोगों की सांसारिक अवस्था भी खूब अच्छी थी। पीछे वह पूजा बन्द हो गई। उसके बाद से ही विपर्यय आरम्भ हुआ। एक दिन इन माँ ने अपने घर की दीवार पर बैठी हुई एक बालिका मूर्ति देखी और उसे देखते वे बेहोश हो गईं। उसके

बाद से ही भावावेश होता है। रोज सवेरे आवेश होता है और उस समय वे उस मूर्ति को देखती हैं और बातचीत करती हैं। उस समय जो सब बात-चीत होती है वह माँ को याद रहती है। अन्य समय आवेश होने पर वे कुछ नहीं देखतीं और उस समय जो कहती या सुनती हैं वह उन्हें याद नहीं रहता।"

श्री श्री माँ—कौन मूर्ति देखती हो?

सिद्धा माँ—आठ-दस साल की एक बालिका मूर्ति।

श्री श्री माँ—अन्य कोई मूर्ति नहीं देखती हो?

सिद्धा माँ—देखती हूँ।

श्री श्री माँ—वह देखने में कैसी है?

सिद्धा माँ—नाना रूप होते हुए भी उसी बालिका के समान।

श्री श्री माँ—मूर्ति देख कर मन में कैसा भाव होता है?

सिद्धा माँ—आनन्द होता है।

श्री श्री माँ—कैसा आनन्द?

सिद्धा माँ—(अपने भक्तों को दिखाकर) इनको देखकर, इनके माँ कहकर पुकारने से क्या आनन्द नहीं होता?

श्री श्री माँ—(हँसकर) तुम माँ हो न, तभी माँ की तरह बोलती हो।

कुछ देर बाद माँ ने फिर पूछा, "तुमसे आवेश के समय कोई प्रश्न करने से, उसे सुन सकती हो?"

सिद्धा माँ—नहीं।

श्री श्री माँ—तो उत्तर कैसे देती हो?

सिद्धा माँ—उस समय क्या होता है, मैं नहीं जानती। क्या प्रश्न होता है, क्या उत्तर होता है, मैं कुछ भी नहीं जानती।

एक भक्त—जोर से प्रश्न न करके मन ही मन प्रश्न करने पर भी उसका उत्तर मिलता है।

श्री श्री माँ—ऐसा भी हो सकता है। (सिद्धा माँ से) आवेश के समय जो सब आदेश होते हैं, वह कुछ भी तुम्हें याद नहीं रहते?

सिद्धा माँ—साधन सम्बन्धी कोई बात यदि मुझसे कही जाय, तो वह याद रहती है।

सन्ध्या हुई देख सिद्धा माँ के भक्तों ने उन्हें घर ले जाना चाहा; क्योंकि घर पर माँ के छोटे-छोटे बच्चे हैं। माँ के कितने बच्चे हैं, पूछने पर भक्तों ने बताया। सिद्धा माँ ने उठने की चेष्टा की तो माँ ने बाधा देकर कहा, "मैं अपनी माँ को नहीं जाने दूँगी।" अन्त में सिद्धा माँ बोलीं—"कल फिर आऊँगी।"

श्री श्री माँ—कब आओगी ?

सिद्धा माँ—दोपहर के बाद, दो-ढाई बजे।

"अच्छा" कहकर माँ ने उन्हें जाने दिया।

सिद्धा माँ के चले जाने पर श्री श्री माँ बोलीं—"यह आकस्मिक शक्ति का प्रकाश है।"

इसके बाद मैं घर चला आया। रात को भोजन के बाद अपने आत्मीय श्रीमान् यतीन मजूमदार के साथ फिर आश्रम गया। जाकर देखा श्री श्री माँ रमणा की कालीबाड़ी गई हैं। वहाँ थोड़ी देर बातचीत करके माँ आश्रम में लौट आईं। कुछ देर बाद माँ को भोग देने के लिए ले जाया गया।

रमणा आश्रम के प्राचीन साधकगण

भोग के बाद माँ आश्रम के प्रांगण में टहलने लगीं। हम भी माँ के साथ-साथ घूमने लगे—पूर्वकाल में इस आश्रम में किस श्रेणी के साधु साधन-भजन करते थे इस सम्बन्ध में बात उठी। माँ बोलीं—"यहाँ बंगाली साधु तो थे ही, उनके अतिरिक्त पश्चिमदेशीय, मद्रासी साधु भी थे। जिन सब साधुओं की समाधि यहाँ पाई गई हैं उनके नाम से ही समझा जा सकता है कि वे किस प्रान्त के लोग थे। इस आश्रम में गुलाबगिरि, कालीबाड़ी में हरचन्द्र गिरि एवं लाटसाहब की कोटी में चैनगिरि की समाधि हैं, ऐसा प्रकाश में आया है। यह शरीर जब शाहबाग में रहता था तो सन्ध्या समय आरती देखने कालीबाड़ी जाता था। उस आरती को देखने आकर मैं घंटों वहाँ पड़ी रहती थी। उस समय इन सब साधुओं से मिलना होता था। कोई जमीन पर खड़े हैं, कोई शून्य में आसन से

बैठे हैं—यह सब साफ-साफ देखती थी—विशेष कर चार साधुओं के साथ ही ज्यादा मिलना होता था। इसके अलावा इस आश्रम में एक आम का पेड़ था जिसका आम अकाल में होता था और उसके आम भी देखने में अन्य प्रकार के थे। जब मैं मद्रास घूमने गई थी तब मैंने उस जाति के आम देखे। इसी से मालूम पड़ता है कि किसी मद्रासी साधु ने वहाँ से आम लाकर यहाँ पेड़ लगाया था। उस समय तो रेलगाड़ी नहीं थी। सवाल उठ सकता है कि इतनी दूर से साधु आना-जाना कैसे करते थे। प्रवाद है कि ये साधु आकाशमार्ग से चलते फिरते थे।

मैं—मुझसे मिलते ही बाबा विशुद्धानन्द रमण के तालाब और जंगलों की बात पूछते। उन्हें यहाँ से आकाशमार्ग द्वारा विन्ध्याचल ले जाया गया था।

आवेश की वाणी मिथ्या क्यों होती है ?

इसके बाद आज जो सिद्धा माँ आई थीं, उनकी बात शुरू हुई। वे आवेश के समय प्रसाद ले आती हैं यह बात श्रीयुत सुरेन्द्रनाथ वन्दोपाध्याय महाशय ने माँ से कही—"भावावेश के समय प्रार्थना करने मात्र से ही उनके पास नाना प्रकार का प्रसाद आ जाता है--खिचड़ी, सन्देश इत्यादि। मैंने फल प्रसाद की प्रार्थना की थी। दो दिन वे वह नहीं दे सकीं, फिर तीसरे दिन मेरे न चाहने पर भी, एक आपेल (सेव) उन्होंने मुझे दिया। परमानन्द स्वामी जी बोले—"भावावेश के समय उन्हें कोई भी बात याद नहीं रहती, यह जो उन्होंने कहा वह मालूम होता है ठीक नहीं है, क्योंकि इस फल की बात तो उन्हें याद थी।"

माँ--कितना प्रसाद लाती हैं ?

यतीन—दो-तीन मुट्ठी।

मैंने हाथ से दिखाया कि अन्दाज से लगभग डेढ़ पाव प्रसाद लाती हैं।

माँ—(मुझसे) तुमने लाते देखा है क्या ?

मैं—हाँ।

माँ—कैसे लाती हैं ?

मैं—कपड़ों के नीचे से प्रसाद बाहर करती हैं।

केदार बाबू—इस तरह क्या प्रसाद लाया जा सकता है ?

माँ—क्यों नहीं लाया जा सकता ? जो भावावेश के समय अन्य स्थान से सूक्ष्म में आ सकते हैं, वे साथ में फल नहीं ला सकते ? फिर भी इस सबका स्थूल में प्रकाश करने के लिए शक्ति की जरूरत है ।

सुरेन बाबू—भावावेश के समय रोग की अवस्था देखकर औषधि भी बता देती हैं। कौन कहाँ कैसा है—जानने की इच्छा करने पर वह भी बता देती हैं। सब बात अवश्य सत्य नहीं होती ।

परमानन्द स्वामीजी—ये यदि किसी शक्ति के प्रभाव से वह सब उत्तर देती हैं तो वे ठीक क्यों नहीं होते ?

स्वामीजी का प्रश्न मैंने भी माँ से पूछा ।

माँ—किसी को लक्ष्य करके यह सब बात नहीं कर सकती क्योंकि यह सब तो इस शरीर ने स्वयं देखा नहीं और इस शरीर का तो इस प्रकार का भावावेश हुआ नहीं जिससे यह शरीर यह सब बात कर सके ।

मैं—माँ, किसी को लक्ष्य न करके भी इस विषय की आलोचना हो सकती है । एक सरल महिला के अन्दर जो यह सब अलौकिक शक्ति के खेल का प्रकाश हो रहा है उसके विषय में अनेकों को ही जिज्ञासा हो सकती है । अवश्य, यदि तुम्हें कभी इस प्रकार का भावावेश नहीं हुआ तो यह सब व्यापार तुम कैसे जानोगी ।

माँ—यह शरीर तो अनेक बार बहुत बात कहता है जिसे सुनकर तुम लोग कहते हो कि इस तरह की बातें शास्त्रों में हैं । वह सब यह शरीर कैसे कहता है ? इस शरीरने तो शास्त्र पढ़ा नहीं ।

मैं—और फिर तुमने यह भी कहा है कि साधन की ऐसी कोई भी अवस्था नहीं है जो तुम्हारे शरीर में प्रकाशित नहीं हुई । तब भावावेश की बात ही क्यों नहीं बता सकोगी ?

माँ—(हँसकर) हाँ, फिर भी देखो, यह सब कहने से व्यक्ति विशेष की आलोचना हो उठती है । जाने दो, जब बात आ ही रही है तो बोल ही दूँ । यह बात सच है कि यदि कोई किसी शक्ति का आवेश होने पर प्रश्न का उत्तर दे तो वह सत्य

न हो, ऐसा हो नहीं सकता। भीतर की सब ग्रन्थि यदि बिल्कुल खुल जायँ और उन सब ग्रन्थियों के अन्दर से कोई उत्तर या आदेश मिले तो वह सत्य होगा ही। पर ऐसा भी हो सकता है कि भाव की ग्रन्थियाँ बिल्कुल नहीं खुलीं, थोड़ी सी ही खुलीं हैं, ऐसी अवस्था में जो सब वाणी मिलती है वह सब समय सही नहीं भी हो सकती। इस सब वाणी के साथ आविष्ट का व्यक्तिगत संस्कार मिल जा सकता है यद्यपि वह नहीं जानता कि ऐसा हो रहा है।

और भी एक बात याद रखना। प्रायः हर एक के भीतर प्रशंसा और प्रतिष्ठा का बीज सूक्ष्मरूप से विद्यमान है। वह आसानी से छूटनेवाला नहीं। यद्यपि अनेक बार उसका अस्तित्व जाना नहीं जा सकता। इसलिए आधार यदि बिल्कुल शुद्ध न हो तो वह सब भाव भी शक्ति के साथ मिलकर प्रगट हो जाते हैं। सोच लो कि तुम किसी की मंगल कामना करते हो और उसका अमंगल नहीं देखना चाहते, ऐसी अवस्था में यदि कोई शक्ति तुम्हारे अन्दर प्रकाशित हो कर कहे कि अमुक का मंगल नहीं होगा, उस समय तुम्हारे मुख से वह सब बात निकलते समय "नहीं" शब्द नहीं निकलेगा। तुम्हारा संस्कार ही उसे अटका रक्खेगा। इससे शक्ति का जो प्रकाश हुआ वह तुम्हारे संस्कार के कारण मिथ्या हो गया।

और देखो, शक्ति भी अनेक प्रकार की हो सकती है। यदि दुष्ट शक्ति का आवेश हुआ तो आविष्ट की बात मिथ्या होगी इसमें सन्देह क्या?

और एक बात, शुद्ध शक्ति के विकास के भी कई लक्षण हैं। यदि किसी के अन्दर शुद्ध शक्ति का विकास हो तो देखोगे कि उसकी संस्कार के प्रति आसक्ति घट जायगी। यह सब लक्षण देखकर विचार करना होता है।

यह सब बात करके माँ पंचवटी लौट आईं। वहाँ माँ के आसन के ऊपर बिछौना डालकर मसहरी टाँग दी गई। माँ आकर लेट गईं। कल उदयास्त कीर्तन होगा। उसका अधिवास गान शुरू हुआ। अभय आदि कीर्तन करने लगे। हम लोग बैठकर सुनने लगे। प्रायः आधा घंटा ऐसे निकल गया। पंचवटी में पेड़पत्तियों के बीच से जो चन्द्रमा की रोशनी आ रही थी, वही हम लोगों की एक मात्र रोशनी थी। ढाका में मिट्टी का तेल एक प्रकार से दुष्प्राप्य था इसीलिए रोशनी का यह

अभाव था। ऐसे समय हठात् देखा कि कहीं से टौर्च की रोशनी आकर हम लोगों के ऊपर पड़ रही है। देखा कि माँ मसहरी के अन्दर से टौर्च डालकर कुछ देख रही हैं। यह भी बहुत थोड़ी देर के लिए। फिर वही अन्धकार। कुछ देर बाद माँ पंचवटी से बाहर चली गईं। कुछ देर मैंने अपेक्षा की। यह देखकर कि माँ नहीं लौट रहीं, और यह सोचकर कि रात के प्रायः २ बजे हैं, हम लोग चले आए।

(क्रमशः)

जिनकी सृष्टि वहीं सब दिशाओं में है। उन पर सब विषयों में निर्भर रखना।

श्री श्री माँ

"क्रिया योग साधना का रहस्य"⊛

डॉ० शान्तिप्रसाद आत्रेय

पातंजल योग सूत्र[1] में कर्मों का विवेचन बड़े अच्छे ढंग से किया गया है। ऐच्छिक क्रियाओं का बहुत सुन्दर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। भावनायें, क्लेश, संवेग आदि ही हमारे कर्मों के प्रेरक हैं। उन्हीं के द्वारा कर्मों में प्रवृत्ति होती है। जिन विषयों से हमें सुःख प्राप्त होता है, उनके प्रति हमें राग हो जाता है, तथा जिन विषयों से हमको दुःख प्राप्त होता है, उनके प्रति द्वेष उत्पन्न हो जाता है। सुख प्रदान करने वाले विषयों में बाधक विषयों के प्रति तथा सुख में विघ्न पहुँचाने वाले विषयों के प्रति द्वेष उत्पन्न हो जाता है। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, राग के द्वारा ही द्वेष की उत्पत्ति होती है और ये राग द्वेष ही प्रयत्नों का कारण हैं। राग द्वेष के बिना प्रयत्नों का उदय नहीं होता है, जो कि मानसिक, शाब्दिक वा शारीरिक चेष्टा का कारण हैं। जितने भी संकल्प होते हैं, वे या तो राग के कारण वा द्वेष के कारण ही होते हैं। राग के कारण प्रिय विषयों की प्राप्ति की इच्छा होती है तथा द्वेष के कारण उन दुःख देने वाली वस्तुओं से निवृत्ति प्राप्त करने की इच्छा होती है। ये इच्छायें ही हमें कर्म में प्रवृत्त करती हैं और इनके द्वारा जो चेष्टायें या क्रियायें होती हैं उन्हें ही ऐच्छिक क्रियायें कहते हैं। ऐच्छिक क्रियायें सुख या दुःख को प्रदान करने वाली होती हैं। हमारी कुछ ऐच्छिक क्रियाओं के द्वारा दूसरों को सुख लाभ होता है, दूसरों का हित होता है, तथा कुछ ऐसी क्रियायें होती हैं जिनके द्वारा दूसरों को दुःख होता है, उनको हानि पहुँचती है। जिन ऐच्छिक क्रियाओं के द्वारा समाज का हित होता है, वे कर्म धर्म को उत्पन्न

⊛विशद विवेचन के लिये हमारा "भारतीय मनोविज्ञान" नामक ग्रंथ देखने का कष्ट करें। प्रकाशक—श्री प्रभातरंजन साह, "शामाराम", दुर्गाकुण्ड, वाराणसी।

[1] पा. यो. सू.—४।७, ८;

करनेवाले होते हैं। जिन कर्मों के द्वारा समाज का अहित होता है तथा जो समाज के लिये घातक होते हैं, उन कर्मों से अधर्म की उत्पत्ति होती है। ये धर्म और अधर्म संस्कार रूप से विद्यमान रहते हैं। उन्हीं पूर्व के किये गये बुरे कर्मों से अधर्म तथा भले कर्मों से धर्म की उत्पत्ति होती है। उनके कारण ही वर्तमान में दुःख तथा सुख प्राप्त होते हैं। इस प्रकार से क्लेश से कर्म, कर्म से धर्म-अधर्म रूप कर्माशय तथा उनके द्वारा जाति, आयु, भोग आदि प्राप्त होता है। और यह चक्र निरन्तर चलता ही रहता है। क्लेशों का मूल कारण अविद्या है। अविद्या ही क्लेशों को उत्पन्न करती है। अविद्या से अस्मिता की उत्पत्ति होती है और अस्मिता से ही राग द्वेष आदि समस्त क्लेशों का उदय होता है; और इन क्लेशों से ही कर्म तथा उनके धर्म अधर्म रूप कर्माशय जिनके फलस्वरूप जाति, आयु, भोग का चक्र चलता रहता है।

कर्म स्वयं में फल के देने वाले नहीं होते हैं। उनके करने में हमारी मनोवृत्ति ही धर्म अधर्म रूपी कर्माशय की उत्पत्ति का कारण होती है। इच्छाओं और वासनाओं के द्वारा ही कर्मों में बन्धन शक्ति आती है। कर्म अगर स्वयं बन्धन का कारण होते अर्थात् धर्माधर्म रूप कर्माशय को उत्पन्न करनेवाले होते तो संसार चक्र से छुटकारा प्राप्त करना असम्भव हो जाता, किन्तु ऐसा नहीं होता।

योग में ऐच्छिक क्रियाओं के नैतिक वर्गीकरण में चार प्रकार के कर्म बताये गये हैं। वे चार निम्नलिखित हैं :—

१—शुक्ल (पुण्य वा धर्म)।
२—कृष्ण (पाप वा अधर्म)।
३—शुक्ल-कृष्ण (पुण्य-पाप मिश्रित)।
५—अशुक्ल-अकृष्ण (न पुण्य न पाप)।

१—शुक्क (धर्म वा पुण्य) :—ये धर्म परहित, अहिंसा, तप, स्वाध्याय आदि करने वाले व्यक्तियों के होते हैं। तप, स्वाध्याय, ध्यान आदि से किसी भी प्रकार का सामाजिक अहित नहीं होता, इसलिये ये कर्म धर्म को ही उत्पन्न करने वाले होते हैं। इन शुभ कर्मों से जो धर्म रूप कर्माशय उत्पन्न होते हैं, उन्हीं के फलस्वरूप

व्यक्ति को सुख प्राप्त होता है। इन कर्मों से उनके फल के अनुसार ही वासनाओं का प्रादुर्भाव होता है। अतः उन्हें भी कर्म फल भोगने के लिये जन्म ग्रहण करना पड़ता है। वर्तमान जीवन में पूर्व के धर्म रूपी कर्माशय के ही फल को सुख रूप में भोगते हैं। यह कर्म भी हमारी मनोवृत्ति से प्रभावित होने के कारण हमें निश्चित-रूप से फल भुगवाते हैं। अतः संसार के चक्र में डाले रहते हैं।

२—कृष्ण (पाप वा अधर्म):—समाज के लिये अकल्याणकारी कर्म जैसे, चोरी, हिंसा, व्यभिचार, बलात्कार आदि जितने भी असामाजिक कर्म हैं, वे सभी कृष्ण कर्म कहलाते हैं। इस प्रकार के कर्म करने वाले व्यक्ति को ही दुरात्मा, पापी कहा जाता है। इन दुष्कर्मों से जो अधर्म रूप कर्माशय उत्पन्न होते हैं, उन्हीं के फलस्वरूप व्यक्ति को दुःख प्राप्त होता है। इन कर्मों से उनके फल के अनुसार ही वासनाओं की अभिव्यक्ति होती है। अतः प्राणी को इन पापकर्मों का फल भोगने के लिये उसके अनुरूप ही जन्म प्राप्त होता है। वर्तमान जीवन में पूर्व के अधर्म रूपी कर्माशय के ही फल को दुःख रूप में भोगते हैं। ये पाप कर्म भी हमारी मनोवृत्ति से प्रभावित होने के कारण हमें निश्चित रूप से फल भुगवाते हैं। अतः संसार के चक्र में डाले रहते हैं।

३—शुक्ल-कृष्ण (पुण्य-पाप मिश्रित)—साधारण रूप से सामान्य मनुष्यों के द्वारा किये गये कर्म ऐसे होते हैं, जो कि समाज में किसी को अहित करके दुःख देने वाले होते हैं तथा किसी को हित करके सुख देने वाले होते हैं। अतः किसी को सुख और किसी को दुःख देने वाले होने के कारण वे पुण्य-पाप मिश्रित कर्म कहलाते हैं। इन कर्मों के फलों के अनुकूल गुणों वाली ही वासनायें उत्पन्न होती हैं, तथा प्राणी उन कर्मों के फल के अनुसार ही जन्म, आयु, आदि प्राप्त करता है, तथा उनके अनुसार ही सुख, दुःख भोगता है। ये वासनायें कर्म में प्रवृत्त करती हैं और उन्हीं कर्मों के अनुसार फिर वासनायें बनती हैं। इन पुण्य-पाप मिश्रित कर्मों को करवानेवाली प्राणियों की मनोवृत्तियों के कारण, उन्हीं के अनुसार सुख दुःख रूपी कर्म फल भोगने का चक्र निरन्तर चलता रहता है। जितने भी कर्म किसी को कष्ट

तथा किसी को सुख देने वाले उभय जनक होते हैं, वे सभी शुक्ल-कृष्ण कर्म कहे जाते हैं।

उपर्युक्त ये तीनों प्रकार के कर्म लगाव वा वासना पूर्ण कर्म होने के नाते प्राणियों को निरन्तर कर्माशय के द्वारा उनके अनुकूल फलभोग प्रदान करने के लिये संसार चक्र को चलाते रहते हैं। संसार चक्र ही इन वासनापूर्ण कर्मों के कारण है। अतः कर्म स्वतः में फल प्रदान करने वाले नहीं होते, बल्कि मनोवृत्ति ही फल प्रदान करती है, जोकि नीचे दिये हुए अशुक्ल-अकृष्ण कर्मों के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है।

अशुक्ल-अकृष्ण :—फलों की आशा रहित निष्काम कर्म अशुक्ल-अकृष्ण कर्म होते हैं वे कर्म समाज में किसी को हानि तथा किसी को लाभ पहुँचाने की मनोवृत्ति से नहीं किये जाते हैं। कर्म जब भावनाओं से प्रेरित होकर नहीं किये जाते तो उनके धर्माधर्म रूप कर्माशय नहीं बनते, अतः वे कर्मफल नहीं प्रदान कर सकते हैं। योगी लोगों के ही कर्म इस प्रकार के होते हैं। अविद्या आदि क्लेशों से प्रेरित होकर वे कर्म नहीं करते हैं। बंधन का कारण तो लगाव है। कर्म वासनायें ही कर्मों का फल देती हैं। वासनारहित कर्म न तो धर्म रूप होते हैं और न अधर्म रूप। गीता के १८वें अध्याय के श्लोक २ में भी इसी भाव को व्यक्त किया है।

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ गी० १८-२॥

ज्ञानी लोग समस्त काम्य कर्मों के छोड़ने को संन्यास कहते हैं तथा पंडित लोग सब कर्मों के फलों के त्याग को ही त्याग कहते हैं।

जहाँ तक कर्मों का प्रश्न है उनको तो किये बिना रहा ही नहीं जा सकता, किन्तु कर्म में प्रवृत्त करने वाले अविद्या आदि पंच क्लेश नहीं होना चाहिये। योगियों के समस्त कर्म ऐसे ही होते हैं। वे समस्त कर्मों तथा उनके फलों को ईश्वर को समर्पित कर अपने आप हर प्रकार के बन्धन से मुक्त रहते हैं। वे केवल कर्तव्य के लिये ही कर्तव्य करते हैं। पाश्चात्य दार्शनिक कान्ट के अनुसार भी

भावनाओं और मनोवेगों के द्वारा प्रेरित होकर कर्म करना अनैतिक है। सच तो यह है कि आत्मसन्तुष्ट व्यक्ति के लिये अपना कोई कार्य रह ही नहीं जाता है। उसके समस्त कार्य ईश्वर तथा समाज के कार्य होते हैं। उनको स्वयं कर्म करने न करने से कोई लाभ नहीं होता है। इस प्रकार के कर्म आसक्ति रहित होते हैं। ज्ञानी जानता है कि कर्म गुणों के द्वारा होते हैं। इसलिये वह अज्ञानी की तरह अहंकारवश अपने को कर्ता समझ कर उनमें आसक्त नहीं होता है। गीता में बड़े सुन्दर ढंग से इनका वर्णन पाँचवें अध्याय के १०, ११ और १२वें श्लोकों में किया गया है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ १०॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥ ११॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥ १२॥

जो व्यक्ति अपने समस्त कर्मों को ब्रह्म अर्पित कर आसक्ति रहित कर्म करता है वह जल में कमल के पत्ते के समान पाप से निर्लिप्त रहता है॥ १०॥

निष्काम कर्म योगी केवल आत्म शुद्धि के लिए ही अहंकार बुद्धि रहित, आसक्ति छोड़कर केवल शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से ही कर्म करते हैं॥ ११॥

योगयुक्त अर्थात् निष्काम कर्म योगी कर्म के फलों को त्याग कर (ब्रह्मार्पित करके) परम शान्ति प्राप्त करता है ; तथा जो योग युक्त नहीं है अर्थात् सकामी व्यक्ति वासना से फलों में आसक्त होकर बँध जाता है॥ १२॥

सच तो यह है कि हमारे सुख-दुःख का तथा पाप-पुण्य का सारा जाल त्रिगुणात्मक प्रकृति का है। अज्ञान के कारण त्रिगुण (सत्त्व, रजस्, तमस्) अव्यय, निर्विकार, आत्मा को शरीर से बाँधते हैं; इस बंधन के कारण आत्मा अपने को सीमित समझने लगता है। सत्त्व, रजस्, तमस् ये तीनों गुण ही आत्मा को बाँधते हैं। सत्त्व सुख और ज्ञान से, रागात्मक रजोगुण तृष्णा और आसक्ति को

पैदा कर कर्मों में प्रवृत्ति द्वारा तथा मोहात्मक तमोगुण आलस्य निद्रा तथा प्रमाद से प्राणी को बाँधते हैं। ये गुण अहंकार को पैदा करने वाले होने से ही बाँधते हैं। बंधन रहित होने के लिए अहंकार को समाप्त करना चाहिए। अतः सब कर्म भगवान् को समर्पित करने चाहिए, जिससे कि कर्म करने का अभिमान समाप्त हो जाता है और वे कर्म फल प्रदान करने में असक्त हो जाते हैं।'[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि साधारण व्यक्तियों के तीन प्रकार के कर्म शुक्ल, कृष्ण तथा शुक्ल-कृष्ण मिश्रित क्रम से धर्म, अधर्म तथा धर्माधर्मरूपी कर्माशयों को उत्पन्न करने वाले होने के कारण व्यक्ति को जन्म, मरण के चक्र में निरन्तर घुमाते रहते हैं, किन्तु निष्काम कर्म बन्धन उत्पन्न नहीं करते। योग सूत्र के साधनपाद में क्रियायोग का वर्णन है। कर्मयोग को ही क्रियायोग कहा गया है। तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान को क्रियायोग इसलिए कहा गया है कि ये कर्मयोग के साधन हैं। हर व्यक्ति एकाग्र चित्त वाला नहीं होता। जो व्यक्ति चंचल चित्त वाले होते हैं उनके लिए तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान को बताया गया है जिससे उनका चित्त शुद्ध तथा स्थिर हो सके। समाहित चित्त वाले उत्तम अधिकारियों के लिए तो अभ्यास तथा वैराग्य की अनेक विधियाँ योगसूत्र के प्रथम पाद में वर्णित हैं, किन्तु विक्षिप्त चित्त अर्थात् राग-द्वेष, तथा सांसारिक वासनाओं वाले मलिन चित्त अभ्यास तथा वैराग्य साधन नहीं कर सकते हैं। अतः ऐसे व्यक्तियों के चित्त भी शुद्ध होकर अभ्यास तथा वैराग्य साधन कर सकें इसके लिए योगसूत्र के दूसरे पाद में क्रिया योग सहित यम, नियम आदि का वर्णन है। चित्त शुद्धि का सरल, उपयोगी तथा असंदिग्ध उपाय क्रिया योग है। अतः तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान भी योग के साधन हैं[2]। अविद्या आदि पंच क्लेशों के चित्त में अनादि काल से पड़े हुए संस्कारों को क्षीण करके साधक को योग युक्त बनाने के लिए क्रिया योग है[3]। बिना क्लेशों को क्षीण

---

[1] गीता १४–५ से ६ तक।

[2] यो० सू० भा० २-१

[3] यो० सू० भा० २-२

किए अभ्यास तथा वैराग्य सुगमतासे नहीं हो सकते। क्रियायोग से समाधि सिद्ध होती है तथा क्लेश क्षीण होते हैं। क्लेश क्षीण होने तथा समाधि अभ्यास से सम्प्रज्ञात समाधि की उच्च अवस्था विवेक ख्याति प्राप्त होती है। इस विवेक ज्ञान रूपी आग से क्रियायोग के द्वारा क्षीण किये हुए क्लेशों के संस्कार रूपी बीज भस्म हो जाते हैं जिससे फिर वे क्लेश प्रदान करने योग्य ही नहीं रहते।

तप :—तप शरीर, इन्द्रियों, प्राण तथा मन को उचित रीति से नियंत्रित करने का साधन है। तप के बिना अनादि काल के रजस तथा तमस प्रेरित कर्मों, क्लेशों तथा वासनाओं से मलिन चित्त की शुद्धि नहीं हो सकती है। तप के द्वारा ही साधक गर्मी, सर्दी, भूख, प्यास, सुख-दुःख तथा मान-अपमान आदि के द्वन्द्वों में भी स्थिर होकर योग में लगा रह सकता है। राजसी तथा तामसी तप की योग में निन्दा की गई है क्योंकि उनके द्वारा शरीर तथा इन्द्रियों में रोग तथा पीड़ा और चित्त में अप्रसन्नता होती है। जिस प्रकार स्वर्णादि धातुओं के मल को अग्नि जला देती है ठीक उसी प्रकार से तप से साधक का तमोगुणी आवरण रूपी मल जल जाता है।

तप के द्वारा शरीर स्वस्थ, स्वच्छ, निर्मल तथा हलका हो जाता है। शरीर तथा इन्द्रियों की सिद्धि प्राप्त होती है। शरीर में अणिमा (शरीर को सूक्ष्म कर लेना), लघिमा (शरीर को हलका कर लेना), महिमा (शरीर को बड़ा कर लेना), प्राप्ति (पृथ्वी पर बैठे-बैठे ही उँगली के पोरे से चन्द्रमा को छू सकना), प्राकाम्य (इच्छा पूर्ण होने में कोई रुकावट न होना अर्थात् जो चाहो सो प्राप्त होना। वशित्व (समस्त भूतों तथा पदार्थों को वश में करना), ईशित्व (ईश्वरत्व प्राप्त होना अर्थात् ईश्वर के समान शक्ति प्राप्त होना), यत्रकाभावसामित्व (योगी के संकल्प के अनुसार पदार्थों के गुण हो जाना। योगी संकल्प से विष में अमृत के गुण पैदा कर सकता है किन्तु ऐसा करता नहीं), आदि शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। दिव्य दर्शन, दिव्य श्रवण आदि इन्द्रियों की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।[१] तप का पूर्ण रूप से अनुष्ठान होने पर तम रूप अशुद्धियाँ

---

[१] योग भा० २।४३.

नष्ट होकर अणिमादि सिद्धियाँ, आवरण हटने के कारण, स्वतः प्रकट हो जाती हैं।

शरीर के ऊपर नियन्त्रण करके उसमें गर्मी, सर्दी आदि सहने की शक्ति पैदा करना कायिक तप है, वाणी पर संयम करना वाणी का तप है। मन से अपवित्र अर्थात् बुरे विचारों को हटाते हुये मन को संयम करना मन का तप है। गीता के १७ वें अध्याय में तप के पहले, शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक तीन भेद किये हैं।[१] तथा उसके बाद प्रत्येक के सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक भेद दिये गये हैं।[२] यथा :—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

शौच, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा तथा देव, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानों की पूजा को कायिक तप कहते हैं ॥१४॥

मन को उद्विग्न न करने वाले, प्रिय तथा हितकारक वचनों और स्वाध्याय के अभ्यास को वाचिक तप कहते हैं ॥१५॥

---

[१] गीता १७।१४, १५, १६.

[२] गीता १७।१७, १८, १९

मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मुनियों के समान वृत्ति, आत्मनियन्त्रण तथा शुद्ध भावना रखने को मानस तप कहते हैं ।।१६।।

मनुष्य का, फल की आशा से रहित परम श्रद्धा तथा योग युक्त होकर इन तीनों प्रकार के तपों को करना सात्त्विक तप कहलाता है ।।१७।।

सत्कार, मान, पूजा वा पाखण्ड पूर्वक किया गया तप चञ्चल और अस्थिर राजस तप कहलाता है ।।१८।।

मूढ़ता पूर्वक, हठपूर्ण, स्वयं को कष्ट देकर अथवा दूसरों को कष्ट देने के लिये किया गया तप तामस तप कहलाता है ।।१९।।

स्वाध्याय :—वेद, उपनिषद्, पुराण आदि तथा विवेकज्ञान प्रदान करनेवाले सांख्य, योग, आध्यात्मिक शास्त्रों का नियम पूर्वक अध्ययन तथा गायत्री आदि मंत्रों का ओंकार के सहित जाप स्वाध्याय कहा जाता है।

स्वाध्याय निष्ठा जब साधक को प्राप्त हो जाती है तब उसे उसकी इच्छानुसार देवता, ऋषियों तथा सिद्धों के दर्शन होते हैं तथा वे उसको कार्य सम्पादन में सहायक होते हैं।

ईश्वर-प्रणिधान :—अपने समस्त कर्मों के फल को परम गुरु परमात्मा को समर्पित करना वा कर्मफल त्यागना ईश्वर-प्रणिधान है। ईश्वर-प्रणिधान ईश्वर की एक विशेष प्रकार की भक्ति है, जिसमें भक्त शरीर, मन, इन्द्रिय, प्राण आदि तथा उनके समस्त कर्मों को उनके फलों सहित अपने समस्त जीवन को ईश्वर को समर्पित कर देता है।

शय्याऽऽसनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी ।।
यो. व्यास भा. २।३२।।

जो योगी बिस्तर तथा आसन पर बैठे हुये, रास्ते में चलते हुये अथवा एकान्त में रहता हुआ हिंसादि वितर्क जाल को समाप्त करके ईश्वर प्रणिधान करता है, वह निरन्तर अविद्यादि को जो कि संसार के कारण हैं नष्ट होने का अनुभव करता

हुआ तथा नित्य ईश्वर में युक्त होता हुआ जीवन-मुक्ति के नित्य सुख को प्राप्त करता है।

ईश्वर प्रणिधान से शीघ्रतम समाधि की सिद्धि होती है।[1] इस भक्ति विशेष तथा कर्मों के फल सहित समर्पण से योगमार्ग विघ्नरहित हो जाता है। अतः शीघ्र ही समाधि की सिद्धि होती है। योग के अन्य अङ्गों का पालन विघ्नों के कारण बहुत काल में समाधि सिद्धि प्रदान करता है। ईश्वर प्रणिधान उन विघ्नों को नष्ट कर शीघ्र ही समाधि की सिद्धि प्रदान करता है। अतः ईश्वर प्रणिधान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

अपनी शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक शक्ति की असीम अवस्था, अपने समस्त कार्यों को सर्व शक्तिमान सर्वज्ञ ईश्वर को सौंप कर अनासक्त तथा निष्काम भाव से केवल कर्त्तव्य रूप से अपने को साधनमात्र समझते हुये करने से पैदा होती है।[2] आत्म विश्वास ईश्वर भक्ति की देन है। भक्तों की सङ्कल्प शक्ति पूर्ण विकसित हो जाती है। उनके द्वारा साधारण रूप से ही अद्‌भुत चमत्कार होते रहते हैं जिसको विज्ञान समझ ही नहीं सकता है। इसका कारण है कि उनकी इच्छा ईश्वर की इच्छा तथा उनके सब कार्य ईश्वर के ही कार्य होते हैं। भक्त अनुचित तथा स्वार्थ से तो कुछ करता ही नहीं है। उसकी वाणी से जो निकलता है वह सत्य उचित तथा अहिंसात्मक होता है। उसके क्षेत्र में ईश्वरीय शक्ति की अभिव्यक्ति होती रहती है। संसार की कोई शक्ति उसका मुकाबिला नहीं कर सकती है।

योग में ईश्वर उस पुरुष विशेष को कहा है जो अविद्या आदि पंच क्लेश, क्लेशों से उत्पन्न पुण्य पाप कर्मों के फल तथा वासनाओं से त्रिकाल में असम्बद्ध रहता है। ईश्वर का अन्य पुरुषों के समान चित्त में व्याप्त क्लेशों के साथ औपाधिक सम्बन्ध भी नहीं है। अतः वह अन्य पुरुषों से भिन्न है। ईश्वर में कोई भी क्लेश आरोपित नहीं होता है। ईश्वर मुक्त तथा प्रकृतिलीन पुरुष आदि से भी भिन्न है। वह भूत, वर्तमान, भविष्य तीनों काल में कभी भी बद्ध तथा क्लेशों से सम्बन्धित

---

[1] —यो० व्या० भा० १।२३ २।४५

[2] —भगवद्गीता ६—२२, २७, २८, ३४

नहीं रहता है। वह तो सदा मुक्त है किन्तु मुक्त तथा प्रकृतिलीन आदि सदा मुक्त नहीं हैं क्योंकि मुक्तात्मा ने भूत काल के बन्धनों को योग साधनों द्वारा समाप्त करके मुक्तावस्था का कैवल्य प्राप्त किया है तथा प्रकृतिलीन भविष्य में बन्धन को प्राप्त करने वाले हैं। प्रकृतिलीन योगियों को प्राकृत-बन्धन होता है, जब उनकी अवधि समाप्त हो जाती है तब वे संसार में आते हैं तथा क्लेशों से संबन्धित हो जाते हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि जीवात्मा से ईश्वर भिन्न है। ईश्वर बुद्धिगत काल्पनिक सुख दुःख भोग से त्रिकाल में भी सम्बद्ध नहीं होता है। इसी कारण उसे पुरुष विशेष कहा गया है। समस्त जीवात्माओं का क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश) (यो० २।३), कर्म (पुण्य, पाप, पुण्य-पाप तथा पुण्य पाप रहित) (यो० ४।७), विपाक (कर्मों के फल) (यो० २।१३), तथा आशय (कर्मों के संस्कार) (यो० २।१२) से अनादि सम्बन्ध है किन्तु ईश्वर का इनसे न तो कभी सम्बन्ध था, न है तथा न कभी भविष्य में होने की सम्भावना ही है। अज्ञान रहित होने के कारण वह इनसे सम्बन्धित नहीं है। ईश्वर में ऐश्वर्य तथा ज्ञान की पराकाष्ठा है। वह नित्य, अनादि अनन्त और सर्वज्ञ है। उससे बढ़कर कोई है ही नहीं। वह धर्म, वैराग्य आदि की पराकाष्ठा का आधार है। वह काल की सीमा से परे है। ब्रह्मादि उत्पत्ति तथा विनाश वाले होने के कारण काल-परिच्छिन्न हैं किन्तु ईश्वर सदा विद्यमान रहते हैं। ईश्वर को इसलिये काल से अपरिमित, सब पूर्वजों तथा गुरुवों का भी गुरु कहा है। सृष्टि के समय ब्रह्मादि की उत्पत्ति होती है तथा महा प्रलय में नाश होता है, किन्तु ईश्वर की किसी भी काल में न तो उत्पत्ति होती है और न विनाश। ईश्वर ही ब्रह्मादि को उपदेश द्वारा ज्ञान देता है। ईश्वर में छः अंग (सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादि बोध, स्वतन्त्रता, अलुप्त चेतनता और अनन्त शक्ति) तथा दस अव्यय (ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तप, सत्य, क्षमा, धृति, स्रष्टृत्व, आत्म सम्बोध तथा अधिष्ठातृत्व) सदा मौजूद रहते हैं।[1] ईश्वर के सान्निध्य मात्र से प्रकृति की साम्य अवस्था भंग हो जाती है। वह सृष्टि का निमित्त कारण है। पुरुष

---

[1] वायु पु० १२-३१, १०-६०

तथा प्रकृति दोनों से अलग है। वह प्रकृति तथा पुरुषों को उत्पन्न नहीं करता। वे तो अनादि हैं। उनकी न तो उत्पत्ति होती है न विनाश। प्रत्येक पुरुष अपना कैवल्य बिना ईश्वर के भी प्राप्त कर सकता है। ईश्वर का पुरुषों से कोई जैविक सम्बन्ध नहीं है। वह प्रकृति के विकास की बाधाओं को दूर कर सकता है। योग में एक ईश्वर को मानते हुये भी बहुत से देवताओं को माना है जो अविद्या के कारण संसार चक्र में पड़े हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर ही वेदों को रचता वा अभिव्यक्त करता है। वेदों के द्वारा ईश्वर सबको ज्ञान प्रदान करता है। पुरुषों को मुक्त करने के लिये ही वह दया से प्रेरित होकर सृष्टि करता है। उसका कोई स्वार्थ नहीं है। जो श्रद्धा भक्ति पूर्वक अपने समस्त कर्मों को उनके फल सहित ईश्वर को समर्पित कर उसकी आराधना करते हैं वह उनकी बाधाओं को हटाकर उन्हें मोक्ष प्रदान करने में सहायक होता है।

ईश्वर का बोध करानेवाला शब्द ॐ[1] है। प्रणव (ओम्) का जप तथा उसमें निहित अर्थ की भावना अर्थात् ईश्वर का निरन्तर चिन्तन करना ही ईश्वर-प्रणिधान है। चित्त को सब तरफ से हटाकर ईश्वर पर लगाना ही भावना है जिसके द्वारा चित्त एकाग्र होकर शीघ्र समाधि अवस्था को प्राप्त करता है। इस प्रणव के जप तथा ईश्वर भावना के द्वारा योगियों को विवेक ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है। सब प्रकार से मन इन्द्रियों का संयम कर ॐ का जप तथा ईश्वर स्मरण निरन्तर करते रहनेवाले को निश्चय ही कैवल्य प्राप्त होता है। ईश्वर प्रणिधान से प्रथम आत्म साक्षात्कार प्राप्त होता है फिर ईश्वर का साक्षात्कार होता है।

भक्त पर भगवान् अनुग्रह रखते हैं तथा उसकी इच्छाओं की पूर्ति करते रहते हैं। ईश्वर-प्रणिधान से योगाभ्यास में उपस्थित होनेवाले समस्त विघ्न दूर होते हैं।[2] व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति दर्शन, अलब्धभूमिकत्व तथा अनवस्थितत्व ये चित्त के नौ विक्षेप ही योगाभ्यास में उपस्थित होनेवाले विघ्न हैं। इन नौ विघ्नों के द्वारा चित्त में विक्षेप पैदा होते हैं जिससे

---

१. योग सू० १-२७ (तस्य वाचकः प्रणवः ॥२७॥)

२. योग सू० १-३०

चित्त की एकाग्रता हटती है।[३] धातु, रस तथा कारण की विषमता को व्याधि कहते हैं। शरीर के रोगी होने से योग का अभ्यास नहीं हो सकता है अतः व्याधि समाधि में विघ्न रूप है। इच्छा होने पर भी किसी कार्य को करने की क्षमता न होना स्त्यान है। योगाभ्यास न हो सकने से यह भी योग में विघ्न रूप ही है। संशय युक्त पुरुष भी योगाभ्यास नहीं कर सकता है क्योंकि योग साध्य है वा असाध्य आदि दो कोटियों को विषय करता रहता है। अतः संशय भी योगाभ्यास में विघ्न है। उत्साह पूर्वक समाधि के साधनों का अनुष्ठान न करना ही प्रमाद है जिससे समाधि अभ्यास की रुचि ही नहीं होती अतः उसमें विघ्न होता है। आलस्य के द्वारा शरीर तथा मन में भारी-पन होने से समाधि में विघ्न पड़ता है; योगाभ्यास नहीं हो पाता है। विषयों में तृष्णा बने रहने को अविरति कहते हैं, जिससे वैराग्य का अभाव बना रहता है। जब योग के साधन असाधन प्रतीत हों तथा असाधन साधन प्रतीत हों तो इस प्रकार के भ्रान्ति दर्शन से समाधि में विघ्न पैदा होता है। किसी प्रतिबन्धक के कारण समाधि प्राप्त न होना अलब्ध भूमिकत्व कहा जाता है तथा समाधि प्राप्त करके भी उस पर चित्त स्थिर न रहना अनवस्थितत्व कहा जाता है। इसमें पूर्ण रूप से चित्त के विरुद्ध न होने पर भी साधारण निरोध में ही मस्त होकर साधक अभ्यास छोड़ बैठता है इसीलिये यह समाधि में विघ्न रूप है।

इन नौ प्रकार के विक्षेपों के साथ-साथ दुःख दौर्मनस्य अंगमेजयत्व, श्वास तथा प्रश्वास ये पाँच प्रतिबन्धक भी रहते हैं। दुःख के आध्यात्मिक, आधिभौतिक, तथा आधिदैविक तीन भेद होते हैं। शरीर को होने वाली ज्वरादि व्याधियों तथा काम क्रोधादि मानसिक दुःखों को आध्यात्मिक दुःख कहते हैं। चौर, सर्प आदि अन्य प्राणियों से प्रदान किया गया दुःख आधिभौतिक दुःख होता है। वर्षा, बिजली, ग्रह पीड़ा, उग्र गर्मी तथा अनावृष्टि आदि दैवी शक्तियों के द्वारा प्रदान दुःखों को आधिदैविक दुःख कहा जाता है। इन तीनों प्रकार के दुःखों से समाधि

---

३. यो० सू० व्या० भा० १-३०

२. यो० भा० १-३१

में विक्षेप पड़ता है। अतः ये भी अन्तराय रूप ही हैं। इच्छा की अपूर्ति से जो मनः क्षोभ होता है उसे दौर्मनस्य कहते हैं। वह भी चित्त को क्षुब्ध करने के कारण समाधि में विघ्नरूप है। शरीर के अंगों के काँपने को अंगमेजयत्व कहते हैं जो कि आसन का विरोधी होने से समाधि में विघ्न कारक है। श्वास (बिना चाहे ही बाहर की वायु का भीतर जाना) तथा प्रश्वास (बिना चाहे ही भीतर की वायु का बाहर जाना) दोनों ही प्राणायाम में विरोधी होने से समाधि में विघ्नरूप हैं।

ये सब उपर्युक्त विघ्न विक्षिप्त चित्त वालों को ही होते हैं, एकाग्र चित्त वालों को नहीं होते हैं। इनसे निवृत्ति प्राप्त करने के लिए निरन्तर अभ्यास तथा वैराग्य से इनका निरोध करना चाहिए। विक्षेपों से निवृत्ति पाने के लिए ईश्वर रूप एक तत्त्व में ही निरन्तर चित्त को लगाना चाहिए[1]। ईश्वर-प्रणिधान से ऊपर कहे गए समस्त विक्षेपों की निवृत्ति हो जाती है अर्थात् समाधि के सारे विघ्नों का नाश हो जाता है। ईश्वर-प्रणिधान के निरन्तर अभ्यास से समस्त विघ्नों का नाश होकर शीघ्र समाधि लाभ तथा मोक्ष प्राप्त होता है।

तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान—क्रियायोग का विवेचन उन साधकों के लिए है जो सीधे-सीधे समाधि का अभ्यास नहीं कर सकते हैं। जिनका चित्त चंचल हो। विक्षिप्त चित्तवाला व्यक्ति जिसमें एकाग्रता नहीं है, जिसे पंच क्लेश मलिन किए हुए हैं, उसके लिए विवेक ख्याति की अवस्था को प्रदान करने वाला क्रिया योग का मार्ग है, इससे क्लेश क्षीण होकर अभ्यास और वैराग्य के द्वारा विवेकख्याति की अवस्था प्राप्त कर, समस्त क्लेश रूपी बीजों को दग्ध कर पर वैराग्य की उत्पत्ति के द्वारा विवेक ख्याति रूपी चित्त की वृत्ति का भी निरोध होकर असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है, जो कि योग का लक्ष्य है।

मातृ-सत्संग

स्वामी भागवतानन्द गिरि

(३)

५ दिसम्बर, १९४७—

माँ के दर्शन के लिये स्वामीनारायण संप्रदाय के महात्मा लोग आये थे। उनमें से एक महात्मा ने 'माँ' को बहुत सुंदर सुंदर भजन सुनाये--इसके बाद फिर से मातृ सत्संग शुरू हुआ।

प्र०—माँ! हम लोगों के लिये श्रेय--कल्याण का रास्ता क्या है ?

माँ--क्या अभी तक श्रेय का रास्ता तुमको मिला नहीं है ? अभी तक गुरु आश्रय क्या मिला नहीं है ?

प्र०—गुरु तो मन्त्रोपदेश देता है। मन्त्रोपदेश की बात तो अलग है। मेरे लिये प्राप्तव्य वस्तु क्या है ?

माँ--प्राप्तव्य वस्तु क्या है यह तो अपने अपने गुरु से जान लेना चाहिए।

प्र०—माँ! गुरु तो आप ही हैं। जैसे ब्राह्मण को गायत्री मन्त्र मिलता है वैसे आप हम को मन्त्र दो।

माँ—मन्त्र तो गुरु देता है। यह शरीर तो आपकी छोटी बच्ची है।

प्र०—तो फिर—गुरु को खोजना कहाँ ? गुरु के लक्षण क्या हैं ?

माँ—गुरु ही तो जगत्गुरु है। मन से गुरु को खूब ढूँढ़ो। रोज व्याकुल होकर गुरु के लिये प्रार्थना करो कि तुम्हारे बिना मैं रह नहीं सकता हूँ। ऐसी प्रार्थना करने पर भगवान् स्वयं ही गुरु रूप से प्रकट होकर प्रकाश देगा।

प्र०—ऐसी प्रार्थना से भी यदि गुरु न मिले तो ?

माँ—प्रार्थना करो—अन्दर बाहर सर्वत्र उनको खोजो तो भगवान् जहाँ होंगे वहाँ से गुरु रूप से प्रगट हो जायेंगे। अन्तर में यदि तीव्र व्याकुलता गुरु प्राप्ति के लिये हो तो गुरु से बिना प्रकट हुए रहा नहीं जाता। जैसे पृथ्वी में पड़ा हुआ बीज

पृथ्वी फोड़कर वृक्ष रूप से बाहर प्रकट हो जाता है वैसे ही तुम्हारी सच्ची प्रार्थना से गुरु भी जरूर प्रकट हो जायेगा। गुरु के लिये सिर्फ तीव्र व्याकुलता चाहिये। विद्या प्राप्ति के लिये गुरु की आवश्यकता होती है। गुरु जब सिखाता है तब विद्या आती है। जो पढ़ा नहीं है उसको कोई प्रश्न नहीं है। बिना गुरु भगवान् को कौन बता सकता है? जब तक तुमको गुरु न मिले तबतक अपनी कोशिश करते रहो। विशेष रूप से साधु महात्माओं का सत्संग करना चाहिये। सत्संग से भगवन् प्राप्ति के लिये भूख बढ़ती है।

प्र०—सत्संग कैसे बढ़े?

माँ—सत्संग की सच्ची इच्छा से सत्संग का रास्ता मिल जायेगा। सद्ग्रन्थ, सदालोचक, रामायण, महाभारत, भागवत, गीता इत्यादि ग्रन्थों का संग करो। ध्यान, नामजप, ईश्वर चिंतन, भगवत् गुण वर्णन, रूप वर्णन इत्यादि यह सब सत्संग का ही रास्ता है।

प्र०—क्या ध्यान भी भगवत् प्रकाश है?

माँ—ध्यान तो भगवत् प्राप्ति का साधन मात्र है। भगवान् तो स्वयं प्रकाश है। ध्यान करना और ध्यान होना दो बातें अलग है। ध्यान करते-करते एक स्थिति आती है ज़ब ध्यान अपने आप स्वयं प्रकाशित होकर होने लगता है। तुम सत्संग करो। जितना समय तुम शुद्ध भाव में रह सको उतनी कोशिश करो। सत्संग से भगवत् प्राप्ति की क्षुधा बढ़ जायेगी। प्रार्थना के लिये निश्चित समय निश्चित करो। सिर्फ निश्चित समय से ही भगवान् नहीं मिलता। तुम्हारा मन भगवान् में नहीं लगता है न? इसलिये भगवत् चरण की चिन्ता करने के लिये ठीक समय पर ध्यान करने की कोशिश करो। जब तक भगवत् दर्शन न मिले तब तक ध्यान करते रहो। ध्यान करते-करते अभ्यास हो जायेगा। प्रभु कृपा प्रकट होगी। हर समय कुछ न कुछ ध्यान, जप इत्यादि करते रहो। करते-करते आदत पड़ जायेगी। निरन्तर हरिकथा कहो—"हरिकथा ही कथा है—बाकी सब व्यथा और वृथा है। भगवान् बिना रहोगे तो दुःख में रहोगे—संशय में रहोगे। संसार में रहते-रहते उसको

धर्ममय संसार बनाओ। तुम अपना धर्म ठीक तरह से पालन करो। अपना धर्म छोड़कर दूसरे के धर्म की चिन्ता मत करो। इसमें भय है।

"स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।।"

ऐसा तुम लोगों से सुना है। इस छोटी बच्ची को तो किसी ने पढ़ाया ही नहीं है।

प्र०—माँ ! पातंजलि योग में मनोनिग्रह के लिये रास्ता बताया है वह क्या ठीक है ?

माँ—यदि कोई ऐसा पक्का योगी मिले तो उससे योग सीख सकते हैं। ध्यान-योग, राजयोग, हठयोग इत्यादि बहुत से रास्ते हैं। हरएक के लिए एक रास्ता नहीं है।

प्र० – माँ ! नाद ! विन्दु ! कला इत्यादि—यह सब क्या है ?

माँ—नाद का आश्रय लेकर जो चलता है वह शब्द ब्रह्म का रास्ता है। शब्द ब्रह्म की उपासना करता है। शब्द ब्रह्म अखण्ड ध्वनि रूप से रहता है। शब्द की सहायता से अखंड ध्वनि चलती रहती है। बिंदु में जाकर यह नाद प्रवेश करता है।

प्र०—बिन्दु माने ?

माँ—कालातीत महासागर का बिन्दु। बिन्दु से सिन्धु है और सिन्धु में बिन्दु है।

माँ के सामने एक भाई ने भजन गाया—

"याद आवे याद आवे – वृन्दावन की याद आवे।..."

इसके बाद माँ को सब भक्त लोग कुछ भजन गाने के लिये प्रार्थना कर रहे हैं।

माँ—पिताजी ! तुमने तो इस छोटी बच्ची को गाना कुछ सिखाया नहीं है। कहने तो कुछ आता नहीं है। और इन सब गान के उस्तादों के सामने क्या गाऊँ ? अच्छा ! तुममें से कोई गाओ—यदि ख्याल आ गया तो देखा जायेगा।

एक बहन ने कीर्तन कराया—

"सीताराम कहो, राधेश्याम कहो।"

माँ—मुझको तो हँसी आ रही है। यदि बीच में भूल जाऊँ तो तुम लोग ठीक कर देना।

माँ गाने के लिये धीरे धीरे शुरू कर रही हैं। पंडाल में सर्वत्र अपूर्व शांति स्थापित हो गई है। माँ की आँख बंद हो गई है। शब्द मानो भावरूप होकर बहिर्गत हो रहा है। भाव मानो स्वयं शब्दरूप से भजन के द्वारा बाहर आ रहा है।

माँ—भजन करो रे !···प्रेम की पुतलिया

भजन करो···रे भजन करो !

कौन तुम्हारा बहन भानजा ? कौन तुम्हारी माता...?
कौन तुम्हारे संग चलेगा ? कौन बने गुरुमाता
भजन करो रे।

यमुना हमारी बहन भानजें, गंगा हमारी माता।
पुण्य हमारे साथ चलेगा, धर्म बने गुरु माता
भजन करो रे !

कौन तुम्हारा देवर लगत है ? कौन तुम्हारा जेठ !
कौन तुम्हारा ननद लगत है ? चमके चारों देश।
भजन करो रे···
चन्द्र हमारे देवर लगत है, सूर्य हमारे जेठ,
बिजली हमारी ननद लगत है, चमके चारों देश
भजन करो रे !
कौन तुम्हारे सखा लगत हैं ? कौन तुम्हारे साथी
कौन तुम्हारे पिता लगत है ? कौन तुम्हारे पति ?
भजन करो रे···
सत्य हमारे सखा लगत है, धीरज मेरा साथी।
पिता हमारा परम पिता, और आत्मा मेरा पति...
भजन करो रे···

भजन करो रे···काठ की पुतलियाँ
प्रेम की पुतलियाँ
भजन करो रे !

लड़की ने प्रार्थना की,—"माँ थोड़ा कीर्तन करो।"

माँ ने सीताराम···सीताराम···का माँने सुन्दर कीर्तन करवाया। 'माँ' का अपूर्व भजन और कीर्तन सुनकर मातृ भक्त लोग शाश्वत आनंद में पूर्ण हो गये हैं।

प्र०—सन्तों के शरीर में यदि भगवान् रहता है तो फिर उनके शरीर में और अपने शरीर में फर्क क्या है ?

माँ—तुम पूछ रहे हो—बस यही फर्क है।

प्र०—दुनिया में बहुत दुःख भरा पड़ा है। इस दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का कोई उपाय है ?

माँ—दुनिया में तो सुख और दुःख...दोनों ही हैं। लेकिन दोनों ही क्षणिक हैं। यह दोनों भाई-भाई हैं...साथ-साथ रहते हैं। साथ में आते हैं जाते हैं। बहुत खाओ पीओ फिर बदहजम हो जाता है। दुनिया माने छिपाभाव इसलिये जहाँ दुनिया वहाँ दुःख छिपा है। एकत्व की उपासना करने से दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होगी। दुनिया में रहना भी है और दुःख कभी न आवे—यह कैसे सम्भव हो सकता है ? आग के पास रहोगे और ताप न आवेगा—ऐसा कैसे हो सकता है ?

प्र०—माँ ! पहले से 'अहं ब्रह्म' की उपासना करना क्या ठीक है ? आप के क्या कहने हैं ?

माँ—इस शरीर का कोई गुरु नहीं है। यह शरीर ही अपना गुरु है।

प्र०—माँ, ऐसे कहकर मेरी बात को मत उड़ा दो।

माँ—नहीं, यह शरीर किसी की भी बात नहीं उड़ाता। तुम मानोगे ? तुम ही मेरे गुरु हो। (यह सुनकर सब लोग खूब हँस रहे हैं।) क्यों ठीक है न ? जगत भर में इस शरीर के तो सब गुरु हैं। सबके गुरु मेरे ही गुरु हैं।

प्र०—माँ ! आप समाधिस्थ होते हो क्या ? आप अपना अनुभव बताओ।

माँ--पहले कभी कभी इस शरीर में साधना के भिन्न भिन्न किस्म के खेल होते रहते थे। जैसे छोटा बच्चा खेल करता है वैसे ही साधना भी इस शरीर में खेलती थी। बचपन से ही इस शरीर का दिमाग खराब है। इस शरीर में साधना के जितने प्रकार के खेल हो सकते हैं सब हो गये हैं। स्वयं ही गुरु और स्वयं ही शिष्य।

प्र०--आत्मा परमात्मा को किसने बनाया ?

माँ--परमात्मा का तो कोई माता पिता नहीं है। भगवान् तो स्वयं प्रकाश रूप है।

प्र०--हम लोग कैसे मानें ?

माँ--भगवान् स्वयं प्रकाश है ही। स्वयं प्रकाश माने जो अपने आप प्रकाशित होता है। भगवान् को कोई बाहर के प्रकाश से प्रकाशित नहीं कर सकता। भगवत् प्रकाश कोई निभा नहीं सकता। जैसे दिन में सूर्य प्रकाशित है लेकिन बादलों से आवृत हो जाने से सूर्यदर्शन नहीं होता है ठीक वैसे ही आत्मा का या भगवान् का स्वयं प्रकाश हर समय है ही लेकिन अविद्या के आवरण से आवृत हो जाने से आत्मदर्शन नहीं हो रहा है। आवरण को हटाओ तो प्रत्यक्ष भगवान् के दर्शन होंगे।

प्र०--भगवान् यदि एक है तो फिर भिन्न भिन्न आचार्य, पैगम्बर इत्यादि क्या ?

माँ—पिताजी ! हाथ, पैर इत्यादि भिन्न भिन्न अंग तो तुम्हारे एक शरीर के ही तो हैं। वैसे ही भगवान् के भिन्न भिन्न नाम होते हुए भी भगवान् एक ही है। एक गति में अनंत गति है और अनंत गति में एक गति है।

प्र०—भगवत् दृष्टि कब होगी ?

माँ—जब भगवान् स्वयं कृपा करेगा तब।

प्र०—जब जाति पर दुःख आता है तब सिद्ध महापुरुष क्या करता है ?

माँ—वह लोग ऐसा मानते हैं कि महात्मा लोग कुछ करते नहीं है। जैसे

पुष्प लाने से उसकी सुगन्ध से सुबास फैल जाती है वैसे ही उन महापुरुषों की दया खूब विस्तृत रहती है। किसी किसी को दुःख से बचा लेते हैं।

प्र०--यदि महापुरुषों में दया होती तो आजकल जो देश में अत्याचार हो रहा है वह कभी न होता ?

माँ—अत्याचार भी भगवान् की ही लीला है। कौन किस पर अत्याचार कर रहा है ? संसार गति परिवर्तन-शील है इसलिये अत्याचार मालूम हो रहा है। दया कहाँ प्रकाशित होती है। भगवान् गिराता भी है और उद्धार भी करता है। वह तो निर्दय भी है और करुणासागर भी है। जो उद्धार कर सकता है वह डुबा भी सकता है। जगत् में विविध विचित्रता। चतुर्वर्ग के सम्बन्ध में यदि सब कोई अपने अपने धर्म के मुताबिक कर्म करें तो द्वन्द का कोई स्थान नहीं रहेगा। तुम लोगों से सुना है कि—"स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।।" ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यस्ताश्रम—ये चार आश्रम यदि ठीक रहते तो यह सब अव्यवस्था नहीं होती। चार आश्रम और चार वर्ण में परस्पर घर्षण होने से संसार में अव्यवस्था बढ़ गई है। "यह सब भगवान् का ही है"—यह भाव रहने से वहाँ लड़ाई का स्थान कहाँ है ? परबुद्धि से लड़ाई होती है।

प्र०—भगवान् ने दुनिया को क्यों बनाया ?

माँ—पिताजी, तुमने ठीक प्रश्न किया। हम लोगों को इतनी तकलीफ पड़ रही है--भगवान् ने दुनिया बनाया ही क्यों ? छोटा बच्चा अपने मातापिता में दोष देखता है कि पिता ऐसा क्यों करता है ? तुम जब पिता बनोगे तब पता चलेगा--पिता क्यों ऐसा करता है। भगवान् तो परममाता, परमपिता, परमबन्धु। भगवान् कभी किसी का अमङ्गल करता ही नहीं। भगवान्‌रूपी पिता को पाने के लिये चेष्टा करो।

प्र०—प्रकाश की तरफ जाने के लिये सर्वप्रथम क्या करना चाहिये।

माँ--अपना अपना गुरु जिसको जो बतावें वैसा करना चाहिये। सब के लिये एक रास्ता नहीं है। सत्य का आश्रय तो लेना पड़ेगा।

प्र०—गुरु का फोटो, चित्र या प्रतिमा से प्रेरणा मिल सकती है क्या ? ध्यान के समय आदिगुरु शंकराचार्य का चित्र रख सकता हूँ ?

माँ—जैसा ध्यान करोगे वैसा मिलेगा। जैसे मन्त्र द्वारा प्रेरणा मिलती है—इष्ट का दर्शन भी हो जाता है वैसे ही ध्यान द्वारा भी भगवत् दर्शन हो सकता है। भगवत् बुद्धि से सबको समान मानकर प्रणाम करो। जिसको प्रणाम करोगे उसका सारा भाव तुम्हारे में आ जायेगा। भावना पूर्वक प्रणाम करने से सब अच्छा हो जायेगा।

प्र०—माँ ! मान लो कि आप ही हमारे गुरु हो। रास्ता बताओ।

माँ—यह शरीर तो छोटी बच्ची है। छोटी बच्ची कभी गुरु बन सकती है ? सिर्फ शरीर बड़ा है। शरीर छोटा होने से गोद में खेलने वाली बच्ची हूँ। इसके बाद एक भाई ने माँ को बहुत सुन्दर भजन सुनाया—

"लज्जा मोरी राखो श्याम हरि"

(क्रमशः)

कैलास-मानसरोवर प्रदक्षिणा

श्री 'दत्त'

"All that is beautiful is sacred. Though what to western eye is apt to seem little better than devil-worship, has been much distorted and veiled in the course of centuries, the fundamental idea of Asiatic religions is embodied in one of the most magnificient temples I have ever seen, a sun-lit temple of rock and ice. It's remarkable structure and the peculiar harmony of its shape justify my speaking of KAILĀS as the most sacred mountain in the world. Here is a meeting place of the greatest religions of the East, and the difficult journey round the temple of the Gods purifies the soul from the earthly sins........"

("Throne of Gods"—by Dr. Arnold Hein & August Gansser)

पिछले अंक में नैनीताल में स्थित ताल का वर्णन किया गया था। इस ताल की लम्बाई ४७०१ फुट और चौड़ाई १५१८ फुट है। उसकी परिधि २ मील से कुछ अधिक और अधिकतम गहराई प्रायः ९३ फुट है। अनुभवी लोगों का कहना है कि इस ताल में गन्धक के २ चश्मे भी हैं। ताल को तोड़कर, उसके जल को नीचे की घाटी में बहाकर, ताल की जमीन को समतल कर उस पर मकान बनवाने की योजना कुछ अँगरेज विशेषज्ञों ने बनाई थी, किन्तु लोगों की धार्मिक भावना को ठेस पहुँचने पर कदाचित् उनके उत्तेजित हो जाने के भयंकर परिणाम का विचार कर या इसी प्रकार के अन्य किसी कारण से यह योजना कार्यान्वित न हो सकी। कहते हैं कि ताल के किनारे पर स्थित भगवती नैनादेवी का मन्दिर तल्ली ताल के

डाकखाने के स्थान पर था। बाद में उसको वहाँ से हटाकर नौका-भवन के बगीचे के पास लाया गया था। किन्तु नैनीताल में जो भीषण भूस्खलन की करुण दुर्घटना[१] हुई थी, उसमें वह मंदिर ध्वस्त हो गया था। उसके बाद अपने वर्तमान स्थान पर यह मंदिर नया बनवाया गया। भगवती के मन्दिर के समीप शिवजी और हनुमानजी के सुन्दर मन्दिर हैं। इन मन्दिरों का वातावरण हमें अत्यन्त पवित्र और भक्तिभाव के आन्दोलनों से विकंपित प्रतीत हुआ। यहाँ पर जब 'नन्दाष्टमी' (भाद्रशुक्ल अष्टमी) पर बड़ा धार्मिक मेला लगता है, उस वक्त चारों ओर के पर्वतीय प्रदेशों से असंख्य भाविक लोग आ उपस्थित होते हैं और भगवती के सुमधुर गीतों से चारों ओर के वातावरण गुंजित कर देते हैं। धार्मिक दृष्टि से इस दिन का महत्व बहुत बढ़ जाता है और नगर की शोभा में भी वृद्धि हो जाती है।

नैना देवी के मंदिर के समीप एक विशाल मैदान है जहाँ पर लोग बाली-बाल, कबड्डी जैसे खेल खेलते देखे गये हैं। एक दिन जब हम लोग स्थान के समीप से होकर शहर जा रहे थे, तब देखा कि मैदान को सजाया गया है। एक स्थान पर मंच बनाया गया था और चारों ओर लाउड-स्पीकर के भोंपे लगाये गये थे। सुना कि एक मन्त्री महोदय भाषण देने वाले हैं। जब हम लोग शहर से वापस लौट रहे थे तब देखा कि उस मैदान में असंख्य लोग जमा हैं और कोई एक भाषण शूर मंत्री महोदय जोर-जोर से चिल्लाकर लोगों से "वोट" (vote) प्रदान करने की याचना कर रहे थे। इसी मैदान में कुछ दिन पूर्व एक श्वान-प्रदर्शनी देखने का हमें सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इसमें भाग लेने के लिए असंख्य भारतीय एवं विदेशी नर-नारी अपने अपने श्वानों के साथ आ उपस्थित हुए थे। मैंने पशु-पक्षी, फल-फूल, अन्न आदि की प्रदर्शनियाँ बहुत सी देखी थीं लेकिन श्वान-प्रदर्शनी देखने का यह जीवन में पहला ही अवसर प्राप्त हुआ था। कहते हैं कि जिस प्रकार यहाँ

---

[१] १. १६ सितम्बर सन् १८८० ई०, शनिवार, दिन में १॥ बजे इस भीषण दुर्घटना में १५१ मनुष्य मरे थे जिनमें ४३ यूरोपीय थे।

श्वान-पालन का शौक है उसी प्रकार पाश्चात्य देशों में घर-घर में श्वान, भारतीय मयूर, अफ्रीका के रंग-बिरंगे अजगर, सिआमी बिल्ली आदि को पालने का शौक बढ़ता जा रहा है।[१] यह बात सत्य है कि जहाँ पर धनराशि अपरिमित है, वहाँ पर इस प्रकार पशु-पक्षी का लालन-पालन होता रहता है और इस प्रकार के शौक को संस्कृति का एक अंग माना जाता है। मेरे विचार से इस प्रकार पशु-पक्षियों के पीछे किये जाने वाले अपार धनराशि के अपव्यय को रोककर यदि लोग अन्न-वस्त्र-शिक्षा आदि के अभाव में प्रस्फुटित होने से पहले ही मुरझा जाने वाले दीन बालकों को अपने ही बालक मानकर अपने पास रखकर उसी धनराशि द्वारा शिक्षित करें तो विश्व की धनी-निर्धन की महती समस्या का समाधान बड़ी सरलता से हो जाय।

नैनीताल में निवास के बीच मैंने देखा कि इस पर्वतीय नगर में अधिकांश भारी जेब वाले लोग ही आते रहते हैं जिनमें पदनिवृत्त लोगों की संख्या शायद अधिक होगी। नैनीताल के निवासी पहाड़ी लोग अधिकांशतः गरीब हैं। इतने पर भी वे सरल, धार्मिक वृत्ति वाले और आनन्दी स्वभाव के हैं। लोग मजदूरी, दूकानदारी, घर-बाग-बगीचे की रक्षा आदि के उद्यम करके जीवन-यापन करते हैं। लोगों का शरीर हृष्ट-पुष्ट दिखाई पड़ता है। आजकल यहाँ के लोग ऊँची शिक्षा प्राप्त करने में बहुत रुचि रखते हैं। भारत सरकार की विभिन्न संस्थाओं में बहुत से ऊँचे पदों पर ये लोग नियुक्त होते देखे गये हैं।

---

[१] अमेरिका के 'बाल स्ट्रीट जरनल' का विवरण है कि १९६३ में अमेरिकों ने अपने कुत्तों की खुराक पर ५.३ करोड़ डालर खर्च किये। यह राशि अमेरिकनों द्वारा अपने बच्चों की खुराक पर खर्च की गई राशि से करीब ५ प्रतिशत अधिक है। इसी प्रकार बिल्लियों पर १२ करोड़ ५० लाख डालर खर्च किये गये। अमेरिका में पालतू कुत्ते २ करोड़ ६० लाख तथा बिल्लियां २ करोड़ हैं। इनके अलावा पालतू पक्षियों और मछलियों की संख्या क्रमशः १ करोड़ ५० लाख से २ करोड़ के बीच और ५० करोड़ है। अमेरिका की कुल आबादी १८ करोड़ के करीब है।

नैनीताल में निवास की अवधि में मुझे यहाँ की भारी वर्षा का भी अनुभव हुआ। लोग कहते थे कि मौसम से पूर्व इस प्रकार की भारी वर्षा कभी भी देखी नहीं गई है। इतनी अविरत भारी वर्षा हुई कि नैनीताल का सारा वातावरण ही बदल गया, मानों वर्षा ऋतु का प्रारम्भ हो गया। हम लोग उन दिनों घर से बाहर ही न निकल सके। ठण्ड भी बहुत पड़ने लगी जिससे कैलास-यात्रा के लिये रखे हुए अच्छे-अच्छे गरम कपड़ों को मुझे यहाँ से ही पहनना शुरू करना पड़ा। मुझे ऐसा लगा कि कैलास मार्ग की भारी वर्षा और असह्य शीत को सहन करने में समर्थ बनने के लिये कदाचित् भगवान की ओर से मुझे शिक्षा तो नहीं दी जा रही है। दो-तीन दिनों के बाद वर्षा बन्द हो गई, आकाश निरभ्र हो गया और प्रातःकाल पहाड़ के पीछे से जब भगवान् भास्कर ने नैनीताल की ओर सस्मितवदन से प्रथम दृष्टि की तब ऐसा प्रतीत हुआ कि हरी रेशमी चद्दर ओढ़े हुए यह सारा प्रदेश चैतन्य हो गया। वाह, क्या अपूर्व शोभा है। उद्यान में टहलता हुआ जब मैं आनन्द से विभोर होकर प्रकृति की इस अद्भुत लीला का दर्शन कर रहा था, उसी समय एक व्यक्ति ने उत्तर दिशा में स्थित एक उन्नत पर्वत के शिखर की ओर अंगुलि-निर्देश करते हुए कहा—देखिए, आज “चीनापीक” पर श्वेत ध्वज फहर रहा है।

१—‘चीन’ शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग वेद, महाभारत, पुराण, चरक संहिता, बृहत्संहिता (वराहमिहिर कृत), ललित विस्तर (बौद्ध ग्रंथ), जैन ग्रंथ आदि में पाया जाता है। इस पहाड़ का नामकरण चीन देश निवासी अथवा चीन देश के आधार पर किया गया है, यदि यह कल्पना की भी जाय तो मूर्खतापूर्ण है। शब्द संग्राहकों के मतानुसार ‘चीन’ शब्द के अर्थ ध्वज, झण्डा, पताका, निशान, फरहरा आदि हैं। हमें इस शब्द का यहाँ इस प्रकार का प्रयोग उचित प्रतीत होता है क्योंकि हिमाच्छादित पर्वतपंक्तियों के विराट् अनुपम दृश्य की सूचना के रूप में श्वेत ध्वज यहाँ फहराया जाता है। किन्तु हमें आश्चर्य तो इस बात पर है कि ‘चीन’ जैसे संस्कृत शब्द का संयोग अँगरेजी के ‘पीक’ शब्द से किसने और क्यों कर दिया ? इसी प्रदेश में ‘चीना खाल’ नामक गाँव भी है। तिब्बती भाषा में “चेन” या “छेन” शब्द का अर्थ “अति ऊँचा” है। यहाँ पर इस शब्द का इस प्रकार का

हिमाच्छादित पर्वत-पंक्तियों का दृश्य आज अपूर्व होना चाहिए। मैंने उस दिशा में दूरबीन से देखा तो श्वेत ध्वज स्पष्ट दिखाई पड़ रहा था। जब इस प्रकार ध्वज फहराया जाता है, तब नैनीताल के अनेक सौन्दर्य-प्रेमी लोग इस अनुपम दृश्य का अवलोकन करने के लिए 'चीनापीक' पर पहुँच जाते हैं। भारत सरकार की ओर से इस प्रकार की व्यवस्था के लिये सरकारी कर्मचारी की नियुक्ति की गई है। चीना शिखर (८५६८ फुट ऊँचा) पर दूरबीन भी रखी गई है, जिससे लोग आसानी से स्पष्ट रूप से हिमालय के धवल तुषाराच्छन्न पर्वत पंक्तियों के दृश्य के अवलोकन का आनन्द प्राप्त कर सकें। यहाँ से उत्तर दिशा में दिखाई देने वाले शिखरों में नन्दादेवी (२५६६१ फुट ऊँचा), कामेत (२५३७३ फुट ऊँचा), त्रिशूल (पश्चिमी भाग, २३३८२ फुट ऊँचा), नम्पा (२३३५२ फुट ऊँचा), थरला सागर (२२६२८ फुट ऊँचा), वद्रीनाथ (२३२१० फुट ऊँचा, अन्तर ६३ मील), जौंली (२१७८४ फुट ऊँचा, अन्तर १०६ मील), वंदरपूँछ (२०७३१ फुट ऊँचा, अन्तर १२२ मील) आदि हैं। चीना शिखर पर पहुँचने के लिये मार्ग तल्लीताल के डाकखाने के पास से होकर जाता है। यह मार्ग लगभग ३॥ मील लम्बा है।

नैनीताल की अंधेरी रात की भी शोभा निराली प्रतीत हुई। एक दिन इसका आनन्द भी प्राप्त किया। पहाड़ पर से नैनीताल की ओर दृष्टि करते ही विद्युद्दीपों को देखकर ऐसा लगा मानों भगवती नैनादेवी के इस धाम में चारों ओर दीपक जलाये गये हों और आरती की तैयारी हो रही है। आकाश की ओर देखने से ज्ञात हुआ कि जैसे भगवती के द्वारा आकाश रूपी साड़ी को धारण करते समय उसके हिलने-डुलने से उसमें जड़े तारे झड़कर पर्वतीय प्रदेश पर बिखरकर विद्युद्दीपों के रूप में प्रकाशित हो उठे हों। धन्य हो भगवती, धन्य हो तेरा प्रदेश।

नैनीताल के मेरे निवास के दिन देखते-देखते ही बड़े आनन्द में बीत गये। दो-चार दिन में ही मुझे यहाँ से अलमोड़ा जाना था। इन अन्तिम दिनों में घटित

अर्थ भी उचित लगता है क्योंकि नैनीताल के निकटवर्ती सभी पहाड़ोंमें चीना शिखर सबसे ऊँचा है।

एक विशेष घटना का यहाँ उल्लेख किये बिना मैं नहीं रह सकता। प्रसंग इस प्रकार है—एक दिन जब हमलोग शहर में घूमने के लिये गये थे, उस समय राजा साहब के एक परिचित विदेशी मित्र के घर हम गये थे। सुना था कि उन विदेशी मित्र का कुछ दिन पहले ही देहान्त हो गया था जिससे उनकी पत्नी को सान्त्वना देना शिष्टाचार वश आवश्यक था। जब हम उनके यहाँ पहुँचे तो पता लगा कि मेम साहब 'शापिंग' (shopping) करने गई हैं जिससे हम लोग मिल न सके। दूसरे दिन जब हम लोग बाजार में जा रहे थे तब दूर से वे मेम साहिबा आ रही थीं। उन्हें दिखाकर राजा साहब ने कहा कि वे वही मेम साहिबा हैं, जिनके घर हमलोग कल गये थे। मैंने देखा कि मेम साहिबा के शिर पर एक हैट है और साथ के पहाड़ी मजदूर के सिर पर टोकरी में खरीदी हुई वस्तुएँ रखी हुई हैं। समीप में आते ही उसने राजा साहब को पहचान लिया और राजा साहब ने रास्ते के किनारे खड़े होकर उनके पति के आकस्मिक निधन पर शोक व्यक्त किया और सान्त्वना देने लगे। इस बीच मैंने देखा कि मेम साहिबा कुछ जल्दी में हैं। वे बीच में ही बोल उठीं, "मुझे क्षमा करना, मेरा सामान लेकर मजदूर आगे निकल गया है, मुझे जल्दी घर पहुँचना है। फिर मिलेंगे। क्षमा।" ऐसा कहकर वे तो तीव्र गति से आगे निकल गईं। इस प्रसंग पर हमलोगों को हँसी आ गई। मेरे मुख से निकल पड़ा कि कहाँ भारतीय नारी का पति ही परमेश्वर का ऊँचा आदर्श और दुर्भाग्यवश पति के निधनोपरान्त वैधव्य जीवन-यापन की उदात्त भावना और कहाँ पाश्चात्य नारी का शुष्क पति-प्रेम।[१] स्वार्थ की गन्ध से पूर्ण विवाह सम्बन्ध का यही परिणाम स्वाभाविक है।

आज ही मुझे नैनीताल से अल्मोड़ा होकर कैलास-मानसरोवर की यात्रा के लिये प्रस्थान करना है। ब्राह्ममुहूर्त में उठकर स्नान-पूजनादि से निवृत्त हो गया

---

[१] १—भारत में भी पश्चिम के अनुकरण में कामवासना से प्रेरित होकर अन्तर-जातीय विवाह, गान्धर्व विवाह, विवाह विच्छेद आदि की कुप्रथाएँ दैनन्दिन बढ़ती जा रही हैं, इसको हम भारत के लिए दुर्भाग्यपूर्ण मानते हैं।

था और फलाहार करने बैठा था कि राजा साहब के नौकर ने मेरा सामान बाँधकर तैयार कर दिया। एक नौकर बस में स्थान सुरक्षित कराने के लिए चला गया था। समय होते ही मैं सब सज्जनों की भावभरी बिदाई लेकर घर से बाहर निकला। यात्रा की शुभ कामना करते हुए सभी लोगों ने उद्यान से रंग-बिरंगे पुष्पों के गुच्छ लाकर भेंट किये।[१] इनको यात्रा की सफलता का शुभ चिह्न मानकर उन्हें साथ रख लिया और वहाँ से मंगलमय भगवान् का स्मरण करते हुए बस स्टेशन के लिये प्रस्थान किया।

(क्रमशः)

——

---

[१] —विशुद्ध भावना से दिये हुए इन विकसित प्रफुल्ल सुगन्धित पुष्पों को मैंने सुरक्षित रख लिया और पुनीत मानसरोवर के तट पर पहुँच कर भगवान् श्री कैलास के समक्ष सब के मंगल और स्वास्थ्य की कामना करते हुए उन पुष्पों को मानसरोवर के पवित्र जल में प्रवाहित कर दिया।

डायरी के कुछ पृष्ठ

गुरुप्रिया देवी

७ नवम्बर, १९६१

इस बार संयम सप्ताह महाव्रत का आयोजन शुकताल में हुआ है। मुजफ्फरनगर से शुकताल जाना पड़ता है। प्रायः ११ बजे माँ को लेकर हम लोग देहरादून से रवाना हुए। शाम को ५ बजे गाड़ी के मुजफ्फरनगर पहुँचते ही देखा कि बैंड पार्टी इत्यादि लेकर सब माँ की अभ्यर्थना के लिए प्रस्तुत हैं। स्वामी कल्याणदेव ही सब व्यवस्था कर रहे हैं। शुकताल १४ मील दूर है। माँ को मोटर से ले जाया गया।

शुकताल पहुँचकर देखा कि एक धर्मशाला के ऊपर के कमरे में माँ के रहने की व्यवस्था है। नीचे कई कमरे हैं। वहाँ लड़कियाँ रहेंगी। सामने दीवार से घिरा खूब बड़ा बाग की तरह है। बाग के बीच में ही एक विशाल पंडाल बनाया जा रहा है और आस-पास भक्तवृन्दों के रहने के लिए तम्बू लगाए जा रहे हैं। थोड़ी दूर पर और एक बहुत बड़ी धर्मशाला है। वहीं पर संयम के अधिकांश व्रतियों के ठहरने की व्यवस्था हुई है।

शुकताल वा शुकतीर्थ एक अत्यन्त प्राचीन और पवित्र तीर्थ है। श्रीमद्भागवत में लिखा है कि इसी स्थान पर गङ्गातट पर महात्मा शुकदेव ने महाराज परीक्षित को श्रीमद्भागवत सुनाई थी—परवर्तीकाल में इसीलिए यह स्थान शुकतीर्थ नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी पुण्य भूमि में श्री चरनदास बाबाजी को एक प्राचीन वटवृक्ष के नीचे शुकदेवजी का दर्शनलाभ हुआ था। वह वटवृक्ष अभी भी विद्यमान है। स्वामी कल्याणदेव जी इधर के एक विख्यात महात्मा हैं। उन्होंने विशेष परिश्रम करके इस जङ्गल के बीच में अति सुन्दर श्रीकृष्ण एवं शुकदेवजी का मन्दिर आदि बनवाया है। धर्मशाला के पास ही दंडी साधुओं का एक आश्रम है। आस-

पास और कोई बस्ती नहीं है। यह वास्तविक साधुओं का ही स्थान है। अति निर्जन स्थान—दूर में गङ्गा बहती हैं।

सुना कि स्वामी कल्याणदेव ने पहले भी कई बार गुप्त भाव से हमारे अनेक उत्सवों में आकर योगदान दिया है। पर माँ के साथ साक्षात्कार करके परिचित होने की चेष्टा उन्होंने नहीं की। इस बार संयम सप्ताह के उपलक्ष्य में बाहरी दृष्टि से माँ के साथ परिचय होने का सुयोग घट गया।

१० नवम्बर, १९६१

कल से यहाँ द्वादश संयम सप्ताह प्रारम्भ हो गया। स्वामी परमानन्द की अक्लान्त चेष्टा से इस जङ्गल के भीतर भी एक छोटा-मोटा शहर खड़ा हो गया। बिजली, ट्यूबवैल आदि सभी की व्यवस्था है। प्रति वर्ष की भाँति इस बार भी भारत के नाना भागों से बहुत से भक्त आकर सप्ताह में व्रती हुए हैं। शारीरिक सुविधा, असुविधा की ओर उनकी मानो दृष्टि ही नहीं है। माँ की कृपा से जो वे ऐसे पवित्र स्थान में आकर संयम में योगदान कर पा रहे हैं इसी से सब अपने को सौभाग्यवान समझ रहे हैं। महात्माओं में स्वामी अखंडानन्दजी, महामंडलेश्वर स्वामी महेश्वरानन्दजी, चक्रपाणिजी, स्वामी नारदानन्दजी आदि आए हैं। स्वामी विष्णु आश्रम जी तो यहाँ हैं ही।

प्रति बार की भाँति अब के भी सब लोग दीर्घ समय तक पंडाल में ही माँ का सान्निध्य पा रहे हैं। समवेत भाव से त्याग, तितिक्षा, व्रत, उपवास, शारीरिक सुख स्वाधीनता का त्याग—यह सब इस सप्ताह के समय प्रतिवर्ष देखने का सुयोग होता है। महाराज परीक्षित ने यहीं पर सात दिन अनशन व्रत का उद्यापन कर अमृतमयी भागवत की कथा शुकदेवजी के मुख से सुनी थी। इसी से यहाँ आकर आश्रमस्थ साधु, ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणी, भक्तवृन्द, व्रती सभी ने प्रथम दिन केवल गङ्गाजल पान करके व्रत आरम्भ किया। जिन्होंने शायद जीवन में कभी इस प्रकार उपवास नहीं किया, उन्होंने भी बिना किसी क्लेश के माँ के मुख की ओर देखकर सारा दिन रात काट दिया। माँ भी दिन का अधिकांश भाग पंडाल में ही व्रतियों के

बीच रहकर उनका उत्साह बढ़ा रही हैं। यहाँ का निस्तब्ध वातावरण बहुतों के मन को प्रभावित कर रहा है।

१५ नवम्बर, १९६१

आज संयम सप्ताह का शेष दिन है। परम आनन्द और परम शान्ति से सबके यह दिन कटे हैं। आज सप्ताह की समाप्ति है इसीलिए सभी के मन में विषाद का-सा भाव है। अनेकों को यहाँ नैमिषारण्य से भी अधिक आनन्द मिला।

माँ अधिकांश समय पंडाल में ही रहने की चेष्टा करती हैं। शरीर विशेष अच्छा नहीं इसलिए आसन के पीछे माँ के थोड़ा लेटने की अवस्था कर दी गई है। माँ स्वामी अखंडानन्दजी से बोलीं कि "पिता जी, यहाँ तो etiquette का प्रश्न ही नहीं। लेटकर, बैठकर सत्सङ्ग में योग देना।" अखंडानन्दजी ने हँसकर उत्तर दिया, "मनुष्य के समीप ही यह सब प्रश्न है। माताजी के लिए इसकी कोई बात ही नहीं।"

विष्णु आश्रमजी नित्य बड़े सुन्दर भाव से श्रीराम की कथा नाना प्रकार की उपमा देकर सबको सुनाते हैं। सरल और स्पष्ट भाषा में बोलने के कारण श्रोताओं को समझने में कोई भी असुविधा नहीं होती। एक दिन उन्होंने कहा कि जागतिक हिसाब से जो सब चीज अपवित्र है, वह भी अति पवित्र काम में व्यवहृत होती है जैसे—बछड़े के पहले-पहले दूध पीने के बाद पीछे वही उच्छिष्ट दूध सदा पूजा के काम में लाया जाता है, देवता को स्नान कराने के लिए पंचामृत बनता है। फिर मधुमक्खी का वमन ही मधु होता है जो सदा देवकार्य में लगता है। रेशम का कीड़ा मुख की लार से रेशम का तार बनाता है और उसी के अन्दर शरीर त्याग देता है। उसी गुटी से रेशम बनता है जिससे पूजा का शुद्ध वस्त्र बनाया जाता है। कौआ वटवृक्ष का फल मुख से खाते हुए जहाँ बीट गिरा देता है, वहीं वृक्ष पैदा हो जाता है। उपमाएँ खूब ही सुन्दर हैं।

स्वामी अखंडानन्दजी प्रतिदिन श्रीमद्भागवत पर एक घण्टा अत्यन्त सुन्दर भाषण देते हैं। रोज रात को मौन के बाद मातृसत्सङ्ग के समय अनेक अच्छी-अच्छी

आलोचना होती हैं। माँ ने आज बातों के सिलसिले में कहा, "तुम जो कहते हो कि शुकदेवजी के स्थान पर बैठकर कुछ अनुभव नहीं हो रहा, अगर वह कृपा करके तुमको इस स्थान पर न लाते तो क्या तुम्हारा यहाँ आना होता ? वे सब समय हैं, सबके भीतर हैं। जब तक मैं और मेरा है तब तक इसका बोध नहीं होता।"

माँ और भी बोलीं, "इस बार सुनती हूँ तुम्हारा द्वादश संयम सप्ताह है। यहाँ से लौटकर तुम लोग नित्य इस तीर्थ को स्मरण करोगे। और इच्छा होने से तुम लोग महीने में एक दिन, अथवा सप्ताह में एक दिन संयमित जीवनयापन करने की चेष्टा करना। संयमित आहार, संयमित व्यवहार, वाक्संयम एवं सत्यनिष्ठा की ओर विशेष लक्ष्य रखना।"

गत वर्ष जब नैमिषारण्य में संयम और भागवत सप्ताह हो रहा था, कुमारी शान्ता* के मन में शुकताल में भागवत सप्ताह कराने की वासना जागी। अधिकांश भागवत सप्ताह ही मृत जनों के कल्याण की कामना से उनके प्रियजन करवाते हैं। इस बार शान्ता के आग्रह से निष्काम भागवतपारायण की व्यवस्था हुई है। प्रायः छः महीने से शान्ता ने भागवत के समस्त कपड़े इत्यादि सीकर रक्खे हैं। श्रीमद्भागवत पर शांता की असाधारण भक्ति और श्रद्धा है। वह नित्य भागवत पाठ करती है।

भागवत सप्ताह के उपलक्ष्य में शान्ता की माँ, बहनें सभी आए हैं। गोपालस्वरूपजी को माँ ने तार भेज कर बुलवाया है। आज संयम के अन्तिम दिन शान्ता की भागवत शुरू हुई। विष्णु आश्रमजी व्याख्या करेंगे। मूल पाठ बाद्दा कर रहे हैं। शुकदेव मन्दिर के रास्ते में नवनिर्मित गीता भवन में मूलपाठ की व्यवस्था हुई है—व्याख्या पण्डाल में होगी।

शान्ता ने सवेरे माँ को पीला रेशमी वस्त्र पहनाकर, कमर में हरा दुपट्टा और लाल रेशमी ओढ़नी पहनाकर, सजाकर आरती की। माँ के चिबुक पर एक छोटा

---

* कुमारी शान्ता पाठक—इलाहाबाद के प्रसिद्ध वकील श्रीयुत गोपालस्वरूप पाठक की छोटी कन्या। लड़की का अत्यन्त भद्र और शान्त स्वभाव है। एम० ए० पास करने के बाद ही आश्रम में आ गई।

काजल का टीका भी दिया। श्रीकृष्ण के ऊपर किसी की कुदृष्टि न पड़े, इसलिए उनके कपोल पर शायद ऐसा टीका लगाया जाता था। श्रीमद्भागवत में ऐसा लिखा है। माँ यह सुनकर खूब हँसीं—माँ शान्ता के वस्त्र पहने हुए ही मूल भागवतपाठ के स्थान पर घूम आईं। वहाँ जाकर माँ ने देखा कि मंच पर बाँस नहीं है। घट पर सिन्दूर नहीं दिया गया है। माँ ने बाटूदा से पूछा, "आचार्य देव से यह सब भूल कैसे हुई ?" बाटूदा बोले, "माँ, आप ही तो आचार्य हैं।" ब्रह्मचारी दत्तात्रेय आरती करने लगा पर ठीक तरह से नहीं कर सका, यह देखकर माँ ने स्वयं जाकर कैसे चँवर डुलाया जाता दिखा दिया।

२२ नवम्बर, १९६१

कार्तिक पूर्णिमा के उपलक्ष्य में यहाँ कई दिन से खूब ही भीड़ है। सहस्र, सहस्र ग्रामवासी दूर-दूर गाँवों से आकर एकत्रित हुए हैं। इस बार की अत्यधिक भीड़ के और भी दो कारण हैं—माँ की उपस्थिति और भागवतसप्ताह। शुकताल के इतिहास में इतना बड़ा उत्सव कभी नहीं हुआ। इसी से चारों ओर से लोगों की भीड़ मानों फटी पड़ रही है।

माँ का कमरा ठीक गेट के ऊपर है। सामने बहुत बड़ी छत है। नीचे क्षण-क्षण पर सहस्राधिक लोग माँ के दर्शनों के लिए एकत्रित हो रहे हैं। इस प्रकार का विपुल जनसमुद्र हमने कम ही देखा है। आकाश और वायुमंडल को मुखरित कर रही है उनकी जयध्वनि—"जंगल में मंगल करने वाली की जय, जगत-माता की जय।" माँ बार-बार कमरे से निकल कर दोनों हाथ जोड़कर खड़ी हो जाती हैं। कहती हैं, "जन जनार्दन के रूप में दर्शन देने आए हैं।" कभी-कभी माँ दोनों हाथों से जनसमूह पर बताशे, नकुलदाना, डालती हैं, कभी फल, कभी मिठाई, कभी विष्णुसहस्रनाम की छोटी-छोटी पुस्तकें। माँ का दर्शन पाने मात्र से जनता को कैसा असीम आनन्द है।

आज भागवत पाठ का अन्तिम दिन है किन्तु शान्ता का मन खूब ही खराब है। शारीरिक बाधा पड़ जाने से वह आज और कुछ भी नहीं कर सकी। उसकी

माँ ने ही भागवत की भेंट इत्यादि चढ़ाई। माँ बोलीं, "सभी में मंगल है। इस बाधा के पड़ने से उसका मन और भी आकुल-व्याकुल हो रहा है। भगवान के पास ही पड़ी है। उसकी माँ के हाथ से भगवान इतना लेंगे। भागवतपारायण की शुभ इच्छा शान्ता के मन में ही पहले आई। पूर्णफल, उसी को प्राप्य है। और उसकी माँ ने जितना किया है, उसका फल भी शान्ता की माँ पावेगी। यह जो बाधा की सृष्टि हुई, सब कुछ शान्ता अपने हाथ से पूर्णांगीण भाव से समाप्त नहीं कर पाई, यह तो अच्छा ही हुआ। उसके मन में यह अहंकार का भाव नहीं आने पावेगा कि सब कुछ मैंने हीं किया।" फिर माँ बोलीं, "बाधा की सृष्टि होने पर भी भगवान मन का भाव देखकर ही ग्रहण करते हैं। वहाँ शुचि, अशुचि का कोई प्रश्न ही नहीं है।"

आश्रम की ओर से माँ के निर्देशानुसार मैंने विष्णुआश्रमजी को सोने के सिंहासन के साथ भागवत दान किया। माँ भी पंडाल में उपस्थित थीं। शान्ता की सदिच्छा और माँ की कृपा से भागवत सप्ताह खूब अच्छी तरह हो गया।

माँ इस प्रसंग में कहती हैं, "योगायोग होय तो एक बार सब लड़कियाँ मिल कर भागवत सप्ताह करो न। कोई पाठ करेगी, कोई व्याख्या करेगी। अपने आप ही सब करना।"

२३ नवम्बर, १९६१

आज भागवत पारायण की पूर्णाहुति है। पूर्णाहुति हो जाने पर माँ सबको लेकर गंगा के किनारे गईं। माँ ने सबको गंगाजल का छींटा दिया। सबको महाआनन्द।

आज ही बहुत लोग माँ से विदा लेकर अपने-अपने घर को रवाना हो गए। माँ की यहाँ एकान्त में ६-७ दिन और रहने की बात है।

वेदान्त वार्ता

स्वामी नारायणानन्द तीर्थ

(२)

(पूर्वानुवृत्ति)

सत्, असत् और मिथ्या इन तीनों के बारे में अब विचार करना उचित है। सत् वा सत्य वस्तु उसे कहते हैं जो तीनों कालों में समभाव से विद्यमान है। भूतकाल में, वर्तमानकाल में तथा भविष्यकाल में जिस वस्तु का अस्तित्व एक ही भाव से है उसको सत् वा सत्य वस्तु कहा जाता है। स्थिर चित्त से विचारने पर मालूम होता है कि इस सृष्टि में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो एक ही अवस्था में चिरकाल रहती है। जिसकी सृष्टि हुई है उसके षट्‌विकार अर्थात् जन्म, सत्तालाभ, परिणाम, वृद्धि, ह्रास और विनाश ये छः विकार वा परिवर्तन अवश्य ही होंगे। आज हो, कल हो, लक्ष वर्ष अथवा कोटि वर्ष पश्चात् क्यों न हो संसार की सब वस्तुओं का अभाव वा नाश अवश्य ही होगा।

उदाहरण—यह जो विराट सूर्य है जो हमारे इस पृथ्वी से बहुगुणा बड़ा है और जिसका आविर्भाव बहुकोटि वर्ष पूर्व में हुआ है उसका भी नाश एक न एक दिन जरूर होगा। हम ऐसी किसी भी वस्तु की कल्पना वा धारणा नहीं कर सकते जिसका नाश नहीं है अर्थात् जो हमेशा एक ही अवस्था में रहेगी। ब्रह्म को छोड़कर जितनी भी वस्तुएँ इस विश्व में विद्यमान हैं वे सब ही नश्वर अथवा नाशवान् वस्तुएँ हैं। जो किसी देश विशेष अथवा काल विशेष के द्वारा परिच्छिन्न नहीं है, तथापि सर्व वस्तुओं की जो आत्मा है, जिससे पृथक् होकर कोई भी वस्तु रह नहीं सकती—अणु से भी अणुतर, साथ ही साथ जो महत् से भी महत्तर है; वही सर्व प्रमाणों का एकमात्र प्रमेय सर्वात्मा ब्रह्म है। एकमात्र ब्रह्म ही अविनश्वर एवं शाश्वत है। "नेति नेति" करके विचारने से भी प्रमाण हो जायेगा इस विश्व ब्रह्माण्ड में

जितनी भी वस्तुएँ हैं वे सब ही नश्वर, सब ही नाशवान् और सब ही अस्थायी हैं। ध्यान दीजिये भास्कर (कारीगर जो पत्थर का काम करता है) शिवलिंग बनाने के लिए एक खण्ड पत्थर लेकर बैठा है। भास्कर या शिल्पी क्या कर रहा है ? अपने अस्त्र से शिवलिङ्ग निर्माण में जिसका प्रयोजन नहीं है अर्थात् जो अ-शिव है उसे काट-काट कर निकाल देता है। सब अ-शिव चले जाने से जो अवशिष्ट रहता है वही शिव है। ठीक उसी तरह इस ब्रह्माण्ड के हर एक वस्तु में ब्रह्म ओतप्रोत है अर्थात् मिला-जुला है। "नेति नेति"—"न इति न इति"—यह नहीं है, यह नहीं है, विचार कर जो अ-ब्रह्म है उसे हटा देने पर जो अवशिष्ट रहेगा वही 'ब्रह्म' होगा। वेदान्त शास्त्र में ब्रह्म का स्वरूप जिस प्रकार वर्णित है वह संक्षेप में दिया जा रहा है :—

१—"कालत्रयाबाधितं ब्रह्म,"—भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालों में से किसी भी काल में जिसका 'बाध' अर्थात् अप्रतीति वा अभाव नहीं होता है वह 'ब्रह्म' कहा जाता है।

२—"अनाद्यनन्तं ब्रह्म,"—जिसका आदि नहीं है तथा अन्त भी नहीं है, वह 'ब्रह्म' है।

३—"नित्यं वा सत्यात्मकं ब्रह्म,"—जो नित्य एवं सत्य स्वरूप है, वही 'ब्रह्म' नाम से अभिहित हैं।

४—"अखण्डाद्वितीयं ब्रह्म,"—जो अखण्ड अर्थात् अविच्छिन्न वा पूर्ण है और जो अद्वितीय है अर्थात् जो सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद रहित है, वही 'ब्रह्म' है।

५—"पादचतुष्टयात्मकं ब्रह्म,"—जो अखण्डाद्वितीय होकर भी चार पादों में अर्थात् विश्व और जीव-समूह में एक पाद तथा आकाश में अमर अंश तीन पादों में विराजित है वही 'ब्रह्म' है।

६—"स्वयं प्रकाशात्मकं ब्रह्म,"—कार्य कारणात्मक सर्व विश्व के एक मात्र प्रकाशक, द्रष्टा अथवा विज्ञाता होकर भी जो स्वयं प्रकाश हैं, वही 'ब्रह्म' नाम से अभिहित हैं।

७—"सगुणनिर्गुणस्वरूपं ब्रह्म,"—सगुण और निर्गुण दोनों जिसका स्वरूप है, वही 'ब्रह्म' है।

८—"सकलावस्थाबाधितं ब्रह्म,"—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इनमें से किसी भी अवस्था में जिसका बाध अर्थात् अप्रतीति वा अभाव नहीं होता है, वही 'ब्रह्म' पदवाच्य है।

९—"देशतः कालतः वस्तुतः परिच्छेदविरहितं ब्रह्म,"—जो देश, काल तथा वस्तु द्वारा अपरिच्छिन्न अर्थात् जो सर्वदेश में, सर्वकाल में तथा सर्ववस्तु में सर्वदा समान भाव से विद्यमान हैं, वही 'ब्रह्म' नाम से कहे जाते हैं।

१०—' इन्द्रियातीतं ब्रह्म,"—जो अशब्द, अस्पर्श, अरस, अरूप तथा अगन्ध होने से नेत्रादि इन्द्रिय समूह जिसको ग्रहण वा विषय नहीं कर पाते अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा जिसको जाना नहीं जाता है, वह 'ब्रह्म' है।

११—"सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म,"—जो सत्य, ज्ञान तथा आनन्द स्वरूप हैं, वही 'ब्रह्म' कहे जाते हैं।

१२—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,"—जो सत्य, ज्ञान तथा अनन्त स्वरूप हैं, वही 'ब्रह्म' पदवाच्य है।

१३—"सर्वं परिपूर्णं ब्रह्म,"—जो सर्वव्यापक है, वही 'ब्रह्म' नाम से अभिहित है।

१४—"अस्ति भाति प्रियात्मकं ब्रह्म,"—जो अस्ति, भाति तथा प्रियरूप हैं अर्थात् जो सत्, चित् और आनन्द स्वरूप हैं, वही 'ब्रह्म' है।

१५—"जगदधिष्ठानात्मकं ब्रह्म,"—जो इस कार्य कारणात्मक सम्पूर्ण जगत् के एक मात्र अधिष्ठान या आधार स्वरूप हैं, वही केवल मात्र 'ब्रह्म' नाम से अभिहित होते हैं।

१६—"षड्विकारविरहितं ब्रह्म,"—जो उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय तथा विनाश ये छः प्रकार विकार विरहित हैं, वही 'ब्रह्म' नाम से कथित हैं।

१७—"प्रमातृ चैतन्यात्मकं ब्रह्म,"—जो प्रमातृ चैतन्य स्वरूप हैं अर्थात् जो असङ्गरूप से द्रष्टा वा विज्ञाता हैं, वही 'ब्रह्म' कहे जाते हैं।

१८—“अयमात्मा ब्रह्म,” “प्रज्ञानं ब्रह्म,” “निर्मलं निष्कलं ब्रह्म,” “शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूपं ब्रह्म,” “एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म,” “प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं ब्रह्म” इत्यादि अनेक प्रकारों से ‘ब्रह्म’ वेदादि शास्त्रों में वर्णित हैं।

अब विचार करना चाहिये असत् क्या है। असत् वह कहा जाता है जिसका किसी भी काल में अस्तित्व नहीं है तथा उसकी उपलब्धि भी नहीं है। सत् का विपरीत असत् वा असत्य है। जैसा वन्ध्यापुत्र, शशशृङ्ग वा आकाशकुसुम। ये सब किसी भी देश में तथा किसी भी काल में नहीं पाये जाते हैं। ये सब केवल शब्द मात्र हैं। इनके कोई अर्थ ही नहीं है। जिस स्त्री का सन्तान नहीं है वह वन्ध्या वा बाँझ कहलाती है। इस कारण वन्ध्या या बाँझ का पुत्र कहने से कोई भी अर्थ या मतलब नहीं निकलता। यह एक अलीक वस्तु है। अलीक शब्द का अर्थ है जो वास्तव में होती ही नहीं है। इसी प्रकार शशशृङ्ग, आकाश कुसुम, गन्धर्व नगर इत्यादि। ये सब वस्तुएँ संसार में ढूँढ़ने पर किसी भी काल में अथवा किसी भी देश में नहीं मिलेंगी। इसलिये ये सब असत् हैं।

वेदान्तशास्त्र में मिथ्या शब्द का अर्थ असत्य नहीं है बल्कि और कुछ विलक्षण ही है। सत् और असत् के बीच में जो है, वही मिथ्या है अर्थात् वह किसी भी काल में नहीं है परन्तु तिस पर भी उसकी प्रतीति वा उपलब्धि होती है। यह प्रतीति वा उपलब्धि भी चिरकाल अर्थात् हमेशा रहेगी ऐसी बात नहीं है। जगत् मिथ्या और ब्रह्म सत्य इस ज्ञान के परिपक्वावस्था में देहादि उपाधि का नाश होने पर इस प्रतीति का भी विलय हो जाता है। इस मिथ्या प्रतीति का जो अधिष्ठान है अर्थात् जिसको आश्रय करके यह मिथ्या ज्ञान हो रहा है, वह जो ब्रह्म है, उसका साक्षात्कार होने से ही मूल के सहित इस अज्ञान का नाश होता है। इस अज्ञान का नाश होने से मिथ्या वस्तु की भी फिर प्रतीति वा उपलब्धि नहीं होती है। इस अज्ञान का नाश करना ही मनुष्य जीवन का परम और चरम लक्ष्य है।

अब हम इस मिथ्या शब्द को और भी सुस्पष्ट रूप से समझने की चेष्टा करें। मिथ्या शब्द से यह समझा जाता है कि कोई वस्तु वास्तव में जहाँ नहीं है उसको वहीं समझना। उदाहरण द्वारा इसको समझना आसान होगा। मान

लीजिये अन्धकार में एक टुकड़ा रस्सी वा एक खण्ड रज्जु पड़ा हुआ है। प्रकाश की स्वल्पता के कारण उस रस्सी को देखकर सर्प का भ्रम हो जाता है। वास्तव में रस्सी सर्प नहीं है परन्तु प्रकाश की कमी होने से रस्सी सर्प मालूम हो रही है। जिस समय सर्प की धारणा हो रही है उस समय सच्चा सर्प देखने से जिस प्रकार का डर वा भय उत्पन्न होता है ठीक उसी तरह भीति उत्पन्न होती है। वास्तव में वहाँ सर्प किसी समय में नहीं है। दर्शक के निकट प्रकाश की अल्पता के हेतु रज्जु को रज्जु न देखकर वह सर्प के रूप में देखता है। इसी को वेदान्तशास्त्र में मिथ्या कहते हैं। वहाँ तो सत्य वस्तु रज्जु वर्तमान है; परन्तु रज्जु, रज्जु न दिखकर दर्शक को जो सर्प दिखती है यही अज्ञान का कार्य है अथवा अज्ञान की चतुराई है। और एक उदाहरण से इस बात की पुष्टि की जाती है।

मरुभूमि उसी को कहते हैं जहाँ बालू छोड़ और कुछ भी नहीं है। परन्तु दोपहर के समय जब सूर्यनारायण की रश्मि उस मरुभूमि के बालू की राशि के ऊपर पड़ती है तब दूर से वह जल मालूम होता है। वह जल ऐसा सत्य मालूम होता है कि तृषित मृग अपनी तृष्णा वा प्यास निवारण के लिए उस दोपहर के प्रचण्ड धूप में उसकी ओर दौड़ पड़ता है। जैसे-जैसे वह हिरण जलभ्रम से उसकी तरफ आगे बढ़ता है वैसे-वैसे वह मिथ्या जल उससे और भी दूर-दूर भागता जाता है। परिणाम यह होता है कि वेचारा निरीह प्यासा हिरण जल के लिये भागता-भागता आखिर में मृत्यु के गाल में चला जाता है। एक बूँद भी पानी वेचारा तृषित हरिण को नहीं मिलता है। जलभ्रम से अबोध पशु ही उसकी ओर दौड़ता ऐसा नहीं है; कोई-कोई मूढ़ तृष्णातुर पथिक भी जलभ्रम से उसकी ओर आगे बढ़कर धोखा खाता है। सौभाग्यवश अगर उसे कोई बुद्धिमान मनुष्य मिलता है तो वह कहता है, हे तृषित भ्रान्त मानव! तुम जलभ्रम से जिसकी तरफ दौड़ते हो, वह वास्तव में जल नहीं है। वह तो जलता हुआ निरा बालू ही है। सूर्य की किरण विभिन्न स्तर के वायु के अन्दर से होकर बालू के ऊपर गिरने से वे प्रतिस्रुत (Refracted) होकर तुम्हारे निकट जलभ्रम पैदा कर रहे हैं। अगर तुम उसकी ओर अनन्तकाल तक भी दौड़ोगे तो भी तुम्हें जल कभी नहीं मिलेगा। वह तो एक

मिथ्या वस्तु मात्र है। वह तो बालुका-राशि के व्यतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। बालू को बालू न देखकर तुम जो जल देख रहे हो वही तो अज्ञान का चातुर्य है। जो सत्य वस्तु का आश्रय वा सहायता लेकर मिथ्या अपना खेल दिखा रहा है वेदान्तशास्त्र उसको अधिष्ठान कहता है। अगर कोई सत्य वस्तु न रहती तो मिथ्या उसका इन्द्रजाल दिखाने में सक्षम न होता। यहाँ सत्य वस्तु वा अधिष्ठान स्वरूप रज्जु तथा मरुभूमि है और मिथ्या वस्तु सर्प तथा मरीचिका है।

अब हमें विचार करना होगा कि जगत् क्या है। जो सदा ही परिवर्तनशील है वही जगत् है। संस्कृत भाषा में 'गम्' धातु के अनन्तर 'क्विप्' प्रत्यय से जगत् होता है। 'गम्' धातु का अर्थ है गमन करना, चलना, गति इत्यादि। इस ब्रह्माण्ड में जो भी हम अपने पंच ज्ञानेन्द्रियों से देखते हैं, सुनते हैं, आघ्राण करते हैं, स्वाद लेते हैं, स्पर्श करते हैं, यहाँ तक कि हम अपने मन द्वारा चिन्ता करते हैं वे सब ही गतिशील वा परिवर्तनशील हैं। जिसमें गति है वही परिवर्तन धर्मी माने जाते हैं। नदी के प्रवाह की भाँति यह जगत् क्षण क्षण बदलता जाता है। जैसे बहती हुई नदी का जल इस मुहूर्त जो दिखता है वह दूसरे मुहूर्त नहीं रहता है। जैसे वह हर एक क्षण सरकती जाती है वैसे ही यह पंचभूतात्मक जगत् प्रतिक्षण में बदलता जाता है। हम लोगों की स्थूल दृष्टि से वह स्थिर वा अचंचल मालूम होने पर भी वास्तव में वह स्थिर नहीं है। वह गतिशील वा चंचल है। वर्तमान युग के आधुनिक वा नवीन वैज्ञानिक चिकित्सक गण बतलाते हैं कि आज हमारे शरीर में जो कोष वा Cells हैं छः वर्ष के पश्चात् उनमें से एक भी नहीं रहेगा। प्रति मुहूर्त में वे सब कोष व Cells बदलते रहते हैं और छः साल के बाद पुरानों के स्थान में नवीन कोष आकर उस स्थान की पूर्ति करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जो परिवर्तनशील वा गतिशील है वही जगत् है और जो स्थिर वा अपरिवर्तनशील है, वही नित्य है, वही ब्रह्म है।* इस भुवन में एक मात्र परमात्मा वा ब्रह्म ही विद्यमान है। वे ही अग्नि के रूप में, सलिल में सन्निविष्ट हैं—

---

* एक प्रसिद्ध महात्मा संसार व जगत् के बारे में कहते हैं, "संसार तो वह है जिसको

"एक हंसो भुवनस्यास्य मध्ये, स एवाग्निः सलिले सन्निविष्टः ।"

—श्वेताश्वतरोपनिषत् ६।१५

उपरोक्त मूल श्लोक—

"श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः ।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ।।"

की ओर ध्यान देने से देखा जाता है 'जगन्मिथ्या' शब्द है। मिथ्या शब्द विचारने में देखा गया है, "जो वस्तु जहाँ नहीं है, उसको वहाँ देखना ही मिथ्या है।" यह जगत् प्रपंच मिथ्या है, इस ज्ञान से संसार की सारी वस्तुओं से वैराग्य उत्पन्न होता है तथा ज्ञान के उदय होने पर इस जगत् प्रपंच में जो सत्यबोध और नित्यत्वबोध है वह एकदम हमेशा के लिये विलुप्त हो जाता है। यह पुत्र कलत्रादि समन्वित मधुर सुखमय संसार, ये सब धन, जन, मकान, सम्पत्ति, मान-सम्मान तथा ऐश्वर्यादि का आनन्द, जन्म मृत्यु का कारण-स्वरूप पंचभूत तथा उससे उत्पन्न वस्तु समूह, ये सब ही सार-शून्य तथा इन्द्रजाल के सदृश मिथ्या हो जाते हैं। संसार की सब ही वस्तुएँ स्वप्न में दिखे हुए पदार्थों में परिणत हो जाती हैं। साथ ही साथ सभी पदार्थ ब्रह्म में आश्रित है, ब्रह्म ही सब वस्तुओं का अधिष्ठान तथा ब्रह्म ही सर्व-स्वरूप है अर्थात् केवल एक मात्र ब्रह्म ही है और कुछ भी नहीं है, यह निश्चय रूप से बोध हो जाता है।

'प्रपंच' शब्द का अर्थ अनुसरण करने से मालूम होगा सद् ब्रह्म और असद् वन्ध्यापुत्रादि अलीक वस्तु व्यतिरिक्त इस विश्वब्रह्माण्ड में तथा तदन्तर्गत जितनी भी वस्तुएँ हैं वे सब ही 'प्रपंच' नाम से कही जाती है। क्योंकि ब्रह्म तीनों काल में है, परन्तु वह जाना नहीं जाता है तथा देखा भी नहीं जाता है। वन्ध्यापुत्रादि अलीक वस्तु भी तीनों कालों में नहीं है तथा वह ज्ञेय और दृश्य भी नहीं है। जो जाना नहीं जाता है और देखा भी नहीं जाता है, वह दुःख का हेतु या कारण भी

हम पकड़कर रखना चाहें और प्रयत्न करने पर भी जो हमारी पकड़ में न आ सके, अपने आप सरकता-छूटता जाय। और जिसे छोड़ना चाहें, फिर भी न छूटे, वह ईश्वर है।"

नहीं होता है। इसलिये जो जाना जाता है और देखा जाता है वही दुःख का हेतु वा कारण होता है। उसका मिथ्या ज्ञान होने से दुःख नहीं होता है। मिथ्या शब्द के विचारते समय यह देखा गया है कि जो वस्तु जहाँ किसी भी काल में नहीं है परन्तु वह वस्तु वहाँ प्रतीत होती है, वही मिथ्या है। जैसे मरुभूमि में जल, रज्जु में सर्प तथा सीप में रजत भ्रम इत्यादि। इसलिये जो देखा जाता है, जाना जाता है, वह तीनों कालों में न रहने के कारण उससे जो सुख-दुःख होते हैं, वे भी तीनों कालों में नहीं हैं। जिसके कारण ही मिथ्या है उसके कार्य सत्य कैसे हो सकते हैं? वह कदापि सत्य नहीं हो सकता है। यह ज्ञान दृढ़ तथा परिपक्व होने से सुख-दुःख का भी अनुभव नहीं होता है और मृत्यु भय भी नहीं रहता है। इसी को ठीक-ठीक समझने के लिये ही वेदान्तशास्त्र का अतिशय प्रयोजन है।

—क्रमशः

The Self, self-contained,
calling to Itself for its own Revelation—
this is happiness.

MATRI VANI

Pilgrims of the Supreme Path must advance swiftly on their way to the Goal.

* * *

The Will of the Almighty is indeed everything. Becoming the allies of this great Will, all should strive for Self-realization, praying for God's grace.

* * *

He who has created the universe is Himself present in all circumstances and conditions. The action, its effective cause, and the doer—all are truly He. In order to realize this fact, Yogis and Rishis performed *yoga* and *tapasya*. The One Himself appears as the Name, the *mantra*. His presence and the remembrance of Him must be sustained unceasingly.

* * *

You all have ever been good—not become good just newly. Unless there is inward goodness, it cannot materialize.

* * *

The endeavour to mould one's desires so as to fall in with God's Will is man's duty. In the whole of your work depend entirely on Him. Skill in action—everything is He, His. In this spirit try to complete your task.

* * *

The One who has created this world is on every side. Rely on Him in all matters.

* * *

Man is born in order to experience the happiness and sorrow of this world. Those who have the good sense of wanting to go beyond happiness and pain must take their sole refuge in Him.

* * *

The Supreme Power Itself is directly present in all forms under which It is worshipped. Cry out to It and to It alone. The Supreme Power *mahāmāya* cannot remain indifferent to the inconsolable weeping of its offspring. Thus, the One who deals severe blows—yet again Himself consoles by His loving embrace.

* * *

The search after Truth is incumbent on man. God's grace streams forth at all times.

Pages from my Diary

GURUPRIYA DEVI

(Translated from Bengali)

Suktal, 7th November 1961.

This time the *Samyam Mahavrata* will be held here in Suktal. Together with Mataji we all left Dehradun by train at about 11 a.m. and reached Muzaffarnagar at about 5 p.m. At the station, Swami Kalyandeva had arranged for a grand reception with a musical band, flowers, and so forth. Suktal is 14 miles from Muzaffarnagar and Mataji was taken by car from there.

She has been put up in a room on the roof of the *dharmaśāla*. There are several rooms downstairs in which the girls and women of the Ashram are to stay. Ma's room looks out on a very large garden that is surrounded by a wall. A huge pandal with tents all round it has been erected in the centre of the compound. At a little distance there is another *dharmasāla* which, together with the tents, will provide accommodation for all the participants of the *Samyam Vrata*.

Suktal is a very ancient and holy place of pilgrimage. According to the *Srimad Bhāgavata*, Sri Sukadevaji related the whole of the Bhāgavata to King Parikshit at this very spot. For this reason it became famous under the name '*Sukthīrta*' in subsequent times. It was here that Sri Charandas Babaji had *darśana* of Sri Sukadevaji under an old banyantree which still exists. Swami Kalyandeva is a Mahatma of repute in this part of the country. He has taken immense trouble to construct in the midst of this jungle very beautiful temples dedicated to Sri Krishna and Sukdevaji respectively. Near the *dharmasāla* there is an Ashram for *Dandiswamis.* No other human habitation is to be seen anywhere near. It is therefore a solitary place specially suited for *sādhus.* At a short distance the Ganges is flowing majestically.

I am told that Swami Kalyandeva had attended many of our functions, without disclosing his identity. He had up till now never tried to make personal contact with Mataji. On the occasion of this Samyam Vrata, he at last openly made Ma's acquaintance.

10th *November* 1961.

Yesterday the 12th *Samyam Mahavrata* started. Thanks to the untiring efforts of Swami Paramananda a small town of tents has been raised in the midst of the jungle, with electricity, a tube-well and all other amenities provided. As in preceding years, a large number of people have come for this function from all over India, prepared to brave whatever hardships they would have to encounter. Everyone considers it a rare privilege to be able, by Mataji's grace, to practise austerities in such a sacred place. Several well-known Mahatmas have assembled, among them Swami Akhandanandaji of Vrindaban, Mahamandaleshwara Swami Maheshwaranandaji of Bombay, Swami Naradanandaji of Naimisharanya, Sri Chakrapaniji. Swami Vishnuashramji lives here itself.

Just as during other *Samyam Saptahs,* participants have the good fortune of Mataji's *darśana* in the pandal for many hours daily. To practise collectively renunciation, forbearance, fasting, penance and voluntarily forgo physical comforts is the special note of the *Ṣamyam Vrata.* Is not this the blessed place where, without taking food or drink for seven days, King Parikshit listened to the immortal story of the *Bhāgavata,* told by the blessed Sri Sukadeva ! Thus the *sādhus, brahmachāris* and *brahmachārinis* of our Ashram, the devotees and *vratis,* all began the week by a whole day on Gangeswater only. Even those who had never in their whole lives fasted in a similar manner, felt no difficulty throughout those 36 hours, since they could most of the time be in Mataji's presence or close proximity. Spending the major part of the day in the pandal in the midst of the participants, Mataji thereby greatly enhanced their perseverance and determination. The calm and quiet atmosphere of this place finds response in the hearts and minds of many.

15th November 1961.

Today is the last day of the Samyam Saptah. The whole week has been spent in great peace and joy. Everyone feels rather sad that the function is coming to an end. Just as last year in Naimisharanya so also this time most people have experienced an ever deepening bliss.

Mataji wished to attend the *satsang* as much as possible. Since her health is indifferent, a place for her to lie down has been improvised behind her seat. Mataji said to Swami Akhandanandaji; "*Pitaji,* here the question of etiquette does not arise. Lying or sitting—somehow the satsang has to be attended." Akhandanandaji laughed : "All such considerations exist for human beings, but certainly not for Mataji !"

Sri Vishnuashramji has daily been expounding about Sri Rama in a most lucid and interesting manner. His simple and clear language makes it easy for the audience to assimilate the subject matter. One day he explained to us that things that are considered impure from a worldly point of view are nevertheless used for the most sacred rites. As for instance, as soon as the newly born calf has drunk its mother's milk, the milk which is regarded as impure, can immediately be employed for purposes of worship, such as the preparation of *panchāmrita*, or to bathe the image of a deity. Further, honey which is ejected by the bee is always used in religious ceremonies. The silkworm spins a cocoon with the help of its saliva and then dies inside the cocoon out of which silk is manufactured that serves as material for clothes worn by priests while officiating. The crow, after eating the fruit, of the banyantree, spits out the seeds and wherever they take root, the holy tree grows up. Swami Vishnuashramji gave many beautiful and instructive examples of this kind.

Swami Akhandanandaji talked daily for an hour on the *Srimad Bhāgavata* in his unique, enthralling way. At 9 p.m. after the 15 minutes of silence, some very interesting discussions with Mataji took place. Today Mataji said in the course of the conversation : "You say that although you are staying in Sri Sukadevaji's place, you have not been conscious of his presence. But if he had not been so gracious as to call you to his place, could you have come ? He is everywhere and resides in all beings. yet, so long as the sense of 'I' and 'mine' persists, one is not aware of this fact."

Mataji added : "This, I am told, is the 12th *Samyam Vrata*. When you go back to your homes or ashrams you should always keep the memory of this place of pilgrimage alive within you. And if you wish, you may observe *Samyam* once a month or once a week. On those days you should pay special attention to self-control in eating and drinking, in speech and conduct, and adhere strictly to truth."

Last year, when immediately after the *Samyam Vrata* a *Bhāgavata Saptah* was observed in Naimisharanya, Kumari Shanta conceived the desire to arrange for a *Bhāgavata Saptah* at Suktal. The ceremonial reading of the whole of the *Srimad Bhāgavata* in seven days, is usually organized by the relatives of a deceased person for the benefit of his soul. But in this case, it is, according to Shanta's wish celebrated for no particular motive or purpose, just for the love of God. For the last six months Shanta has been preparing for this function. She holds the *Bhāgavata* in great veneration and daily reads a portion of this scripture.

Shanta's father, mother and all her sisters have arrived for the occasion. Today being the last day of the *Samyam Vrata*, the *Bhāgavata Saptah* has begun. Sri Vishnuashramji will be responsible for the daily exposition in Hindi in the pandal, while Batuda will recite the Sanskrit original in the newly built *Gītā Bhavan*, which is an addition to the Sukadeva temple.

This morning Shanta presented to Ma a bright yellow sari, a green wrapper and a red searf, all of silk, and performed *ārati* to her. She also put a black spot on Mataji's chin, just as it used to be put on Sri Krishna's chin or cheek to protect him from the evil eye. This is what we read in the *Bhāgavata*. On being told, Mataji broke out into loud laughter. Dressed up in the colourful clothes offered by Shanta, Mataji walked to the place where the Sanskrit recitation was in process. Mataji discovered that several mistakes had been made in the ceremony that preceeds the recitation. Addressing Batuda, she asked: "Why has the *achāryadeva* (spiritual preceptor) allowed all these inaccuracies to creep in ?" Batuda replied, "Ma, you yourself are the *achārya.*" Brahmachari D. was unable to perform the *ārati* according to the prescribed rules and Mataji showed him in person how it had to be done.

22*nd November* 1964.

An enormous crowd has collected here on the occasion of *kartik purnima.* Several thousand villagers have flocked, some from considerable distances. There are two other factors that have further increased the concourse of men and women: Mataji's presence and the *Bhāgavata Saptah.* Suktal has never witnessed so much festivity at any one time. Thus the whole place is swarming with the multitude. Mataji's room is situated just above the gate of the Ashram. In the grounds below, groups of hundreds of villagers gather at intervals for Mataji's *darśana.* Such a vast sea of human beings we have rarely witnessed. Their shouts of: "Hail to the benefactor of humanity ! Hail to the Mother of the World !" rend the sky. From time to time Mataji appears on the terrace outside of her room. Standing with folded hands, she says: "*Janjanārdhana* (God in the, guise of the multitude) has come to give *darśana.* With both hands she throws sugar balls into the throng of people, or sometimes fruits or sweets or even tiny booklets containing the thousand names of Vishnu. How exuberantly happy these villagers are to be able to have Mataji's *darśana.'*

Today is the final day of the *Bhāgavata Saptah.* But

Shanta feels sorely disappointed. Due to some indisposition she is prevented from performing her daily service for the function. Her mother is attending to the work on her behalf. Mataji remarked : "Everything is for the best. This obstacle has made your mind turn with even greater eagerness towards Him. Your disappointment makes you more God-centred. Then also, the Lord is taking service from your mother today. The laudable desire to celebrate this *Bhāgavata Saptah* has first awakened in Shanta's heart and therefore the entire fruit of this action will be hers. Yet her mother will also get her share of it for what she has done today on Shanta's behalf. That Shanta was prevented from completing the whole of the task all by herself is indeed beneficial, for she will not be able to feel proud at having accomplished everything without the help of anyone."

Later Mataji added : "Although you were kept from doing the actual physical service today, the Lord has accepted your goodwill for the deed—on the plane where there is neither purity nor impurity.

At Mataji's direction, the *Srimad Bhāgavata* together with its golden throne have on behalf of our Ashram been presented to Sri Vishnuashramji in the pandal in Mataji's presence. Thus by Ma's grace, the whole function proceeded most beautifully and harmoniously.

In this connexion Mataji suggested : "May be, one day all the Ashram girls will by a joint effort perform a *Bhāgavata Saptah* entirely out of the their own strength and resources; one of them doing the recitation in Sanskrit, another one the explanations in Hindi, and so forth."

23rd November 1961.

Today the celebration has been completed by *Havan*, etc. As soon as it was over, Mataji went to the banks of the Ganges, accompanied by all the devotees. She sprinkled Ganges water on everyone and thereby caused great rejoicing.

Already today many have left for their respective places. Mataji intends to remain here in comparative solitude for another week or so.

Viraha Mala*

by

GAURIDASI

It is now, almost unbelievably, two full years since I left India and nearly that long since I was asked to write something about that visit and what it might have meant to me. All that would come to me upon this request was an attempt at a few lines of verse, a poor little song to Mataji. For, in truth, it was not to India that I came but to Ma, and it was she from whom I parted two years ago.

That leave-taking I shall not soon forget : It happened on the train carrying Mataji from Hardwar to Vrindaban. For the last half hour of the journey to Delhi where I was to get down, I stood in the doorway of Mataji's compartment with tears in my eyes. Panuda was there, and one of the girls in attendance upon Ma. I seem to recall the *gerua* cloth of the *sannyāsini*, but not clearly, for the inner intensity of those moments was too great for the recollection of details. Even the exactness of Mataji's last words to me is gone, though not, of course, their profound import, which (in view of the fact that I was returning to my country to enter into a relationship that would prove to be, exactly as Ma had a few days previously predicted "......a little happiness and then all misery—and then you will long for the Real...") should have meant to me a great deal more than it did at the time.

---

* ***Viraha*** The pangs of separation from one's object of love and worship, ***Mālā*** garland, also rosary.

I made obeisance to her and she gave me a garland—the very one that I had put round her neck at Hardwar station, whil ethat incomparable look of hers, steadily, brightly, calmly gazed through all the turmoil which I thought to be 'me', into that which alone IS.

How often this happened to me : that I received as her *prasāda* the exact article I had offered to her. One does not always understand the purport of such happenings from within, does not often have a direct experience of their meaning. But such things in relation to Mataji have often proved to have some deep significance that cannot be altogether captured by thought. This seems to be particularly true when the same thing happens again and again as if to draw our attention to the language of her action. Though I cannot say I *know* what this particular act was saying to me, considered with the mind it seems to convey something like this : Only in exact proportion as you are able to give yourself to Him, can He give Himself to you.

Once, in referring to a request I had made to her one day to do her some little service, Mataji had said to me in effect, "All this is of no significance to me. Dedicated lives alone are my food." This too has meaning in connection with the above, for I had come ostensibly to give my life to her and had taken it back again.

She filled my hands with fruits, too, at that last *darśana*, and after alighting from the train I stood long among the dense crowd, with my gaze fixed on her. Before the departure of the train I was allowed to board and make one final *praṇāma*. As I came from one end of the carriage, Mataji walked, neither slowly nor quickly, from the other, and there was about her an air of great seriousness. Now, in my memory, she seems to fill the aisle, her form reaching from the floor to the ceiling, and that tremendous seriousness of her apparent mood overwhelms me. As I rose from *praṇāma*, she poured into my two hands so many almonds (seeds of what ?) that they overflowed unto the floor and I had to scramble about gathering them up lest some passing foot should tread on them. I have partaken of only a few of those nuts, the rest along with the last symbolic garland I still keep. Only yesterday I ate one; they are still good, and if planted under the proper conditions would no doubt grow into so many almond trees.

"Have I put little flowers
into the hands that
created the three worlds ?
O have I indeed heard
Bhagavan laugh ?"

These two lines are all I recall—and not correctly—of that verse I tried to write for Ma. They seem to ask the same question that all ask : who, what is Mataji ? This is a query which cannot really be answered within the realm of our experience. And to my way of thinking at least, one should not try to answer. The question, however, must be put. It is, in Zen terminology, like the greatest of all *koans*, the consideration of which can cut through all the discursive activities of the mind, leading us ever more deeply within. But to come to some definite, dogmatic conclusion as to what Mataji may be, is but to halt that inward process, even though we may be so tolerant as to admit that our conclusion is for ourselves only, and does not necessary apply to others.

"I am", she says, "whatever you take me to be." She has stated the same of Bhagavan : "He is whatever you consider Him to be." This must of course be true since whatever is "is He and He and only He." But until we have reached that 'stage' beyond stages where we experience everything as that One alone, by taking It to be 'this' or 'that' we only confine ourselves to the state of consciousness in which we can conceive of Him in this or that particular way.

This is a conviction I have always held in regard to our relation to Mataji. Naturally we conceive of her as something, she appears to us in a 'body'. and we in our present state of being—or perhaps 'non-Being'—might somehow express it better by some definite relationship to her, as we have a sense of relationship, intense or feeble to everything within our experience. But the nature of this relatedness is not because of things as they are or as they appear to us, but rather is it determined by our particular level of consciousness.

To keep the whole attention of one's being focussed on Mataji is one thing, but to keep one's gaze fixed upon some pet notion of what she may be is quite another; and though this might be necessary and helpful at a certain period, it would seem to me that to think that our particular concept of her–however exalted—is all there is to the matter can only confine us to the mental state in which that concept is possible, and, given enough time and practice, can make such a strong *samskara* of that mental condition that it becomes all but impossible to go beyond it. It is the difference between the attitude of continually, with as much sincerity, earnestness and humility as we are capable of, asking of God at each successive stage of awareness: "Who art Thou ?" and the attitude of saying, at some personally satisfying level: "God is this." To the question He can give ever fuller and fuller answer, but to what shall He reply if we say to Him: "Thou art thus—and so!" He is verily what we take Him to be—neither more, nor less.

I can only give as an example something from my own experience, which may or may not have meaning to others, and which does not perhaps quite apply. However, some time ago I had a very curious dream of Mataji. It was very real and sweet, not with the sweetness of a lovely dream but with that powerful sweetness of her own, which those who know her will appreciate. But it seemed very odd to me and I thought about it a great deal. The intellectual content of the dream's symbolism was quite clear, but it did not give me any real answer as to the meaning, if any, the dream as a whole might have. I even wrote if down and sent it to Mataji, and though she replied to certain other things in my letter, I was told, "To your dream Mataji only smiled." That, I thought, was to be expected, and I all but forgot it. Then, a few nights ago, I was sitting before her picture, and the mind, as is too often the case, wandered away from meditation. I had recently written a letter to a friend in India in the course of which I had recorded another dream of Mataji. I did not ask her to tell this one to Ma, for there was no special urge to do so but my meandering mind imagined her relating it to Ma and Mataji again merely smiling. Suddenly, as the attention of my being was for that brief moment concentrated on the utter simplicity of Mataji's smile in response to my previous query, the *proper question* in regard to that dream's significance arose, and at the same instant the essence of its meaning came in the sort of intuitive flash which cannot be put into words, but the knowledge of the truth of which sends chills all over the body. The intellectual conclusion had been necessary, it was in fact an integral part of the import of the dream. But it was not by concentrating on that idea, which was far from my thought, but rather by a simple alert awareness of Mataji smiling in reply that the only question that had any real meaning in this experience arose simultaneously with its inherent response. And in this particular case the understanding of the dream which I knew had something to tell me lay not in a comprehension by the mind of the symbol that Mataji used in relation to me but rather in the simple question: why ? Why was she doing so ? It sounds complicated in the telling, but the flashing experience was so clear and obvious that I am still tempted to wonder how it did not occur to me much sooner.

In relation to our search for God, must we not, therefore, learn to ask the proper question ? If we have some particular concept of Him to which we cling as to some cherished possession, we can only ask, if we question at all, "Are you this ?" And what can His answer be but "Yes, of course, I am this" in proportion to the question. But if we can so open ourselves as to ask with every fibre of our being: "Who art Thou, what art Thou ?" or "Who am I, what am I ?" and if we can go on asking, never remaining content with some partial revelation, what may or may not be the 'answer' that in time or *now* is given to such a 'question' ?

And of herself, has Mataji not said, "The visions of gods and goddesses appear in accordance with one's *samskāras; I am what I was and what I shall be......?*"

In spite of all the above theorizing, I continue to create perhaps a very deep *saṁskāra*. Not because I can come to any settled conclusion as to what God or Sadguru may finally be, but a *saṁskāra* of a different nature. For I am continually possessed with a yearning to return to India, to Mataji, to offer the *māla* that will not be given or taken back. The fulfilment of this desire is apparently not within the realm of possibility, and this is perhaps as it ought to be, for should not even such longings be sublimated? Do they not ever deepen man's *saṁskāra* of separateness from that which he IS?

Yet to know Him we must long for Him, to receive answer we must pose the question. For the door to be opened there is that simple condition that we shall knock. So perhaps it is not untoward that we are happy and full of a sense of light when we feel that acute longing for Mataji's *darśana*, and that when that longing ceases for even a moment, all within and about us seems dark, heavy, impenetrable.

"There are waves that carry away and waves that pull back. Those who can give themselves up will be taken by Him. In the guise of the wave He holds out His Hand and calls you: come, Come, COME !"

Who can tell at what moment, by the grace of God, of Guru, we shall be able to free ourselves from the waves that pull back and give ourselves up to the waves that carry away, crying, "I come, I come. Take me. Not I, but Thou. Thou Thyself takest Thyself."

So much of our experience with Mataji is so very subtle and has meaning only to ourselves; and so much of the really significant is all silence. However, it will have been understood from the first that Mataji herself is "what India meant to me." So there again arises the beckoning question: "Who, what is Mataji ?" the question which calls out to us, "come, Come, COME ! See, if you can find the Answer."

A New Light on Plato

D. S. Mahalanobis

"Although twenty-two and a quarter centuries have elapsed since the death of Plato, the great minds of the world are still occupied with his writings. He was, in the fullest sense of the word, the world's interpreter. And the greatest philosopher of the pre-Christian era mirrored faithfully in his works the spiritualism of the Vedic philosophers who lived thousands of years before himself, and its metaphysical expressions."[1]

That is how Madame Blavatsky evaluates Plato's mystic philosophy. Anyone who cares to read between the lines of what is left to us of Plato's writings, will be struck by her observations, which at any rate, are a plausibility we cannot lightly brush aside. Plato wrote two sets of works : "one in technical language for his students in the Academy; the other, a group of popular dialogues designed to lure the average literate Athenian into philosophy's 'dear delight'... By the irony of history it is these popular dialogues that have given Plato his reputation in the schools."[2] His "technical works were lost" and defunct except in fragments preserved in the writings of his pupils. These fragmentary remains are not even an epitomized version of what he had taught in the Academy, veiled in a language known only to the initiated. "The philosophy of Plato, we are assured by Porphyry, of the Neo-Platonic school, was taught and illustrated in the MYSTERIES..."[1] And these 'mysteries' were not meant to be given away to any Paul Pry for the asking. The reason is not far to seek. Plato lived at a time of social disbalance in Greece. The democrats in power were determined to crush the hostile forces that had been awakened by the tragic end of Socrates. The leaders were not tolerant of new ideas that were being bandied about by young men intoxicated with dialectic. The aristocratic Plato, an ardent pupil of Socrates, had therefore, to choose to teach in the 'mysteries'. Augustine explains the motives for veiling the interior sense: "The accusations of atheism, the introducing of foreign deities, and corrupting the Athenian youth, which were made against Socrates, afforded ample justification for Plato to conceal the arcana preaching of his doctrines".[2] Plato himself says: "You say that in my former discourse I have not sufficiently explained to you the nature of the *First. I purposely spoke enigmatically*, that in case the tablet should have happened with any accident, either by land or sea, a person, *without some previous knolwedge of the subject, might not be able to understand its contents.*'"[3] It is for this reason that Platonism remains to us still a deceptively obscure problem.

---

[1] "Isis Unveiled" ; Vol. I. H. P. Blavatsky.

[2] Will Durant : "The Story of Philosophy".

Plato, during a greater part of his life of eighty years, has taught and written extensively. A part of his teachings, at any rate, reflects a philosophy that Madame Blavatsky is justified in calling "the spiritualism of the Vedic philosophers." Modern writers on Plato seem to have made no attempt to investigate this possibility. Hence those who have tried to

---

1. "Isis Unveiled."
2. "Isis Unveiled".
3. Gory: "Ancient Fragments", quoted by Blavatsky.

interpret him without reference to this Indian key-note, have been set a problem that, instead of solving, they have passed on to the readers to solve. The Encyclopædia Britannica recognizes this difficulty in its summarisation of Plato's metaphysical theory[1] :

"Since Plato refused to write any formal exposition of his metaphysic, our knowledge of its final shape has to be derived from the (statements of Aristotle, which are confirmed by scanty remains of the) earliest Platonists preserved in the Neo Platonist commentaries on Aristotle. These statement can, unfortunately, only be interpreted conjecturally. According to Aristotle (Metaphysics, A 987, b 18–25) Plato's doctrine of Forms was, in its general character, not very different from Pythagoreanism, the Forms being actually called Numbers. The two points on which Aristotle regards Plato as disagreeing with the Pythagoreans are that (1) whereas the Pythagoreans said that numbers have as their constituents, the unlimited and the limit, Plato taught that the forms have as constituents 'the One' and the 'great-and-small'; (2) the Pythagoreans had said that things are numbers, but Plato intercalated between his Forms (or Numbers) and sensible things an intermediate class of 'mathematicals.' It is curious, that in connection with the former difference Aristotle dwells mainly on the substitution of the 'duality of the great-and-small' for the 'unlimited', not on the much more significant point that the 'One', which the Pythagoreans regarded as the simplest complex of unlimited and limit, is treated by Plato as itself the element of limit. He further adds that the 'great-and-small' is, in his own technical terminology, the 'matter', the One, the formal constituent, in a Number.

---

[1] Encyclopædia Britannica, Fourteenth Edition.

"We have then to interpret, if we can, two main statements : (1) the statement that the Forms are Numbers ; (2) the statement that the constituents of a Number are the 'great-and small' and 'the One'."

Now, no one seems to have explained what these terms signify...the "One" and the "great-and-small." All attempts to understand Plato will prove feckless as long as we do not know what the terms really mean. We already know that Plato taught "in a language intelligible only to the initiated." And the initiated alone can interpret him. We have, therefore, to turn for our guidance to the "Vedic philosophers," who, as Blavatsky says, had inspired Plato's doctrines. One who has had a little acquaintance with Indian philosophy, could with a little discernment, find that Plato's metaphysics is, essentially, an exposition of the Sankhya system, touched up, when occasion required by his own details. Let us, therefore, at the outset, penetrate the enigma that settles over his terms. The "great-and-small", we can see, is Plato's designation for *Prakriti* of the Sankhyas. The "great" is simply a literal translation of *Pradhan*, another name for *Prakriti*, and "small" refers to the infinitesimals, called *gunas*, inherent in *Prakriti*. *Prakriti*, the "great-and-small", is, of course, unlimited. 'The manifested world is traced in the Sankhya to an unmanifested ground, *Prakriti*, which is conceived as formless and undifferentiated, limitless and ubiquitous, indestructible and undecaying, ungrounded and uncontrolled, without beginning and without end. But the unity of *Prakriti* is a mere abstraction ; it is in reality an undifferentiated manifold, an indeterminate continuum of infinitesimal Reals.[1]

---

[1] Dr. B. N. Seal.

These Reals are called *gunas*, forming a trinity—*sattwa*, *rajas*, and *tamas*, i. e., essence, energy, and intertia (mass). They are not independent entities, but are independent moments or inseparable constituents in every substantive existence. *Prakriti* has therefore, the significant adjunct, triune. *Prakriti* is "great" (*Pradhan*), and is small at the same time, since it is constituted of infinitesimal Reals, *gunas*. It is the primordial undifferentiated manifold, consisting of the "small". These are unlimited, and so is *Prakriti*. This unlimitedness of *Prakriti* can only be brought into limitation, into form, by the *Purusha*, the Absolute ONE. *Prakriti* is the material stuff, *tamas*, "characterised by mass or inertia," in a real sense; it is this matter, out of which finite existence is moulded under the influence of the *Purūsha*, energized by *rajas* and intuited to consciousness by *sattwa*, in inseparable combination. "The starting point in the cosmic history is a condition of equilibrium or epuipoise consisting in a uniform diffusion of the Reals."[1] "The transcendental (non-mechanical) influence of the *Purūsha* (the Absolute) puts an end to this arrest, and initiates the process of creation. Evolution begins with the disturbance of the original equilibrium."[2] We can, therefore see that the "One", the *Purūsha*, is the "element of limit,". that is, the limiting formal cause, in a Number. It can, therefore, be regarded as one of the two constituents in it. Hence, Plato could justly enunciate, on the authority of the Sankhya, in his own enigmatic language, that the Forms have as constituents, "the One, and the great-and-small." And Aristotle's interpretation is not wrong when he says that "the great-and-small" (*Prakriti*) is, in his own technical

---

1. & 2. ***Ibid.***

terminology, the "matter"; the "One" (*Purūsha*), the formal constituent, in a Number. Thus, we may now convincingly define that "a number is something which arises from the determination of a determinable, (the great-and-small), by the One."[1]

For a better understanding of the reasoning involved in this discussion, let us for a while look back to the Sankhya system, in so far as we are concerned in our examination of the points at issue.

The evolution of the world, according to the Sankhya school, begins in the acosmic sphere of *Prakriti*, which is the primordial source and supra-sensible material of all phenomenal existence. Under the transcendental influence of the P*urūsha*, this infinite acosmic substance begins to be energized topographically in an unknown way towards limitation. As a result, what we have as the first formative element, is the supra-sensible *akāsa*, that is, a subtle space-substance beyond the ken of our phenomenal conscious effort. This is the original *akāśa* on top of the evolution series. It is technically designated *Mahat*, literally, Great One (not the Absolute One). Then, one by one five *tanmātras*, evolved in the process, are integrated in it stage by stage, and at each stage a new product arises, to be finished off with the end-product, which is known as *kshiti*, that is, matter of the physicists. The five *tanmātras* remain integrated in the end-product, an undifferentiated quinary mass, out of which, by differentiation, the objective world of things later evolves. It is evident that the *tanmātras* are constituents of matter as well as of sensible things, but in different ratios. After the emergence of the supra-cosmic *akāśa*, which is non-atomic, we have the cosmic *akāśa*,[1] which is atomic,[2] The first *akāśa* is *Mahat*; the second is the cosmic *akāśa* of our cognizance.

---

[1] **"Plato : The Man and His Work", A. E. Taylor.**

Now, what is *Mahat* ?

It is, as we know, *akāśa* in its higher aspect, a kind of nonphysical ether[3], illuminated with consciousness, also designated Overmind Consciousness or Supra-cosmic Being, as distinct from *Purusha*, the Absolute. This conscious principle is Plato's Idea or Form, the Archetype. It is, in reality, the supra-sensible form-stuff, the mass-idea, as it were, the matrix, capable of giving birth to an infinite series of 'ideas.' The form-stuff, however, has to evolve throug different stages, to be objects of our sense perception. At each stage, a matter-constituent, called *tanmātra*, is incorporated with it till the final product results. These participating *tanmātras* are Plato's "mathematicals," since they exist in different mathematical proportions in each and every object. The first product of *Prakriti* (and *Purūsha*), according to the Sankhya school, is *Mahat*; or Form according to Plato; the last is *kshiti*, matter of the physicists, or the world of sensible things. Between them, between "Forms" and "sensible things", are intercalated the *tanmātras*, which are Plato's intermediate class of "mathematicals."

---

1. *Akāśa* has two aspects, original and derivative. Vijnana Bhikshu quoted by Dr. B. N. Seal.
2. Atomic *akāśa* should not be confused with "infinitesimal Reals", *gunas*, which are subtler entities present in *Prakriti*, and consequently in *tanmātras* too, imperceptibly;
3. Cf. Plato's ether : "The ether is the mother and reservoir of visible creation......an invisible and formless *eidos*, most difficult of comprehension and partaking somehow of the nature of mind."

Gr. *Eidos* = form.

We can see, with a little analysis, that Plato's doctrine of Forms is not very much different from Pythagoreanism. Pythagoras too, as is explicit, was substantially indebted to the Sankhya system. The manifest difference that Aristotle regards as disagreements between Plato and the Pythagoreans, seems to be due, in the main, to lack of explanation of the terms used by either. The two sets of terms cannot be equated against each other, on their face value. Let us try to resolve this terminological difference.

(1) The Pythagoreans said that "numbers have as their constituents, the unlimited and the limit", refer respectively to the *Prakriti* and the *Purūsha* of the Sankhyas, since *Prakriti* is the unlimited ground and *Purusha* is the limiting cause, to which the origin of the world is traced in the Sankhya cosmogony. Thus, the "unlimited and limit" of the Pythagoreans are equivalent to the "great-and-small" and "the One" of Plato, respectively. Their first product (i. e., the first product of *Prakriti* and *Purūsha*), according to the Pythagoreans, is "One", the "simplest complex of unlimited and limit." This "One" of the Pythagoreans, therefore, represents Mahat, literally the Great One. Hence, it is evident that the Great One of the Pythagoreans is equivalant to Plato's Form or Idea, the Archetype. We cannot mix up this Great One, *Mahat*, of the Pythagoreans, with "the One" of Plato, which is the Absolute ONE, *Purūsha*. Hence, Aristotle was right in substituting the "duality of the great-and-small" for the "unlimited", and not the Absolute ONE for the Great One.

(2) Forms, according to Aristotle's exposition of Plato, are called Numbers, whereas the Pythagoreans "had said

that things are numbers."[1] These two terms, Forms, and Numbers, we know, are of Pythagorean origin, although both philosophers had drawn, for their main guidance, on the Sankhya cosmogony. The Pythagoreans regarded Form or Number as "the ultimate principle of things," and this primal stuff is *Mahat*, the Great One on top of the cosmic series on the material plane. When the Pythagoreans say, therefore, that things are numbers, they do not contradict Plato; they simply leave out the description of *tanmātras*, the "mathematicals" of Plato, that are responsible for converting the primal stuff into things, just as we do not always refer to electrons and protons when we define matter as consisting of atoms.

Plato's indebtedness to Indian philosophy is profound. None can deny that his doctrine reveals a remarkable grasp of the Indian systems. Should we say that all this concordance happened by accident ? One needs to have an explanation. Madame Blavatsky's excerpt cited in this connection, is a clue. It is not only her exceptional mystic intuition that spot-lights Indian influence in Hellenic writers. Numerous Oriental scholars bear her out. For example, Colebrooke, Royle, Pococke, Hoernle, Wise, Jolly, Enfield, Garrison, Sir William Jones, Rawlinson, etc. Some of them, e.g., Pococke, go even to the length of saying that Greek civilization, not excepting her language, is a local variation of Indian culture taken to Greece by early colonists from India. Princep is recorded to have observed that "the oldest Greek was nothing more than Sanskrit turned topsy-turvy."

---

[1] Cf: "In the Sankhya doctrine, the atomic structure is ordinarily accepted."—Dr. B.N.Seal. [The supra-cosmic *akāśa*, however, is not atomic, but is constituted of "infinitesimal Reals" derived from Prakriti.]

Wise, In his review of the "Commentary on the Hindu System of Medicine, "writes in the *Lancet*: "None but those who are acquainted with the language of the East, can form any idea of the East, can form any idea of the surprising knowledge of this ancient people, anterior to that of the Greeks or Egyptians. Their geometry, arithmetic and astronomy surpassed that of Ptolemy; their music, that of Pythagoras; their mechanics, that of Archimedes; their theology, that of Plato; and their logic, that of Aristotle."

Enfeld points out that "India was visited by Pythagoras, Anaxardes, Pyrrho, and others who afterwards became eminent philosophers in Greece."

It was an astounding discovery to Taylor that 'Hindoosthan' possessed" a philosophy, compared with which, in points of age, the lessons of Pythagoras are but of yesterday, and in point of daring speculation, Plato's boldest efforts were tame and commonplace.'

Sir William Jones is at one with Blavatsky to think that "it is impossible to read the Vedanta or the many fine compositions in illustration of it, without believing that Pythagoras and Plato derived their sublime theories from the same fountain with the Indian Sages."

Prof. Radhakrishnan observes that "in the mystic cults of Pythagoras and Plato we have a different conception which is admited by students of Greek literature to be un-Hellenic in character. What is the origin of this un-Greek mystical tradition which cuts across the main rationalistic spirit of Greek thought? Tradition and expert knowledge of today agree that we discover in it the influence of India".

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

Prof. Macdonell is forthright in drawing out the inevitable conclusion : "Turning to philosophical literature, we find that the early Greek and Indian philosophers have many points in common. Some of the leading doctrines of the Eclectics, that God and the universe are one, that everything existing in multiplicity has a reality, that thinking and being are identical, are all to be found in the philosophy of the Upanishads and the Vedanta system, which is its outcome. Again, the doctrine of Empedocles, that nothing can arise which has not existed before, and that nothing existing can be annihilated, has its exact parallel in the characteristic doctrine of the Sankhya system about the eternity and indestructibility of matter. According to Greek tradition, Thales, Empedocles, Anaxagoras, Democritus, and others undertook journeys to Oriental countries in order to study philosophy. Hence there is at least the historical possibility of the Greeks having been influenced by Indian thought through Persia."

"Whatever may be the truth in the cases just mentioned, the dependence of Pythagoras on Indian philosophy and science certainly seems to have a high degree of probability. Almost all the doctrines ascribed to him, religious, philosophical, mathematical, were known in India in the sixth century B. C. The coincidences are so numerous that cumulative force becomes considerable. The transmigration theory, the assumption of five elements, the Pythagorean theory in geometry, the prohibition as to eating beans, the religio-philosophical character of the Pythagorean fraternity, and the mystical speculation of the Pythagorean school, all have their close parallels in ancient India. The doctrine of metempsychosis in the case of Pythagoras appears without any connection or explanatory background, and was regarded by the Greeks as of foreign origin. He could not have derived it from Egypt, as it was not known to the ancient Egyptians. Inspite, however, of the later tradition, it seems impossible that Pythagoras should have made his way to India at so early a date, but he could quite well have met Indians in Persia.[1]

It seems surprising that prof. Macdonell does not notice any very great Indian influence on Plato as he does in the case of Pythagoras. Yet, Plato alone, of all the ancient philosophers in Greece, seems to have imbibed India's profound wisdom, at a time and to an extent, nearly incredible to us of today. And this could perhaps be only if he had drunk at the source, sitting at the feet of the Indian Sages. In ancient India, Vedic learning was to be acquired from the lips of the *guru*. The sacred wisdom was not a thing of commerce to be bought at a price. Only a distorted version could be learned from secondary sources, just as non-Christians could self-teach the Bible in an un-Christian way. We see no reason why we should not believe that Plato found his way to India. Macdonell, however, points out that "the Neo-Platonist philosophy may have been influenced by the Sankhya system." It is hardly any reason to suppose that Plato's followers would go out of their way to the Sankhyas, if Plato himself had nothing to do with them. They could as well have turned to Confucianism.

The distance, both in time and space, stands in the way of Macdonell's belief as to the possibility of so long a journey having been undertaken by Pythagoras. We forget that those were the days of foot-slogging over long distances.

---

[1] **"A History of Sanskrit Literature", Prof. Arthur A. Macdonell, M. A. Ph. D.**

Digitized by Sarayu Sangeeth and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

And it was only 21 years after Plato's death that Alexander's army of 120,000 infantry and 30,000 cavalry crossed the borders of India in 326 B. C. Plato was famous for his athletic built; and keen as an army man, he certainly could, for his love of wisdom and philosophy, have embarked on such a journey, and his extensive travels are a thing to reckon with. Authorities are not certain as to where he went. Neverthless, tradition has it that his travels took him, among other places, to Egypt, Sicily, Italy, Judea, and India. "Twelve years he wandered, imbibing wisdom from every source, sitting at every shrine, testing every creed. Some would have it that he went to Judea and was moulded for a while by the tradition of the almost socialistic prophets; and even that he found his way to the banks of the Ganges, and learned the mystic meditations of the Hindus."[1]

---

[1] Will Durant : "The Story of Philosophy."

Religion in the New Age

MARK HALPERN

We have come to the challenging hour in the history of the human race when we can no longer accept values in social life or any religious beliefs merely because they have been adhered to for centuries. Nor is it well for us impulsively to embrace new values and beliefs merely because they happen to be new. Only if they are found to be, after thoughtful and deliberate examination, vitally alive with the dynamic power of spiritual significance, should they be given our whole-hearted and serious consideration.

However, if the values and beliefs are crystallized with separative materialistic concepts, being as completely devoid of radiant life as are white sepulchpes, they should be ignored. Thus, only through lack of attention, they will disintegrate and finally disappear as obstacles to human beings on the path of spiritual progress, without which all other kinds of progress are nothing but empty ironic mockeries beguiling man from the true path of his high destiny.

Regardless of how we may try to theorize intellectually to the contrary, it is for spiritual progress alone that we are here on this earth. For here it is that the raw resistance of the pairs of opposites affords us the opportunities we need for strengthening our characters and deepening our insight, in order to rise above all our mortal weaknesses and erroneous concepts to the high attainment of full Enlightenment.

We take nothing with us when we depart from this hectic scene of human existence except whatever degree of the distilled essence of all the experiences we have garnered here in the pathetically brief moment of mortal life. This essence in turn, is assimilated by our True Eternal Center as Dynamic Wisdom to be fused with the Pristine Purity and Blissfull Awareness of its godly heritage as an eternal focal point of Undying Divine Energy.

Therefore, it should be evident that just one fleeting little lifetime, which is abruptly cut even shorter in many instances in youth or childhood or in infancy, is far from being adequate to supply the necessary comprehensive teachings and great variety of numerous testing experiences required for bringing about Conscious Wakefulness of Unconditioned Being and Oneness with the Absolute. And so there are repeated returns or re-incarnations in this School of Life here on earth. Now it so happens that Re-incarnation, together with Karma or the Universal Law of Cause and Effect, has been taught for milleniums in the East. Are we on that account, simply because of its great antiquity, to judge it as being a crystallzed belief and one that is not suited to these modern times ? Will religion in this dawning New Age, cast it aside as being the worthless outworn rags of benighted thinking ?

Far from it ! Reincarnation, together with the Law of Cause and Effect, will be a salient feature of the New-Age Religion on account of its unfailing powerful encouragement of Hope and Self-Reliance. When one realizes at the close of life, regardless of all the misfortunes that may have been inflicted on self and others because of errors or ignorance, that there will be opportunities to make amends by growing in compassionate understanding and wisdom through learning in other days to come in the School of Life the lessons that must be learned, there is sure to be hope instead of despair. Likewise, when one realizes that all that man suffers or rejoices in, all his misery as well as all his happiness, his noble qualities as well as his ignoble, are caused and developed by **himself** alone, he will then learn to rely on **himself** and go on to become a liberated Light in the world and a blessing to all humanity.

True, in the Absolute, beyond the relative aspect of man as an apparently separated being, man does not **really** incarnate here on earth in a physical vesture. He abides constantly in the Eternal Oneness of all Life. It is only an exceedingly minute degree of his consciousness that is seemingly projected into the lower and denser world of the pairs of opposites.

If it be asked why Reincarnation and the Law of Karma or Cause and Effect be an important part of the New-Age Religion, we should also ask ourselves why should there be religion at all ? Surely religion, as *it* is popularly regarded in its formal, organized and sectarian sense, has not a great deal to be proud of in its bloody record throughout the centuries. After so many centuries of various kinds of religions—bearing in mind that religion, if it is to be true to its name, should above all minister to the peace of the world and the human heart, teaching and **practicing** goodwill to one's fellowmen and loving gratitude to God for life and the opportunity so to live as to glorify God—after thousands of years of the various organized religions, what did we have to show for religious teachings in the first half of this modern "enlightened and civilized" century ?

Two global wars, with their inhuman internecine mass destructions of nations and races; with such bestial horrors in concentration and prison camps as are best left undescribed—if, indeed, it were possible that their monstrous demoniac atrocities could be adequately and graphically described within the limitations of human language.

Moreover, what are we to say regarding progress in Universal Brotherhood, with peace and goodwill among men, when we think of religious leaders in the different nations that were engaged in those two World Wars, praying with their followers that God, **the One father of all**, grant their **own** particular nations victory in the coming battles; a victory that would entail the additional slaughter of great numbers of their own brothers of the One Human Family! And, the very extreme of human hypocrisy, continuing to pray for such victories notwithstanding the fact that one of the Ten Commandements explicitly states, without the slightest equivocation, "THOU SHALT NOT KILL!"

What are we to say regarding all the massacres, tortures, burnings, inquisitions, pillagings and persecution perpetrated in the past in the holy name of religion!

These are rhetorical questions, so we use the exclamation point realizing that it would be difficult for any human being who feels a Oneness with all life, to find suitable words for comment on such unbelievable inhuman behavior displayed by man, who contains the spark of divinity within himself.

However, if words must be used, there is only one word to explain it all: IGNORANCE!

No man or group of men, no people, nation or race, can be said to be willfully and malevolently cruel or evil.

Human beings are all motivated and act from whatever degree of enlightenment they may happen to possess at the time or from a lack of it. Each feels that what he wants or does—or what he advocates or supports—is what is best and will give him the most happiness.

But there is quite a difference between what an enlightened person deems best and what a benighted one so considers. No enlightened individual has any thought of separativeness. Accordingly, he wants only what is good, uplifting, harmonious, true, peaceful, edifying and beneficial for all. And this enlightened understanding can be known only after the necessary expansion of consciousness and a deepening of spiritual insight gained in learning the lessons provided by the testing experiences encountered in repeated lives here on earth. Notwithstanding the fact that the illumined Awakening into the wondrous Awareness of the Unconditioned Absolute is in itself intantaneous; nevertheless, prior to the moment of awakening from the delirious nightmarish dream of mortal existence, there has been, whether consciously realized or not, an extensive background of many lives of preparation for that most significant Occurrence in human experience when the dualistic subject-object relationship is finally and irrevocably transcended. Obviously so vast a background must outweigh considerably the present momentary flash of earthly life in accounting for the qualities and potentialities of individual character. But Occidental thought lightly dismisses all this, while it attempts in devious superficial ways to explain the anomaly of genius and the extremely marked divergencies in the characters of individuals who are the offspring of identical parents and ancestors, and have been reared in the same environment, educated in the same schools and received the same impartial love of an understanding mother and father.

This brings us to the Religion of the New Age. The formalized and organized religions of dogma and crystallized creedal concepts have played their part on the stage of human existence. They deserve due credit for whatever good they have done. It cannot be denied that they brought comfort to many and endeavored to raise the consciousness of the masses from the grossest of merely physical and materialistic preoccupations, to an inadequate but temporarily satisfying concept of a heaven of future rewards for an earthly life of misery and the good deeds accomplished therein. But the Religion of the New Age affirms that the only heaven and hell, taken in their real sense, exist nowhere but in one's individual consciousness; and that man must not expect rewards for any good he does—the doing of good, without any attachment or personal desire, is its own highest reward. For the Religion of the New Age is not merely another aspect of prevalent earthly bargaining and shopkeeping. It is the very spirit of Life itself......

And so with all the other crystallized and creedalized concepts of sectarian religions. They are to go ! For they are powerless to deal with and offset the unrestrained accelerated advance of our smugly self-sufficient modern science, which is now dangerously ahead of the spiritual progress of the human race as a whole. The progeny of man's intellectual brilliance, the hydrogen bombs and space rockets is not the answer to man's real problems. Man is here on this earth for nought else but his Spiritual Enlightenment. When he once awakens into the Constant Awareness of his Unconditioned Being in the Absolute, he has no further need for schooling on Earth; and thus, he is no longer subject to Reincarnation and the Law of Cause and Effect.

Therefore, the aim and purpose of the Religion of the New Age is to bring Enlightenment to increasing numbers of human beings. It is the Illumined Essence of Life itself, without dogma and without creeds, teaching the Truth of Universal Oneness; and that each person is the High Priest at the altar of his own heart, in the Holy Temple of his True Eternal Unconditioned Being in the Absolute......

Replies to Questions from our Readers

(*1*) *Question* : God is described and defined as 'Sat Chit Ananda', Truth, Consciousness and Bliss solidified–plus 'Shakti'—Power or Energy. It may please be described in its said three fundamental aspects with its implications for the understanding of a layman reader.

Reply : The Essence of the Supreme Divinity cannot really be expressed in terms of human thought and language. The nearest approach to such an expression is what we find in the Upanishadic literature e. g. *Sat*–Being, *Chit*–Consciousness and *Ananda*–Bliss or Fulness. It is possessed of an Infinite Power—Power which is one with Its Essence. It is the Power which marks Its Playful Nature (*Līlā*) of Self-Delight, consisting in Self-Concealment from and in Self-Revelation to Its own Self. It represents the basic Unity of the Static and the Dyanamic by virtue of which the Undifferentiated One eternally reveals Itself as the *Many* and *Many* holds within Itself the One—not a shadow of the One, but verily the One Itself. As Transcendental it is always beyond expression and yet, as Immanent it is always the same One in every form of its multiple expression. It is self-contained as *Akṣara* (Immutable) and yet it burts forth as *Kṣara* (Mutable) : in fact it is the synthesis, so to speak, of the two contradictory aspects—being at the same time aspectless and beyond all relations in Its absolute fundamental Integrity.

* * *

(2) *Question* : When God is some eternal abstract entity, how do prayers and meditations of the common man reach Him, attracting His attention and relief given by Him ?

Reply : There is only One. He is transcendent as well as immanent. The Supreme Reality is unthinkable, indescribable, formless, attributeless. Yet at the same time the One is also with name and form. He pervades everything, there is nothing outside of Him. He resides in the heart of every man. Whatever happens, happens within His all-embracing consciousness. Therefore prayers and meditatians call forth their due response.

* * *

(3) *Question* : When God has been described as abstract reality, how is it that prayers are offered and accepted before stone idols, deities, particularly when even offered before stone lingams or phallus ? What is the special significance of offering prayers before stone Lingams ?

Reply : There are two schools of thought. Those who describe God as abstract reality do not offer prayers before stone idols, deities, etc. Their approach is by rejecting one thing after another as unreal, by stilling the activities of the senses and the mind.

The other school of thought worships God as the Creator, Preserver, Destroyer of the universe. It holds that He can be reached by the worship of any of His Divine aspects. Prayers are not offered to the images or idols, but to the particular Divine Powers of which they are representations or symbols. The ritual called "*Prāṇa Pratishtha*" (instilling of life) forms the most important part of the consecration of an image or idol. By this ritual a living connection is established between the image and the Power it represents. The image thereby is transformed into a "*vigraha*", that is a living focus radiating blessing and responding to worship.

Although the two lines of approach are entirely different, yet they ultimately lead to the same Goal, since the ONE who can be described as abstract reality is also the ONE who plays His eternal Play of creating, preserving and destroying universe after universe.

What is generally known as Siva Linga made of stone or any other substance, is in reality a symbolic representation of the combination of the two creative principles in nature, namely *Linga* and *Yoni*, *Puruṣa* and *Prākriti* or *Siva* and *Sakti*. These symbolize the positive and negative poles of creative activity, popularly conceived as Father and Mother of the universe. *Siva Linga* stands for the father and *Yoni Pitha* in which the Linga is imbedded, the mother side. Esoterically the *Pitha* or *Yoni* as such symbolizes the reflecting medium and the *Linga* reflected therein stands for the Light Divine or the Supreme *Jyoti*. It is out of the *Jyoti* that the entire creation proceeds. Beyond this Light or Linga is the Darkness of the Eternal Abyss—the Great Unmanifest.

* * *

(4) *Question* : What exactly is the significance of realization of self, its stages of progress and the practical commandments for a worldly person ?

Reply ; Every man and woman wants to be happy. Yet, what actually is human life ? Short spells of happiness and enjoyment that are constantly disturbed by troubles and sorrows of every kind: fear, anxiety, sickness, death, bereavement, fight, struggle, poverty, wars, famines, etc, etc. So long as man identifies himself with his mind and body and thinks of himself as an individual, apart from all other individuals and from God, he is the helpless toy of all these miseries.

In actual fact, there is only ONE. Man, like all other creatures is contained in that ONE, pervaded by Him. His true Self is divine, beyond body and mind. When he realizes his Self, which is *Satchidananda—Being* that is the root of existence, *Consciousness* that embraces and knows all, *Bliss* that is beyond the opposites of happiness and pain, he is then able to watch the suffering of the body as a spectator, without being affected by it. Realizing himself as the One who resides in all, he does not act as an individual and therefore creates no karma. He is thus liberated from the wheel of birth and death to which the individual is chained. For him there are no others, he looks on all beings as manifestations of the ONE. Consequently he knows no fear, no jealousy, no preference. He loves the criminal as much as the saint, is happy and at peace under all circumstances, desires nothing. All joy is his joy, all sorrow his own. It is a state that can neither be described in any language nor grasped by the mind. To realize the Self means to realize God and to realize God means to realize the Self.

We are told that of all creatures only the human being alone has been endowed with the capacity to know himself as what he really IS. It is therefore his duty and his calling to use this great privilege to the full. Life that has hitherto seemed senseless becomes full of meaning as soon as man aspires to his true Goal.

The first requirement is discrimination between what is real and what is comparatively unreal. Thereby the desire to pursue what is real will be awakened and at the same time the taste for worldly enjoyments and pursuits grow fainter and fainter. One will find no more pleasure in the things and the company that used to give one delight, and seek association with the holy and wise and with their followers. Instead of light literature, books of wisdom will become attractive; rather then going to cinemas and parties one will find interest in religious gatherings and talks on philosophy. One's attitude to one's fellow-beings has to undergo a change, one should try to look on them as fellow-pilgrims on the way to the supreme Goal of human existence.

In order to make headway on the path, a competent guide is necessary. As soon as the disciple is ready, the *Sadguru* will be found. Once man has satisfied himself that he is face to face with his true *Guru*, he must understand that God has come to him in the shape of the *Sadguru*. All that he has to do is to surrender himself to Him and carry out implicitly all his instructions and orders.

Mother Kali

SAROJ

Thou art Kali,
Gauri Thou art !
Thou art Śiva,
Śakti Thou art !

Thou art Love,
Fear Thou art !
Thou are Pity,
Tears Thou art !

Thou art man,
Woman Thou art !
Thou art lion,
Lotus Thou art !

Thou art body,
Soul Thou art !
Thou art life,
Death Thou art !

Thou art creation,
Destruction Thou art !
Thou art God,
Goddess Thou art !

Thou art mine,
'I' Thou art !
Thou art many,
One Thou art !

Matri Lila

(September 20th, 1964—January 31st, 1965).

From September 20th to December 16th Mataji remained in Vrindaban, except for two short visits to Delhi (Sept. 22nd—24th and Oct. 21st—27th). Soon after her arrival in Vrindaban on Sept. 24th a new room on the upper floor of Mataji's house was opened with due ceremony, puja and kirtan. Mataji offered the room to Sri Haribabaji, who however was still in Hoshiarpur at that time, arriving in Vrindaban on Oct.11th, the first day of Durga Puja. One of the Sannyasis of our Ashram had gone to Delhi to bring Sri Haribabaji directly to our Ashram. He was taken to his new room by Mataji before proceeding to the hall where Durga Puja was performed in the space between the two temples of Siva and Nitai-Gauranga.

The image of Durga was specially beautiful and alive. The artist from Lucknow had come to Vrindaban in person to give the finishing touches to his creation. For the whole of *Navaratri* (6th—16th Oct.) *Durga Saptah Shati* was recited daily in Gita Bhavan. The attendance during Durga Puja was enormous, many having come not only from Delhi, but from all over North India. Every evening the *Rāma Līlā* was enacted in the open air by a special party. The whole of Sri Rama's life was shown. Thousands flocked to watch those performances that ended with *Aratī* to Durga Ma, succeeded by Sri Haribabaji's daily Kirtan. On *Dasami* day (Oct. 16th) the traditional immersion of the image into the Jamuna took place.

On Oct. 20th Lakshmi Puja was celebrated and the next day Mataji motored to Delhi, taking with her Sri Muktibaba, an aged Sannyasi of our Ashram who had to undergo an operation. In Delhi Mataji enjoyed comparative quiet, since she had come without previous notice. Before returning to Vrindaban on Oct. 27th, she paid a visit to the patient at Dr. S. K. Sen's Nursing Home. We are happy to state that the Swami has since recovered.

In the spacious Ashram at Vrindaban Mataji used to give *darsana* sometimes in her room, sometimes walking up and down in the open space in front of her house, at other times in the hall. On Nov. 4th *Kali pūjā* was celebrated as usual during Divali night, Mataji remaining present throughout the function. On *Annakūt* day, over a hundred dishes were offered before the *Nārayan Shilā* and then distributed to all.

Now preparations for the 15th *Samyam Mahāvrata* that was observed from November 12th to 18th were carried out vigorously. Like similar functions this Samyam Vrata also had its unique note. Holy Vrindaban was no doubt specially suitable for such an occasion. Moreover, our hall there is large enough to hold 350 *vratis* plus visitors. The participants were housed in tents in the Ashram compound as well as in neighbouring *dharmaśālas*. A good number of prominent Mahatmas and Goswamis accepted invitations to deliver discourses that covered a greater variety of subjects than ever before. Apart from the lectures on Upanishads, Puranas and the significance of *Samyam*, the history of Vrindaban and its temples, Vaisnavism, the Ramāyana were dealt with. Swami Akhandanandaji, Swami Chetan Giri, Swami Sarananandaji were among the Mahatmas who blessed the assembly by their enlightening and stirring talks. Every evening Sri Haribabaji performed his kirtan followed by stories from the lives of bhaktas. Mataji sat in the hall for long hours, mornings, afternoons and evenings, even more than on former occasions. Once or twice she sang. It was an extremely busy and successful week, the rigours and hardships of which were borne with ease and pleasure by one and all. For the last few years already, two or three Westerners had joined into the *vratas* with great zeal and zest. This time the number of foreign participants shot up to 9, not counting visitors who came for a day or two. Besides the *vratis* hailing from U.S.A., France, Germany, Switzerland and Austria, Indians were present who had come from our Embassy in Moscow, others from South India and Ceylon. This *Samyam Vrata* may for the first time be called an international one. Mr. and Mrs. Desjardins had arrived from Paris by car, not only with their seven years old daughter, but also with their son aged barely four months. He is surely the youngest European who has ever had Mataji's *darśana*. Soon after he arrived Mataji said to her tiny friend : "Do you recognize me ?"

After the function Mataji remained in Vrindaban for another month. On the morning of Nov. 25th a Vaisnava sadhu from Ayodhya addressed the audience. On completing a discourse it is the custom to present a speaker with a small basket of fruit and other things. This time also such a basket was kept ready near Didi's seat. Suddenly, just as the speaker related that the monkeys were asked by Sri Ramachandra to return to their homes from Lanka, a huge monkey entered the hall by a side door, leapt across the rows of girls and women who sat in between, and as quick as lightning snatched three bananas from the basket and bolted outside. The speaker was delighted : Hanuman himself had taken his share of the fruit. Mataji remarked : "Usually in the course of Durga Puja, *bhoga* is once offered to Sri Rama. This year this had somehow been omitted. Now Hanuman himself has come to make up for it. He has taken three fruits, one each for Rama, Sita and Lakshman." Everyone thoroughly enjoyed this amusing interlude, wondering at the same time how the monkey could have detected the fruit as it seemed invisible from outside of the hall.

The same afternoon, one of our brahmacharis visited Govindaji's temple and there found that Sri Sitaramdas Omkarnathji had arrived in Vrindaban the same morning with his party and was due to leave for Delhi the next day. On hearing that Mataji was in Vrindaban, the Mahatma at once decided to come to our Ashram. His party sang Kirtan in our hall and Sri Sitaramdas Omkarnathji gave a talk in Bengali. Everyone was deeply moved by the radiant presence of this great saint.

One day a small locket was found just outside of Mataji's house. The opinions were divided as to whether the picture it contained was of Siva or Krishna. Mataji said : "When you find the owner bring him or her to me." The locket belonged to a servant girl named Ganga, aged about 10, who had come with a lady from Agra who was staying at the *Manav Seva Sangha* next door and daily used to come for Mataji's *darśana*. Ganga had been sad and cried because she had not been allowed to accompany her mistress. She was then permitted to go with her to the Ashram, but ordered to remain outside, from where she secretly peeped into the room, eager to catch a glimpse of Mataji. Thus, when taken into Mataji's room, she was naturally beside herself with joy, but felt extremely shy. Mataji talked to her very sweetly, calling her 'friend' and asking her a number of questions. "Have you studied anything ?" Mataji said. Ganga had to reply with : "No," to which Mataji exclaimed laughingly : "Then we are equals, this friend of yours has not studied anything either." Ganga's mistress later remarked that, although she did so much puja and tried her utmost to please Mataji, yet Mataji took no notice of her, while her illiterate servant girl had found favour in Mataji's eyes. Didi explained : "The person who makes preparations for the puja and scrubs the vessels also gets the fruit of the worship."

During Mataji's sojourn in Vrindaban the foundation stone was laid of a temple for Radha–Krishna near the hall. The opening ceremonies of two new houses in the Ashram grounds took place on the 9th and 14th December, the one built by Sri S. Dutt, I. C. S. (Rtd.) Secretary to the President of the Indian Republic, the other by the Maharani Satyaprem Kumari of Mysore. The latter contains a shrine dedicated to Sri Rama and is called "Rama Mandir."

One day Mataji visited the camp of Sri Prabhudatt Brahmachariji on the opposite bank of the Jamuna, where a mass gathering with Kirtan and religious discourses will continue for two months in spring. From December 7th to 15th a *Bhagavata Saptah* was held. The Saptah was followed by *Nama Yajña* performed by our Delhi Kirtan party. Mataji took active part in it and was in an ecstatic mood such as we had not observed in her for many years.

On December 17th Mataji alighted in Varanasi. She

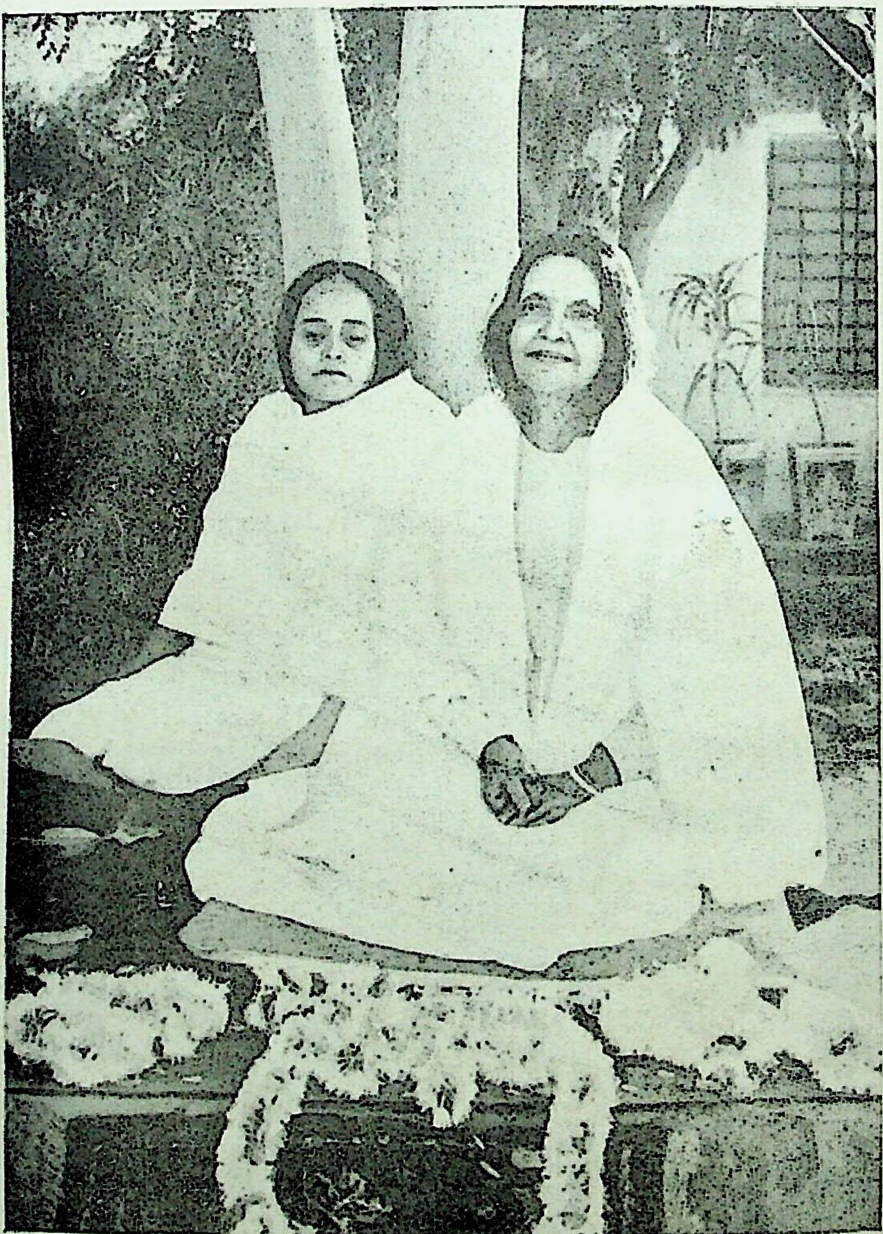

Late Juthika Guha (Buni) with Mataji at the Vrindaban Ashram.

had been expected to remain there for three days only. However, to the delight of the devotees of Varanasi, Mataji prolonged her stay up to Jaunary 31st, when she left for a small place in Bengal, called Giridanga, where a Siva temple is to be consecrated in her presence in the grounds of "Niramoy," the famous T.B. Sanatorium.

After a *Yajña* on December 18th, which marked the completion of 24 lakhs of *Gāyatrī* japa, performed by one of our Brahmacharis for the last two years, a quiet time followed. Mataji gave *darśana* twice daily, usually on one of the Ashram roofs that command inspiring views over the Ganges. At times Mataji would look remote, her winkless eyes gazing through everything, at—who can tell what? A hushed silence would then envelop the whole of the congregation, until Mataji would suddenly get up, smiling at everyone, distributing garlands and walking back to her room, seemingly her normal self again.

On January 14th, Sankranti was celebrated by Kirtaṇ and a feast given to all present. That morning the foundation stone was laid of the charitable hospital which the Anandamayee Sangha intends to build on a plot acquired for this purpose near the Ashram. The next day two new halls, one of them underground, were inaugurated with due ceremony, *havan*, Kirtan and the recitation of the Durga Saptah Shati. Mataji remained present practically the whole day.

On January 18th Mataji motored to Allahabad, where she stayed for 3 nights at the Ashram of late Sri Gopal Thakur.

* * *

It is with deep regret that we report about the passing away of two very prominent devotees of many years standing, namely Ṣrimati B.L. Jaspal, named 'Maharattan' by Ma, on October 16th in a Delhi hospital and Kumari Juthika Guha, known as 'Buni', on November 27th in Vrindaban Ashram itself. Both of them were unique in their profound love and veneration for Mataji.

Maharattan met Mataji in 1934 in Dehradun and felt at once irresistibly drawn to her. She was one of the first Punjabis that made contact with Ma and subsequently took initiation from Bhaiji. Although the mother of several children she managed to go to Mataji at all times, no matter where Ma was. Soon she lost all her attachment to her family who also became devoted to Ma. Her one aim in life was to spend every moment in Ma's blissful and uplifting presence. After the death of her husband she travelled almost constantly with Mataji. In spite of her ailing body, she never tired of sitting near Mataji and gazing at her in adoration, her hands ever busy wlth her *japa mālā* (rosary). During the last few years, however, her failing health would prevent her from seeing Mataji except rarely. When Mataji visited Delhi in September, she expressed the desire to be in Vrindaban for the Durga Puja. In between she had to undergo an operation. Mataji sent one of her daughters who is a Brahmacharini of our Ashram to attend to her sick mother. "Bring her here !" said Mataji. But the patient's condition deteriorated and only after she passed away on Vijaya Dasami day at the age of 67, her lifeless body was taken to Vrindaban by her children. Mataji passed her hands over the body from head to foot, calling loudly three times. "Maharattan, Maharattan !" before it was taken to the banks of the Jamuna to be given over to the flames.

Buni was one of the foremost Brahmacharinis of our Ashram, well-known and loved by all. Already in her childhood she had been taken for Mataji's *darśana* by her grandparents who lived in Dacca. Later, when Mataji travelled to Calcutta, Buni's whole family became greatly devoted to Mataji. At the age of 17 or 18, about 28 or 29 years ago, Buni left her home to give her life to Mataji's service. Urged by an irresistible inner call she left her parents, decided to abjure all that the world holds good and fine and surrender herself at Mataji's feet.

In spite of her physical condition she succeeded in serving not only Mataji, but all who came to the Ashram. She was gifted with rare initiative and capacity for organization. Her departure has left a permanent gap in the Ashram and in the hearts of all who are close to Mataji. Everyone has reason to feel grateful to her for some kindness or other.

For the last so many years she suffered from heart trouble and medical science could not explain how she kept alive, since her heart and lungs hardly functioned at all. It can truly be said that she lived solely by Mataji's grace and by her deep love for her. Several times Mataji literally snatched her from the clutches of death.

On November 26th she was suffering acutely. Mataji remained in the patient's room from 5-30—11-30 p. m. Buni, as so often lately, expressed a desire to leave her body that had become a burden to herself and others. Mataji noticed that the *prāna* was tending upwards. The next morning before 10 Buni breathed her last. Mataji was called and sat by the deceased while the whole of the Bhagavad Gita was recited by a group of Ashramites in the adjoining room. This was followed by Kirtan that continued until about 2 p. m. when the procession started for the burning-ghat. The dead body was laid on a bier and completely covered with garlands of fresh flowers. Only the face was visible. It showed a deep calm and peace, not a trace of the suffering she had gone through in the preceding night was left. Group photos were taken of the deceased with Didima, Didi and all the Sannyasis and Brahmacharinis of the Ashram. In Buni's room the reading of the whole Ramayana was started by the Ashramites the next day, followed by a feast given to Brahmins and Kumaris in her honour the day after. Mataji requested the Brahmacharinis to observe silence for three days in Buni's memory and perform all Kirtan and prayers in her room during the following week.

× × ×

Mataji is expected to reach Rajgir on February 5th and remain there over *Sivaratri* (March 1st). A new shrine for Siva is to be consecrated in our Rajgir Ashram on this occasion. For *Holi*, 17th March, Mataji has accepted an invitation to Hoshiarpur by Sri Haribabaji. Didima's *Sannyasa Utsava* is to be celebrated on April 13th in the Varanasi Ashram and Mataji's birthday in the Ranchi Ashram from May 2nd.

BRANCH-CENTRES

OF

SHREE SHREE ANANDAMAYEE SANGHA

1. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Bhadaini, Varanasi, U.P. (Phone 2791)

2. Shree Shree Ma Anandamayee Kanyapeeth,
Bhadaini, Varanasi, U. P.

3. Anandamayee Karuna, Bhadaini, Varanasi, U.P.

4. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram, Vrindaban, U. P.

5. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Ashtabhuja Hill, Vindyachal, U. P.

6. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Kishenpur, P.O. Rajpur, Dehradun, U.P.

7. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Kalyanvan, 176, Rajpur Road, Dehradun, U.P.

8. Shree Shree Ma Anandamayee Sadhan Ashram
47/A Jakhan, Dehradun, U.P.

9. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
P. O. Raipur, Dehradun, U. P.

10. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
P. O. Uttar Kashi, U. P.

11. Shree Shree Ma Anandamayee Vidyapeeth,
Patal Devi, Almora, U. P.

12. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Chandralok, Kalkaji, New Delhi—19 (Phone 72478)

13. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram.
Agarpara, P. O. Kamarhati,
24-Parganas, W. Bengal,
(Phone—Panihati 328)

14. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Tarapith, P. O. Popra Sahapur,
Birbhum, West Bengal

15. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
P. O. Rajgir, Patna, Behar

16. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Main Road, Ranchi, Behar

17. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Swargadwar, Puri, Orissa

18. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Bhimpura, P. O. Chandod, Baroda, Gujarat

19. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Ganesh Khind Road, I. C. S. Colony, Poona-7

20. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
P. O. Ramna, Dacca, East Pakistan

21. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Siddheshwari, P. O. Ramna, Dacca, East Pakistan

ĀNANDA VĀRTĀ

YEARLY INDEX

Vol. XII **May 1964—February 1965** **No. 1, 2, 3, 4**

1. मातृ-वाणी 1, 53, 103, 151
2. त्रयोदश संयम महाव्रत—सत्सङ्गी ... 2,
3. क्या मृत्यु के बाद व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है ?—
डॉ० बी० एल० आत्रेय एम० ए०, डी० लिट०,
पद्मभूषण, दर्शनाचार्य 14
4. श्री श्री माँ आनन्दमयी प्रसंग—श्री अमूल्य कुमार
दत्तगुप्त, एम० ए०, बी० एल० 20, 153
5. कैलास-मानसरोवर प्रदक्षिणा—श्री 'दत्त' ... 27, 94, 126, 183
6. योगसाधना में अभ्यास तथा वैराग—
डॉ० शान्तिप्रकाश आत्रेय, एम०ए०, पी०एच० डी० 36
7. पुरातन स्मृति—स्वामी नारायणानन्द तीर्थ ... 47
8. डायरी के कुछ पृष्ठ—गुरुप्रिया देवी ... 55, 105, 190
9. महातपा के आश्रम में—ब्रह्मचारी निर्मलानन्द 61
10. अष्टांग योग—डॉ० श्री शान्तिप्रकाश आत्रेय
एम० ए०, पी० एच० डी० 72
11. मातृ-सत्संग—स्वामी भागवतानन्द गिरि ... 80, 144, 175
12. नारदीया भक्ति—
अध्यापक डॉ० नगेन्द्रनाथ उपाध्याय, एम० ए० 112
13. अल्मोड़े में मातृ-सत्संग 119
14. वेदान्त वार्ता—स्वामी नारायणानन्द तीर्थ ... 135, 196
15. क्रिया योग साधना का रहस्य—डॉ० शान्तिप्रसाद आत्रेय 161

——

ĀNANDA VĀRTĀ

YEARLY INDEX

Vol. XII May 1964—February 1965 No 1, 2, 3, 4

---

1. Matri Vani 1, 55, 105, 157
2. Pages from my Diary–Gurupriya Devi 3, 57, 108, 159
3. A Life in Zen—Takashi Hirata 12
4. Birthday Celebrations at Almora—Kali Prasad 21
5. The Mother's Call—Prof. Batuk Nath Shastri, M. A. 24
6. Modern Science and Indian Philosophy. Dr. B.L. Atreya M.A. D.Litt. 31, 77
7. Old Diary Leaves—Atmananda 42, 139
8. Matri Lila 46, 149, 200
9. Phonetics of Infinity—D.S. Mahalanobis 65
10. The Goal of Human life—Jainath Kaul, M. Sc. 90, 116
11. Brief Notes 100
12. An Appeal 104
13. Is Life Worth While ?—Mark Halpern 124

YEARLY INDEX (Continued)

14. The Name is God—Swami Ramdas 126

15. Space and Time D. S. Mahalanobis 129

16. Viraha Mala—Gauridasi 137

17. A New Light on Plato
D. S. Mahalanobis 174

18. Religion in the New Age—Mark Halpern 187

19. Replies to Questions from our Readers 194

20. Mother Kali—Saroj 199

नया प्रकाशन

श्री श्री माँ आनन्दमयी

सप्तम भाग

लेखिका : ब्रह्मचारिणी गुरुप्रिया

मातृरूपा पूर्णब्रह्म नारायणी श्री श्री माँ सन्तानों के कल्याण के लिए देश-देशान्तरों में घुम-घुमकर भिक्षा माँग रही हैं—"तुम सब सत् हो जाओ, मेरे ऊपर दया करो।" श्री श्री माँ की अविराम जीवन-धारा का इतिहास, हरिद्वार में श्री भोलानाथजी के महाप्रयाण के बाद श्रीमुख निःस्रित विविध बातें तथा भारत के विभिन्न स्थानों में भ्रमण-लीला और अमूल्य आध्यात्मिक प्रसङ्गों का प्रवाह लेकर इस भाग की रचना हुई है।

ज्येष्ठ, १३४५—कार्तिक, १३४५]

[मूल्य—२·५० पैसा

प्रकाशक : श्री श्री आनन्दमयी संघ, भदैनी, वाराणसी।

Registered with the Registrar of Newspapers for India under No. RN. 47[illegible]/57

SHREE SHREE ANANDAMAYEE SANGHA

LIST OF PUBLICATIONS

Hindi

Mātri Darshan—"Bhaiji"	2-5
Sad Vāni „	1-0
Sri Sri Ma Anandamayi—Gurupriya Devi :—	
Vol. I to VII	16
Ma Anandamayi—Dr Pannalal	2.
Ma Anandamayi Upadeshamrita Sangraha	(Out of pri
Akhanda Mahāyajña—Gurupriya Devi	2.
Kirtan Rasa Swarūpa	6-
Sankirtan, Stav, Aratī	0-

Bengali

Mātri Darshan—"Bhaiji"	2-0
Sad Vāni „	1-0
Mātri Vāni	0.7
Sri Sri Ma Anandamayi—Gurupriya Devi :—	
Vol. I–XII	29-0
Ma Anandamayi Upadeshamrita Sangraha	1-5
Akhanda Mahāyajña „ „	2-
Kirtan Rasa Swarūpa	6 0
Suno Bali Maer Kotha—Sailesh Brahmachari	1 2
Mātri Lila Sankirtan	0-3
Anandamayi Ma—Ganga Samiran	2.5
Namavali— „	0

Gujarati

Mātri Darshan—"Bhaiji"	1-5
Ma Anandamayee Ke Sannidhyame, Part I & II—Br. Kantibhai	2-0
Amrit Vani—Br. Dattatreyanand	2-0

English

Mother As Revealed to Me—"Bhaiji"	4.
Mātri Vāni (Sayings)	1-50, Special edition 2-5
Words of Sri Anandamayi Ma	3-00, Special edition 5-0

Photos etc.

Album of Mother's pictures	1-5
Photos—various sizes	0-40 to 15-0
Lockets	1-2